इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BHDE - 141
अस्मितामूलक विमर्श और हिंदी साहित्य

खंड-1
विमर्शों की सैद्धांतिकी और व्यावहारिकी (भाग 1) 5

खंड-2
विमर्शों की सैद्धांतिकी और व्यावहारिकी (भाग 2) 173

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. शिवनाराण सिंह
हिंदी विभाग, श्री अरविन्द, महिला कॉलेज, पटना

प्रो. दुर्गा प्रसाद गुप्त
हिंदी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली

प्रो. गोविन्द प्रसाद
भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रो. संजीव दूबे
हिंदी विभाग, गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर

संकाय सदस्य

प्रो. सत्यकाम

प्रो. शत्रुघ्न कुमार

प्रो. स्मिता चतुर्वेदी

प्रो. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम संयोजक

प्रो. शत्रुघ्न कुमार एवं डॉ रीता सिन्हा
हिंदी संकाय मानविकी विद्यापीठ,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली

खंड संयोजन, संशोधन एवं संपादन

प्रो. शत्रुघ्न कुमार एवं डॉ रीता सिन्हा
हिंदी सकाय मानविकी विद्यापीठ,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

इकाई लेखक	इकाई
डॉ. रामचन्द्र	1
डॉ. रेखा कुर्रे	2
डॉ. गंगाधर सहाय मीणा	3 एवं 5
डॉ. गंगाधर एस. चाटे	4 एवं 6
डॉ. नंद किशोर	7
डॉ. रेखा कुर्रे	8 एवं 9
डॉ. गंगाधर एस. चाटे	10
डॉ मंजु मुकुल	11 एवं 12

संपादन सहयोग

डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय
परामर्शदाता, हिंदी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव
एम.पी.डी.डी. इग्नू, नई दिल्ली

दिसम्बर, 2021

© इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2021

ISBN :

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, सां. नि. एवं वि. प्रभाग द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : आकाशदीप प्रिंटर्स, 20–अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002

मुद्रक :

पाठयक्रम परिचय

अस्मिता मूलक विमर्श के सैद्धातिक और व्यावहारिक अध्ययन पर आधारित यह पाठ्यक्रम 4 क्रेडिट का है, जिसे दो खंडों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक खंड में 6–6 इकाइयाँ रखी गई हैं।

यह बी.ए. ऑनर्स हिंदी के लिए इलेक्टिव कोर्स है। इस कोर्स में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श संबंधी सैद्धांतिकी और व्यावहारिकी का विस्तृत विवेचन है। सैद्धांतिकी में विचारकों और चिन्तकों की (भारतीय और पाश्चात्य) विभिन्न विमर्श संबंधी अवधारणाओं का विश्लेषण है। विमर्श को भी व्याख्यायित किया गया है। परिभाषाओं के माध्यम से भी विभिन्न विमर्शों की प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया गया है। व्यावहारिकी में निबंध, कविताएँ, कहानी, आत्मकथा और उपन्यास विधाएँ रखी गई हैं और उनके माध्यम से स्त्री, दलित और आदिवासियों की अस्मिता संबंधी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक विडंबनाओं का बारीकी से विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। प्रत्येक इकाई में पाठ के विश्लेषण, उनकी अंतर्वस्तु, उनके मूल्यांकन के साथ व्याख्या, बोध प्रश्न, उनके उत्तर और अभ्यास के साथ उपयोगी पुस्तकें भी दी गई हैं ताकि छात्र लाभान्वित हो सकें।

इस पाठ्यक्रम में निबंध, कविता, कहानी, उपन्यास और आत्मकथा जैसी विधाओं के माध्यम से अस्मितामूलक विमर्श को समझाया गया है। पाठ का वाचन भी यहाँ उपलब्ध है। पाठ के कठिन शब्द भी दिए गये हैं।

पाठ का परिचय इस प्रकार है :

निबंध :'दलित चिंतन का विकासः अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' (डॉ. धर्मवीर भारती), 'स्त्री के अर्थ स्वातंत्र्य का प्रश्न' (महादेवी वर्मा)

उपन्यास : 'घूणी तपे तीर' (गंगा सहाय मीणा)

कहानी : 'व्यक्तित्व की भूख' (सुमित्रा कुमारी सिन्हा), 'सलाम' (ओमप्रकाश वाल्मीकि)

कविताएँ : 'सीमा रेखा' (कीर्ति चौधरी), 'सात भाइयों के बीच चंपा' (कात्यायनी), 'बेजगह' (अनामिका), 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' (निर्मला पुतुल), 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' (अछूतानंद), 'सोनवां के पिंजरा' (माता प्रसाद), 'श्रम की रेखाएँ' (कुसुम वियोगी)

आत्मकथा : 'मुर्दहिया', 'अन्या से अनन्या तक'

पाठ्यक्रम संबंधी सभी इकाइयाँ विभिन्न विद्वानों से लिखवाई गई हैं। पाठ्यक्रम से संबंधित सामग्री दो खंडों में उपलब्ध हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BHDE - 141

अस्मितामूलक विमर्श और हिंदी साहित्य

खंड-1

विमर्शों की सैद्धांतिकी और व्यावहारिकी (भाग 1)

इकाई 1
दलित विमर्श : अवधारणा और आन्दोलन **11**

इकाई 2
स्त्री विमर्श : अवधारणा और मुक्ति आंदोलन
(पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ) **56**

इकाई 3
आदिवासी विमर्श : अवधारणा और आंदोलन **91**

इकाई 4
सलाम (ओमप्रकाश वाल्मीकि) : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **110**

इकाई 5
धूणी तपे तीर : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **130**

इकाई 6
व्यक्तित्व की भूख (सुमित्रा कुमारी सिन्हा) : अंतर्वस्तु
और मूल्यांकन **145**

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खंड 1 का परिचय

प्रस्तुत खंड पाठ्यक्रम का पहला खंड है। इस खंड में कुल 6 इकाइयाँ हैं।

इकाई 1 में दलित विमर्श की अवधारणा का विवेचन करके दलित आंदोलन के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इस संदर्भ में ज्योतिबा फुले, आंबेडकर, लोहिया आदि विचारकों के विचारों का विश्लेषण करके यह दर्शाया गया है कि दलितों की दयनीय स्थितियों के लिए जिम्मेदार तत्व और कारण क्या—क्या हैं। साथ ही इस इकाई में दलित विमर्श के महत्त्व और उद्देश्य से भी परिचित कराया गया है।

इकाई 2 में 'स्त्री विमर्श और मुक्ति आंदोलन' (पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ) से संबंधित कई महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार किया गया है। इस इकाई में स्त्री विमर्श और मुक्ति आंदोलन के उद्देश्य, स्त्री विमर्श की अवधारणा, पाश्चात्य संदर्भ, भारतीय संदर्भ, स्त्री मुक्ति आंदोलन और समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श संबंधी विचारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। साथ ही स्त्री विमर्श का अर्थ, इसकी अवधारणा, स्त्री विमर्श की परिभाषा एवं स्त्री विचारों का भी विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

इकाई 3 में 'आदिवासी विमर्शः अवधारणा और आंदोलन' संबंधी विस्तृत विवेचन है। इस इकाई के अंतर्गत पाठ का उद्देश्य, अस्मितामूलक विमर्श में आदिवासी साहित्य की अवधारणाओं, आदिवासी चिंतकों के दृष्टिकोण, आदिवासी विमर्श की परंपरा, पुरखा साहित्य, आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य की परंपराओं, समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन, आदिवासी साहित्य की प्रवृत्तियों, आदिवासी साहित्य की भाषा और शिल्प, आदिवासी साहित्य की वैचारिकी जैसे महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का विस्तृत विश्लेषण है। साथ ही इस इकाई में इस पाठ से संबंधी उपयोगी पुस्तकों से भी परिचित कराया गया है।

इकाई 4 में ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' की अंतर्वस्तु का विवेचन करके पूरी कहानी का मूल्यांकन किया गया है। इसमें समकालीन कथा साहित्य में दलितों के हस्तक्षेप, दलितों के सामाजिक जीवन, आर्थिक स्थितियों, वर्ण व्यवस्था, जातिवाद, छुआछूत की समस्या, दलितों की शिक्षा, परिवर्तन के प्रस्थान बिन्दु, व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध, ओमप्रकाश वाल्मीकि की भाषा—शैली आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है।

इकाई 5 में गंगा सहाय मीणा के 'घूणी तपे तीर' का विस्तृत विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। इस उपन्यास के माध्यम से आदिवासियों के जीवन, उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों, समाज की मुख्य धारा में आदिवासियों का स्थान, साम्राज्यवाद में देसी शासन से उत्पन्न समस्याओं, महाजनों के शोषण की प्रवृत्तियों, जमीन और नशाखोरी की समस्याओं, आदिवासियों का प्रतिरोध आदि महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर केंद्रित रहकर उपन्यास का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

इकाई 6 में सुमित्रा कुमारी सिन्हा की कहानी 'व्यक्तित्व की भूख' की अंतर्वस्तु का विश्लेषण करके इस कहानी का मूल्यांकन किया गया है। हिंदी कहानी लेखन में सुमित्रा कुमारी सिन्हा का स्थान, सुमित्रा कुमारी सिन्हा की वैचारिकी और जीवन दृष्टि, स्त्री विमर्श और सुमित्रा कुमारी सिन्हा जैसे महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का विश्लेषण करके वाचन के लिए पाठ को भी रखा गया है।

शुभकामनाओं के साथ

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

अस्मितामूलक विमर्श और हिंदी साहित्य

इस कोर्स को दो खंडों में बाँटा गया है और प्रत्येक खंड में 6–6 इकाई रखी गई हैं।

इस कोर्स में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श संबंधी सैद्धांतिकी और व्यावहारिकी का विस्तृत विवेचन है। व्यावहारिकी में कविताएँ, कहानी, आत्मकथा और उपन्यास विधाएँ रखी गई हैं और उनके माध्यम से स्त्री, दलित और आदिवासियों की अस्मिता संबंधी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक विडंबनाओं का बारीकी से विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। प्रत्येक इकाई में पाठ के विश्लेषण, उनकी अंतर्वस्तु, उनके मूल्यांकन के साथ व्याख्या, बोध प्रश्न उनके उत्तर और अभ्यास के साथ उपयोगी पुस्तकें भी दी गई हैं ताकि छात्र लाभान्वित हो सकें।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 1 दलित विमर्श : अवधारणा और आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 दलित की परिभाषा

1.3 दलित चेतना आंदोलन

1.4 दलित पैंथर आंदोलन और दलित साहित्य : अंतर्संबंध

1.5 दलित चिंतन का उद्भव, विकास और वैचारिक आधार

1.6 महात्मा ज्योतिबा फुले का वैचारिक संघर्ष

1.7 डॉ. आंबेडकर : मुक्ति संघर्ष के विविध आयाम

1.8 सारांश

1.9 उपयोगी पुस्तकें

1.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

'दलित विमर्श : अवधारणा और आन्दोलन' शीर्षक इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- दलित शब्द का मूल मंतव्य समझ सकेंगे;
- 'दलित' की परिभाषा जान सकेंगे;
- दलित समाज में चेतना के प्रसार के लिए हुए विभिन्न आंदोलनों से परिचित हो सकेंगे;
- दलित पैंथर आंदोलन और दलित साहित्य के अंतर्संबंध का विवेचन कर सकेंगे; और
- दलित चिंतन के विकास में फुले और आंबेडकर के योगदान का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

अस्मितामूलक विमर्श पाठ्यक्रम की यह पहली इकाई दलित विमर्श पर केन्द्रित है। हम जानते हैं कि भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण–व्यवस्था, जाति, अस्पृश्यता, शोषण, दमन और अत्याचार के खिलाफ संघर्ष की लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है। ईसा पूर्व गौतम बुद्ध के समय तक अन्याय और वर्चस्व के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन के लिए धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन चलते रहे हैं। समय और काल और परिवेश के दबावों के फलस्वरूप

यह आंदोलन तीव्रता और ठहराव से गुजरते हुए नया आकार ले रहा है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को अग्रसर करते हुए आज दलित साहित्य वर्ण–व्यवस्था के बरक्स एक सशक्त आंदोलन है।

हिंदू धर्म प्रणित समाज व्यवस्था इतनी जटिल है कि आज भी भारतीय समाज जातियों में बँटा हुआ है। जातिगत भेदभाव इस वैज्ञानिक युग में भी जड़ जमाए है। दलित साहित्य इस जड़ को उखाड़ फेंकने के लिए कृतसंकल्प है। दलित साहित्य के प्रखर साहित्यकार ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में, 'भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था के आधार पर जो बँटवारा हुआ, उसकी ही देन है जातिभेद जो असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है। वर्ण–व्यवस्था के पक्षधर यह मानने को तैयार ही नहीं हैं कि विकास को रोक देने वाली यह व्यवस्था प्रगति पथ को सीमित कर देती है और समाज को संकीर्णता में बाँध देती है।"

उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रम–व्यवस्था पुनर्जन्म और कर्मफल के तर्क पर आधारित है। इसके तर्कों के अनुसार पूर्वजन्म में किए गए कर्म के अनुसार ऊँची या नीची जातियों में जन्म होता है, यानी जाति स्वयं भगवान का करिश्मा है। दलितों के लिए निर्विकार भाव से सवर्णों की सेवा करना आवश्यक बना दिया गया – यही उनकी मुक्ति का मार्ग था। ऐसे में यह समझना कोई मुश्किल काम नहीं रह जाता कि यह मुक्ति का मार्ग था या गुलामी का।

हिंदू समाज की सारी मान्यताएँ दलितों के विरोध में खड़ी हैं। समाज में प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियाँ इस बात के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। भारतीय समाज में ऐसी अनेक कहावतें प्रचलित हैं जो दलितों के प्रति घृणा–भाव को दर्शाती हैं। किसी भी व्यक्ति से बात करते समय यह जुमला सुनने को मिल जाता है कि – 'क्या मुझे चोर–चमार समझ रखा है।' एक कहावत है कि 'कोदो सावां अन्न नहीं, डोम–चमार जन नहीं।' ये तो बस कतिपय उदाहरण हैं। यदि ऐसे मुहावरों को इकट्ठा करें तो एक पूरे ग्रंथ की रचना हो सकती है। उपर्युक्त कहावतें दलितों की स्थिति को ही बयान करती हैं। इसी तरह साहित्य कलाओं (लोक साहित्य तथा लोक कला) को 'इस वर्ण–व्यवस्था ग्रस्त समाज में कुछ जाति–विशेष से जोड़कर उनका उपहास करते हुए प्रायः उन्हें कला या साहित्य–क्षेत्र से दूर रखने का निरन्तर प्रयास किया जाता है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के कुछ लोक नृत्यों को चमार से 'चमरउवा', कहार से 'कहरवा', धोबी से 'धोबियउवा' आदि कहकर न सिर्फ उनकी उपेक्षा की जाती है, बल्कि उन्हें असंस्कृत भी समझा जाता है, जबकि ये सारी परंपराएँ भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की परंपरा से जुड़ी हुई हैं। 'इन मान्यताओं में दलितों के प्रति जो अपमान, तिरस्कार और घृणा का भाव है, उसकी अभिव्यक्ति दलितों के नामकरण में भी परिलक्षित होती है।'

भारतीय समाज–व्यवस्था की भेद–भाव पूर्ण क्रूर प्रणाली ने धार्मिक चोंगा पहनकर और मर्यादा का आवरण ओढ़कर ब्राह्मणवाद का रूप धारण किया, जिसने धार्मिक कर्मकांड, अंधविश्वास और जन्मना ऊँच–नीच की भावना को वैधता प्रदान की। आज भी तमाम संवैधानिक कानूनों के बावजूद परंपरागत रूप में ये मानवीय कुरीतियाँ अपनी भयानकता के साथ हमारे समाज में विद्यमान हैं। भुक्तभोगी समाज साहित्यिक और राजनीतिक आंदोलन के साथ इस विकास प्रणाली के प्रतिरोध में खड़ा है, जिसका स्वरूप अखिल भारतीय दलित लेखन में झलक रहा है।

बुद्ध (ईसा पूर्व 563–483 ई.पू.) द्वारा विषमता के खिलाफ छेड़ा गया संघर्ष पूरे बौद्धकाल में विद्यमान रहा, लेकिन बौद्ध धर्म के विनाश के बाद प्रतिरोध की गति धीमी पड़ गई। साहित्य

में सिद्धों, नाथों और संतों ने अपनी बानियों के माध्यम से इस संघर्ष और आंदोलन को जगाए रखा। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ज्योतिबा फुले और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डॉ. आंबेडकर द्वारा छेड़ा गया सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आंदोलन दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत बना।

दिलचस्प और अचंभित कर देने वाली बात यह थी कि स्वतंत्रता आंदोलन के केंद्र में दलित मुक्ति का प्रश्न शामिल नहीं था। उपनिवेशवाद की दोहरी मार झेल रही जातियों की चिंता राष्ट्रीय आंदोलन के एजेंडे से गायब थी। कांग्रेस और हिंदू नेताओं ने मुसलमानों के पृथक राजनीतिक अधिकारों तथा हितों को स्वीकार कर लिया था। इस समझौते में यह चिंता नहीं की गई कि दलित वर्गों के भी कुछ हित हैं और उन्हें भी राजनीतिक अधिकार मिलने चाहिए। यह स्थिति दलित वर्ग के लिए चिंताजनक थी। उन्हें भय था कि यदि अंग्रेजों ने भारत को आजाद कर दिया तो यह आजादी दलितों के लिए क्या महत्त्व रखती है? इस चिंता का मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस और हिंदू महासभा के पास आजादी की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं थी। अंग्रेजों से मुक्ति के बाद आजाद भारत की सरकार का स्वरूप क्या होगा और सत्ता किनके हाथों में आएगी, यह अनिश्चय की स्थिति में था। इसलिए डॉ. आंबेडकर को कहना पड़ा था, ''अछूतों को डर है कि भारत की स्वतंत्रता हिंदू राज स्थापित करेगी और अछूतों के लिए दरवाजे बंद हो जाएँगे। सदैव के लिए उनके जीवन की सभी आशाएँ, स्वतंत्रता और उनकी खुशियों के स्रोत बंद हो जाएँगे तथा वे केवल लकड़ी चीरने वाले और पानी खींचने वाले ही बना दिए जाएँगे।''

डॉ. आंबेडकर ने गाँव को भारतीय गणतंत्र की अवधारणा का शत्रु माना था। उनके अनुसार हिंदुओं की ब्राह्मणवादी और पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म भारतीय गाँव में ही होता है। डॉ. आंबेडकर का कहना है कि भारतीय गाँव हिंदू–व्यवस्था के कारखाने हैं। उनमें ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद की साक्षात अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं। उनमें स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है।

फुले और डॉ. आंबेडकर के आंदोलन का केन्द्र महाराष्ट्र रहा इसलिए दलित साहित्य की अनुगूँज सर्वप्रथम प्रखर रूप में मराठी में ही सुनाई पड़ी। दलित अस्मिता का संघर्ष सचेतन रूप में महाराष्ट्र से शुरू होकर अखिल भारतीय स्वरूप ले चुका है जो साहित्य और साहित्येतर दोनों ही मोर्चों पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है।

ज्योतिबा फुले ने सामाजिक विषमता के खिलाफ संघर्ष करने हेतु 'सत्यशोधक आंदोलन' का नेतृत्व किया। जातिभेद–धर्मभेद की आलोचना करते हुए उन्होंने मानव की समानता का प्रचार किया। उपलब्ध सभी साधनों द्वारा उन्होंने ब्राह्मणवाद को नष्ट करने की नीति अपनाई। उनके सत्यशोधक आंदोलन का मुख्य कार्य था – सामाजिक विषमता को नष्ट करना, ईश्वर और भक्त के बीच के दलालों को नष्ट करना, शिक्षा के द्वार सभी के लिए खोलना। चार सूत्री कार्यक्रम को लेकर उनका आंदोलन आगे बढ़ रहा था। उनके यही कार्य और विचार बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के प्रेरणा स्रोत बने। उन्होंने महात्मा फुले को अपना गुरु माना है। डॉ. आंबेडकर ने सन् 1927 से सन् 1930 तक एक सुनियोजित आंदोलन चलाया जिसकी प्रमुख घटना है 'महाड का चवदार तालाब का आंदोलन'। दलितों को सवर्णों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले पानी के किसी भी स्रोत को छूने का अधिकार नहीं था। इस अपमान को खत्म करने और दलितों को मानव अधिकार दिलाने के लिए यह सत्याग्रह शुरू किया गया था। डॉ. आंबेडकर ने बौद्ध धर्म के मूल तीन तत्व स्वतंत्रता, समता और भाईचारे को अपनाकर दलित

मुक्ति आंदोलन को सक्रिय बनाया। हिंदू–धर्म की वर्ण–व्यवस्था का जीवन बिताने पर दलितों को मजबूर किया गया और उन्हें सत्ता एवं संपत्ति से पृथक रखा गया। इस विषमतापूर्ण स्थिति के खिलाफ लड़ने के लिए उन्होंने अभियान शुरू किया जिसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति दलित साहित्य है। इस तरह दलित साहित्य आंदोलन शुरू हुआ। दलितों को उनका अधिकार दिलाने के लिए जिस संघर्ष की शुरुआत आंबेडकर ने दलित मुक्ति आंदोलन द्वारा की थी उसे पूर्णता की ओर ले जाने के लिए दलित साहित्य का आंदोलन सक्रिय है।

दलित साहित्य ने तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य को कटघरे में ला खड़ा किया और साहित्य के वास्तविक मर्म को समझाने का यथार्थवादी प्रयास साहित्य की लगभग सभी विधाओं के माध्यम से वह कर रहा है। दलित का संबंध चेतना से है। दलित को दया और सहानुभूति से घृणा है। वह हीनताग्रंथि को तोड़कर दलित अस्मिता की प्रखरता को स्थापित करने की ओर अग्रसर है। गैर-दलितों का दलित विषय–वस्तु पर लेखन प्रामाणिकता के सवाल से जूझ रहा है। यह संदर्भ बेबाकी से विस्तृत बहस की माँग करता है। दलित अनुभव की त्रासदी से गुजरे बिना दलित रचना में तल्खी और प्रामाणिकता का अभाव बना रहता है।

दलित साहित्य की अवधारणा फुले और डॉ. आंबेडकर के विचार चिंतन तथा अन्य परिवर्तनगामी प्रतीकों एवं संघर्षों से जुड़कर विकसित हुई है। उसका लक्ष्य ईश्वर के अस्तित्व को नकार कर तथा वर्ण–व्यवस्था को खत्म करके मानवमात्र की समानता को स्थापित करना है। दलित आंदोलन और दलित साहित्य पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने से पूर्व दलित का आशय जान लेना उचित होगा।

1.2 दलित की परिभाषा

सदियों से जिसे साहित्य और समाज के हाशिए पर फेंक दिया गया था तथा जिसे शूद्र, अतिशूद्र, अंत्यज, चाण्डाल, अवर्ण, पंचम, हरिजन आदि नामों से विहित करके घृणा, हिकारत और दया का पात्र बना दिया गया था, वही आज प्रखर आत्मबोध के साथ इन सारी शब्दावलियों को ठुकराकर स्वयं 'दलित' के रूप में अपनी अस्मिता का बोध साहित्य, समाज और राजनीति तीनों ही स्तरों पर करा रहा है। प्रख्यात मराठी दलित साहित्यकार शरण कुमार लिंबाले के शब्दों में, 'दलित' को 'दया' से घृणा है, उसे दया और सहानुभूति नहीं 'अधिकार' चाहिए। आज इसकी अनुगूँज मराठी से शुरू होकर हिंदी और अन्य भारतीय भाषा–साहित्यों में नकार, वेदना और आक्रोश के साथ दलित साहित्य के रूप में सुनी जा सकती है।

'दलित' शब्द और 'दलित साहित्य' अपनी अर्थवत्ता, व्यापकता, सार्थकता तथा अस्मितागत बोध के रूप में आज विद्वज्जनों के मध्य साहित्यिक विमर्श के विषय बने हुए हैं। अतः 'दलित का आशय' व्यापक दृष्टि और बहस की माँग करता है।

'दलित' शब्द के अंतर्गत कुचले गए, दबाए गए जनों की जीवन कहानी उतनी ही पुरानी है, जितनी भारतीय हिंदू संस्कृति पुरातन है। चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था ऋग्वैदिक काल से लेकर अद्यतन जातियों की श्रेष्ठता–क्रम में विद्यमान है। वेदों, स्मृतियों, पुराणों में व्यक्त जीवन पद्धति वर्ण–व्यवस्था पर टिकी हुई है। इस तरह का मिथ्या प्रचार आज भी जारी है कि इनका स्रष्टा मानव नहीं ईश्वर है। इन अवधारणाओं के प्रतिपादक सभी धार्मिक ग्रंथ प्रत्येक वर्ण का कार्य बतला चुके हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के भार तले 'शूद्र' सबसे नीचे आता है, जिसका कर्तव्य तीनों वर्गों की सेवा करना बताया गया है।

''स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से इस जन्म में तथा अगले जन्म के उद्देश्य से शूद्र को ब्राह्मण की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि जिसे ब्राह्मण का सेवक माना जाता है, उसे सभी सुख शांति प्राप्त होती है।" (मनुस्मृति, 10,122)

लगभग 200 ई. पू. से 200 ई. सन् के बीच शूद्रों की स्थिति का ज्ञान मनु के विधि ग्रंथ 'मनुस्मृति' से प्राप्त होता है। मनु ने अपने ग्रंथ में शूद्रों के प्रति घोर अमानवीयता का परिचय दिया है। शूद्रों और स्त्रियों को विद्या एवं वेद–अध्ययन के अधिकारों से वंचित तो रखा ही गया था साथ ही, वेद–पठन और सुनना भी वर्जित था।

मौर्यकालीन रचना 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने विहित किया है कि जब कोई शूद्र अपने को ब्राह्मण कहे, देवताओं की सम्पत्ति चुराए या राजा का वैरी हो तो विषैली दवाओं का प्रयोग करके उसकी आंखें नष्ट कर दी जाएँ या उससे आठ सौ पण जुर्माना वसूला जाए।

व्याख्याकारों के अनुसार माना जाता है कि वैदिक काल में चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था गुण, कर्म, एवं स्वभाव के आधार पर निर्धारित होनी थी, जिसमें ऊँच–नीच, उत्तम–अधम, स्पृश्य अस्पृश्य जैसी संकीर्णताओं के लिए कोई स्थान नहीं था, कर्म के आधार पर ही व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण होता था। कर्म के आधार पर व्यक्ति अपने वर्ण को परिवर्तित कर सकता था। किन्तु यह वर्ण–व्यवस्था उत्तर वैदिक काल तक आते–आते जन्म पर आधारित होकर जाति के रूप में परिवर्तित हो गई। वास्तव में द्विजों ने अपने वर्चस्व एवं अभिजात्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के उद्देश्य से कालान्तर में वर्ण–व्यवस्था को जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था में रूपांतरित कर दिया। इस प्रकार वैदिक कालीन चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था के चार वर्ण न केवल चार जातियों में परिवर्तित हो गए, अपितु हजारों जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गए।

डॉ. आंबेडकर का निष्कर्ष था कि ''भारतीय समाज का ताना–बाना अभी जाति–व्यवस्था पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिंदू (यहाँ इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जिस जाति में जन्म लेता है उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति माँ की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है।"

समय की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता के साथ सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत शूद्रों अतिशूद्रों को विभिन्न कालखंडों में जिन भिन्न–भिन्न नामों से अभिहित किया गया। इनमें अधिकतर नाम उनके द्वारा दिए गए जो अस्पृश्य समुदाय के नहीं थे। चाण्डाल, अंत्यज, अवर्ण, अस्पृश्य, हरिजन आदि नाम जो हिंदू वर्ण–व्यवस्था से अलग पहचान रखते हैं तथा समाज में इनकी हीन दशा का बोध कराते हैं – ये तमाम नामकरण इनको हीन तथा स्वयं को श्रेष्ठ मानकर निहित किए गए।

महात्मा गांधी द्वारा दिए गए 'हरिजन' शब्द का विरोध इस वर्ग द्वारा निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया गया :

- 'हरिजन' शब्द में दया का भाव निहित है।
- मंदिरों में देवदासियों की संतानों को भी 'हरिजन' नाम दिया गया था, जिनकी सामाजिक पहचान 'अवैध संतति' की थी।
- नामकरण करने वाले अस्पृश्यों से इतर वर्ग स्वयं को 'हरिजन' क्यों नहीं कहते? क्या वे हरि के जन नहीं हैं? 'हरिजन' शब्द में हीनता का बोध निहित है।

सन् 1991 में उ.प्र. और म.प्र. सरकारों द्वारा और बाद में केंद्र सरकार द्वारा 'हरिजन' शब्द को प्रयोग प्रशासनिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक स्तर पर न करने का अध्यादेश जारी किया गया। इसके पीछे तर्क यह था कि जिनके लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है उन लोगों को यह नामकरण पसंद नहीं, लेकिन सरकार ने 'हरिजन' के स्थान पर अनुसूचित जाति (एस.सी.) को शासकीय कार्यों के लिए उचित माना, जबकि 'दलित' शब्द अपनी पहचान बना चुका था।

नामकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्यापकता में न जाते हुए निम्नलिखित बिंन्दुओं पर ध्यान केंद्रित करके 'दलित का आशय' तक हम पहुँच सकते हैं:

शूद्र पहचान से इतर एक ऐसा वर्ग जिसकी पहचान अस्पृश्य के रूप में बनी। इसे हिंदू व्यवस्था में समायोजित करने के उद्देश्य से इन्हें 'पंचम' और महात्मा गांधी का 'हरिजन' नाम दिया गया।

सन् 1931 में प्रशासनिक तौर पर डिप्रेस्ड क्लास के स्थान पर एक्सटीरियर क्लास (बाहरी या बहिष्कृत वर्ग) नाम दिया गया, जिसके आधार पर डॉ. आंबेडकर ने 1931 के गोलमेज सम्मेलन, लंदन में इन जातियों को बहिष्कृत या हिंदू जातीय संरचना से बाहर की जाति के रूप में वैधता प्राप्त हो जाने के बाद पृथक निर्वाचन का प्रस्ताव रखा, जिसका महात्मा गांधी ने विरोध किया।

भारत सरकार अधिनियम 1935 के तहत डिप्रेस्ड क्लास और एक्सटीरियर क्लास के स्थान पर 'अनुसूचित जाति', 'अनुसूचित जनजाति' शब्द प्रशासनिक तौर पर प्रयोग में आए। इस प्रकार जातीय संरचना और सामाजिक आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर सरकारी तौर पर उत्थान हेतु जातियों की अनुसूची तैयार की गई। इसी आधार पर अनु. जाति, अनु. जनजाति एवं अन्य पिछड़ा वर्ग नामक प्रशासनिक शब्द प्रयुक्त हुए, जिनको सामाजिक अस्मिताबोध के रूप में 'दलित' शब्द के अंतर्गत समायोजित करने की कोशिश की गई। 'दलित पैंथर्स' ने अपने घोषणा–पत्र में 'दलित' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है – "दलित का अर्थ है अनुसूचित जाति, बौद्ध, कामगार, भूमिहीन, मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियाँ, आदिवासी और नारी समाज।' स्पष्ट है दलितों की और प्रकारान्तर से मनुष्य की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने का कार्य 'दलित' शब्द कराता है।

'दलित का आशय' समझने के क्रम में प्रयुक्त 'दलित पैंथर्स' के बारे में हम दलित चेतना और दलित आंदोलन पर प्रकाश डालते हुए समझ सकेंगे। डॉ. आंबेडकर को दलित आंदोलन का प्रेरक और प्रवर्तक मानने वाले सुविख्यात मराठी दलित साहित्यकार डॉ. गंगाधर पानतावणे 'दलित' शब्द को व्याख्यायित करते हैं: 'दलित क्या है' 'दलित' कोई जाति नहीं बल्कि परिवर्तन और क्रांति का प्रतीक है। दलित मानवतावाद में विश्वास करता है। परंतु वह ईश्वर के अस्तित्व, पुनर्जन्म, आत्मा तथा उन तथाकथित धार्मिक ग्रंथों को अस्वीकार करता है जो भेदभाव की शिक्षा देते हैं। वह भाग्य तथा स्वर्ग की अवधारणाओं को भी अस्वीकार करता है, क्योंकि ये ही विचार उसको दासत्व का बोध कराते रहे हैं। वह इस देश में दबाए सताए हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो वर्षों से जानवर से भी बदतर जिंदगी जीने को अभिशप्त हैं। वह विरोध करता है एक बहुत ही सूझ–बूझ के साथ विकसित की गई हिंदू सामाजिक–व्यवस्था का जिसने कि मानव के रूप में उसके अस्तित्व को कभी स्वीकार ही नहीं किया तथा मानवीय गरिमा का निरन्तर निरादर किया, जिसको उसके मृत–प्राय शरीर

को पीड़ा और वेदना का संत्रास झेलना पड़ा। यही अलगावाद का बोध उन हजारों दलितों के पुनर्जागरण का अक्षय स्रोत है।"

कंवल भारती का मानना है कि 'दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है, जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया और जिस पर अछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती हैं, जो अनुसूचित जातियाँ कही जाती हैं।"

डॉ. विमल थोरात ने अपनी पुस्तक ''मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिंदी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना'' में 'दलित' शब्द की अवधारणागत व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वह लिखती हैं कि विभिन्न विचारकों ने दलित शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। डॉ. आंबेडकर ने दलित शब्द को अस्पृश्य के स्थान पर अपनाया। अस्पृश्य की जो व्याख्या अनटचेबुल (The Untouchable) नामक अपने अंग्रेजी ग्रंथ में दी उससे यही पता चलता है। दलित का आशय डॉ. आंबेडकर ने गिरिजन, विमुक्त जातियाँ, अपराधी घोषित की हुई जातियाँ ऐक्स क्रिमिनल ट्राईब्ज (डीनोटीफाईड) (Ex-criminel tribes) (denotified)और अछूत, इन तीनों समुदायों को अस्पृश्य (दलित) कहा जाता है। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार 'दलित' शब्द में शोषित, पीड़ित और आर्थिक दृष्टि से दुर्बल सभी वर्गों का समावेश हो जाता है। इन सभी जातियों की गुलामी और दासता का स्वरूप सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक है इसलिए दलित शब्द का प्रयोग ''उन सभी उपेक्षित जातियों, जनजातियों के लिए किया गया है।''

डॉ. आंबेडकर ने व्हॉट कांग्रेस एंड गांधीजी हैव डन टू द अनटचेबल्स (What congress and Gandhiji have done to the Untouchables) नामक ग्रंथ में 'अस्पृश्य ' शब्द के लिए जिन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, उससे 'अस्पृश्य' शब्द का बोध होता है। उन्होंने अस्पृश्य के लिए डीप्रेस्ड कलासस, शैड्यूल्ड कास्ट (Depressed castes) और सरवाईड कास्टस (Servide castes) शब्दों का प्रयोग किया है। इसके कारणों को बताते हुए वे लिखते हैं: 'इस पुस्तक में मैंने अस्पृश्य वर्ग के लिए डिप्रेस्डक्लासेस, शैड्यूल्ड कास्ट्स और गुलाम वर्ग इन नामों का प्रयोग किया है जिसका कारण है अस्पृश्य वर्ग के लिए समय–समय पर अधिकृत और अनाधिकृत तौर पर इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। ''गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया' द्वारा शैड्यूल्ड कास्ट का प्रयोग होता है। सन् 1936 के बाद इस शब्द का प्रयोग होता रहा। इससे पूर्व गांधी जी द्वारा हरिजन और सरकार की ओर से डिप्रेस्ड क्लासेस कहा जाता था। अतः ये सारे शब्द प्रयोग समानार्थी ही हैं और अस्पृश्य वर्ग के लिए ही प्रयुक्त भी किये गये हैं।'' (पृष्ठ 50)

डॉ. आंबेडकर की उक्त व्याख्या के अनुसार 'दलित' शब्द 'अस्पृश्य' का पर्यायवाची है और इन सभी दलित जातियों, जनजातियों के प्रति दलित साहित्य प्रतिबद्ध है। सन् 1956 में बाबासाहेब के नेतृत्व में हुए धर्मान्तरण आंदोलन में लाखों की संख्या में शामिल होकर दलितों ने हिंदू धर्म त्याग करके बुद्ध धर्म को स्वीकार किया। महाराष्ट्र में अस्पृश्य वर्ग में प्रमुख रूप से महार, मातंग और चमार जातियाँ शामिल हैं। लेकिन बुद्ध धर्म को स्वीकार सबसे अधिक संख्या में महारों ने किया और दलित साहित्य आंदोलन में 'नव बौद्धों की ही सक्रियता दिखाई देती है। इस कारण कुछ लोग दलित साहित्य को एक विशिष्ट जाति द्वारा निर्मित साहित्य

कहकर इसकी गरिमा को गिराना चाहते हैं। परन्तु डॉ. आंबेडकर द्वारा दी गई व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि 'दलित' और 'दलित साहित्य' सर्व समावेशक शब्द है जिनमें अनेक दलित जातियाँ जनजातियाँ अंतर्भूत हैं।'

1.3 दलित चेतना आंदोलन

दलित साहित्य की दार्शनिक और वैचारिक पृष्ठभूमि को समझे बिना आप दलित आंदोलन और उससे प्रेरित दलित साहित्य आंदोलन को समझ नहीं सकेंगे। दलित की उत्पत्ति के स्रोतों को हमें जानना पड़ेगा तभी हमें दलित साहित्य की विशिष्टता और सामाजिक न्याय के लिए तत्पर साहित्यिक अभिविन्यास को समझने का अवसर मिलेगा। दलित चेतना के दार्शनिक और वैचारिक आधार के स्रोत गौतम बुद्ध ही रहे हैं। वे भारतीय इतिहास के प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने वर्ण–व्यवस्था के औचित्य को चुनौती दी और उसे अवैज्ञानिक एवं अमानवीय बताया। उन्होंने श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनित नामक एक पीड़ित व्यक्ति को अपने संघ में शामिल करके दलितोद्धार का वह मार्ग प्रशस्त किया जो आने वाले युगों–युगों तक दलित–मुक्ति का मार्ग अवलोकित करता रहा। भक्तिकाल में दलित संग कवियों की बानियों में चेतना की वह चिनगारी सुलगती रही जो आधुनिक काल तक आते–आते डॉ. आंबेडकर के विशालतम व्यक्तित्व के रूप में धधक उठी। आधुनिक दलित चेतना की प्रबल प्रेरणा डॉ. आंबेडकर का युग प्रवर्तक व्यक्तित्व और कृतित्व है। विशेष रूप से महाराष्ट्र से शुरू हुए दलित साहित्य आंदोलन पर उनके विचार और दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत है।

दलित चेतना, इसकी मूल प्रेरणा और आंदोलन को हिंदी के वरिष्ठ दलित लेखक और कवि ओम प्रकाश वाल्मीकि के कथनों से समझने का प्रयास करें :

''दलित चेतना एक प्रति सांस्कृतिक चेतना ही नहीं है, बल्कि एक वैकल्पिक चेतना भी है। इसलिए विद्रोही है। इस चेतना की जड़ में भारतीय सामाजिक संरचना है। जो न सिर्फ जाति पर आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैधता भी प्रदान करती है। जाति–व्यवस्था सामाजिक दुराव के सिद्धांत पर आधारित है। यह हमारे सामाजिक संबंधों को ही नहीं बल्कि धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पक्षों को भी प्रभावित करती है। यह गुलामी की संपूर्ण व्यवस्था है, हिंदू समाज–व्यवस्था में प्रारंभ से ही धर्म प्रधान और अर्थ गौण रहा है। व्यावहारिक स्तर पर हिंदुत्व की जो अवधारणा आम आदमी तक पहुँचती है, वह बहुत हद तक जातीय आचार–व्यवहार और संस्कार से परिसीमित हुई रहती है। स्वंतत्रता के बाद भी यह स्थिति किसी न किसी रूप में बनी हुई है। संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों और सुरक्षा कानूनों के बावजूद दलित वर्ग को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रखने का प्रयास जारी है' और इसकी सफलता के लिए हर समय धर्म, परंपरा, संस्कृति का हवाला देकर इसकी निरंतरता के लिए हिंसा, सत्ता और धर्म का सहारा लिया जाता है। आर्थिक रूप से कमजोर, पिछड़ा सामाजिक रूप से निम्न होने का अभिशाप झेलता, सांस्कृतिक रूप से नकारा गया दलित वर्ग कथित उच्चवर्ग के हाथों अक्सर उत्पीड़ित होने को अभिशप्त है।''

दलित चेतना का सीधा सरोकार 'मैं कौन हूँ?' से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ है। चेतना का संबंध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक भूमिका की छवि के तिलस्म को तोड़ती है। मानव अधिकारों से वंचित सामाजिक तौर पर नकार दिया जाना यानी दलित होना है और उसके अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई यानी चेतना

ही दलित चेतना है, जो दलित आंदोलनों के एक लंबे इतिहास की देन है। अलग–अलग कालखंडों में यह अलग रूपों में दिखाई पड़ती है। भक्ति–काल के कवियों में यह रूप अलग है, लेकिन इस चेतना के बीज वहाँ मौजूद हैं, जिसे कालांतर में एक संघर्षशील, बौद्धिक रूप मिलता है ज्योतिबा फुले के संघर्ष के रूप में। आगे चलकर यह रूप एक नए और जुझारू रूप में विकसित होता है डॉ. भीमराव आंबेडकर के जीवन–संघर्ष में, जो दलितों में एक नई चेतना का सूत्रपात करता है जिसे मुक्ति संघर्ष की चेतना कहना ज्यादा प्रासंगिक होगा। यही चेतना साहित्य की प्रेरणा बनकर दलित–साहित्य के रूप में दिखाई देती है, जिसमें मुक्ति, स्वतंत्रता के गंभीर सरोकार विद्यमान हैं। अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखंड–कर्मकांड का विरोध, सामाजिक न्याय की पक्षधरता, वर्ण–व्यवस्था का विरोध, सामंतवाद विरोध, पूँजीवाद, बाजारवाद का विरोध, सांप्रदायिकता का विरोध, ब्राह्मणवाद का विरोध, अधिनायकवाद का विरोध, जैसे सवाल दलित साहित्य के सरोकारों में शामिल हैं।'

6 दिसंबर सन् 1956 को दलितों के क्रांति दूत और आदर्श डॉ. बी. आर. आंबेडकर के महापरिनिर्वाण के उपरान्त करीब डेढ़ दशक तक सामाजिक परिवर्तन का कारवाँ रुक सा गया था। स्वतंत्रता दिवस की रजत जयंती से दो वर्ष पूर्व 1970 ई. में महाराष्ट्र में आंदोलन की लहर पुनः पुनर्जीवित हुई। दलित दृष्टि और चिंतन पर शोधरत अमेरिकन लेखिका एलिनॉर जिलियट द्वारा अंग्रेजी में लिखित एक लेख के हिंदी रूपान्तर से कुछ अंश इस प्रकार है – '1970 के शुरुआती दौर में मराठी आंदोलनों ने अंग्रेजी प्रेस द्वारा नोटिस लेने योग्य पर्याप्त महत्ता प्राप्त की – ये हैं दलित पैंथर्स और दलित साहित्य।

बोध प्रश्न 1

1. ''दलित को 'दया' से घृणा है, उसे दया और सहानुभूति नहीं 'अधिकार' चाहिए।'' यह किस प्रसिद्ध दलित साहित्यकार का कथन है?

   क) ओम प्रकाश वाल्मीकि   ख) शरण कुमार लिम्बाले

   ग) वंदना टेटे   घ) सुशीला टाकभैरे

2. वर्ण व्यवस्था किस काल में जन्म पर आधारित होकर 'जाति' के रूप में परिवर्तित हुई?

   क) उत्तर वैदिक काल   ख) पूर्व वैदिक काल

   ग) वैदिक काल   घ) आधुनिक काल

3. दलितों के लिए गाँधी जी द्वारा दिया गया नाम है?

   क) पंचम   ख) अस्पृश्य

   ग) हरिजन   घ) दलित

4. ''दलित कोई जाति नहीं बल्कि परिवर्तन और क्रांति का प्रतीक है।'' यह कथन किस दलित साहित्यकार का है?

   क) कंवल भारती   ख) विमल थोरात

   ग) डॉ. आंबेडकर   घ) डॉ. गंगाधर पानतावणे

5. ''दलित चेतना एक प्रति सांस्कृतिक चेतना ही नहीं है, बल्कि एक वैकल्पिक चेतना भी है इसलिए विद्रोही है।'' दलित आंदोलन के संदर्भ में यह किस साहित्यकार की स्थापना है?

क) रमणिका गुप्ता   ख) ओम प्रकाश वाल्मीकि

ग) हवाइट पैंथर   घ) बिटनिक पीढ़ी

1.4 दलित पैंथर आंदोलन और दलित साहित्य : अंतर्संबंध

दलित साहित्य आंदोलन और दलित मुक्ति आंदोलन एक दूसरे से जुड़े हुए आंदोलन हैं। दलित मुक्ति आंदोलन जो सामाजिक स्तर पर सक्रिय था उससे प्रेरणा लेकर दलित साहित्य आंदोलन साहित्यिक क्षेत्र में नई चेतना का विस्तार कर रहा था। इसी चेतना की अगली कड़ी है "दलित पैंथर आंदोलन।"

'दलित पैंथर' संगठन दलित मुक्ति संग्राम का एक जुझारू दस्ता है, जिसकी प्रमुख भूमिका राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में देखी जा सकती है। इस संगठन से अनेक दलित लेखक भी जुड़े हुए हैं। इसका उदय अत्यंत विषमतापूर्ण सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ। गाँवों में अमीर किसानों और शासन व्यवस्था ने दलितों पर अत्याचारों का सिलसिला शुरू कर रखा था। दलित कभी अस्पृश्य होने के नाते तो कभी भूमिहीन किसान के नाते विभिन्न अत्याचारों का शिकार होते रहे हैं। शहरों में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण बेरोजगार युवावर्ग साधन–हीनता के कारण हीन भावना से ग्रस्त हो गया था। दिशाहीन युवक वर्ग भटकाव की स्थिति में पहुँच गया था। गाँवों और शहरों में शिक्षित दलित युवकों की संख्या बढ़ रही थी। ग्रामीण क्षेत्रों में सक्रिय वामपंथी आंदोलन से परिचित होने से इन युवकों में तत्कालीन समाज व्यवस्था को समझने की शक्ति आ गई। बढ़ते हुए सामाजिक अन्याय, अत्याचारों की पृष्ठभूमि मे रिपब्लिकन पार्टी की निष्क्रियता युवामन को क्षुब्ध कर रही थी। दलित युवक यह समझने लगे थे कि इस बढ़ते हुए अन्याय के खिलाफ केवल कविता, लेख कहानियाँ लिखने से कुछ नहीं होगा। उन्हें साहित्यिक आंदोलन के साथ सामाजिक आंदोलन की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। इसी समय सिद्धार्थ कॉलेज के छात्रावासों में रहने वाले दलित और अदलित युवकों के संयुक्त सहकार्य से 'युवक आघाड़ी' की स्थापना हुई, जिसमें प्रमुख दलित युवा रचनाकार भी शामिल थे। दया पवार, अर्जुन डांगळे, नामदेव ढसाळ ज.वि. पवार, प्रहलाद चेंदवणकर, राजा ढाले आदि दलित युवा रचनाकार अमरीका के अश्वेत साहित्य और क्रांतिकारी (मुक्ति) आंदोलन से परिचित हो गये थे। इसी आंदोलन से (जो अमरीका में ब्लैक पैन्थर नाम से जाना जाता था) प्रेरणा लेकर इन युवकों ने 9 जुलाई, 1972 को 'दलित पैंथर' की स्थापना की। 'दलित पैंथर' ने दलितों पर हो रहे अत्याचारों के निषेधार्थ उस वर्ष के 'स्वतंत्रता दिवस' को 'काले दिवस' के रूप में मनाया और काले झंडों के साथ दलित पैंथर में कार्यकर्ताओं ने शहर में पद यात्रा की। 'दलित पैंथर' उग्र और क्रांतिकारी के रूप में जाना जाने लगा। अनेक वर्षों से जो असंतोष दलित युवामन में था उसका उद्रेक 'दलित पैंथर' के कार्यक्रमों में अभिव्यक्त हुआ। दलित पैंथर और साहित्य का संबंध बहुत गहरा है। इस आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ता मूलतः रचना और संस्कृतिकर्मी थे।

दलित साहित्य आंदोलन को आगे बढ़ाने में और नई दिशाओं का बोध कराने में कुछ पत्रिकाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है। इनमें 'अस्मितादर्श' त्रैमासिक पत्रिका का योगदान

सबसे अधिक है। दलित साहित्य आंदोलन को उसके गंतव्य तक पहुँचाने में इस पत्रिका ने आंदोलन की शुरुआत से लेकर अभी तक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इसी पत्रिका के द्वारा दलित साहित्य सम्मेलन आयोजित किए गए। इन सम्मेलनों में दलित लेखकों, कवियों ने बड़ी संख्या में उपस्थित होकर साहित्य संबंधी चर्चाएँ कीं और दलित साहित्य के अंतर्गत पनप रही अनेक अनिष्ट प्रवृत्तियों को रोककर दलित साहित्य की संभावनाओं को बढ़ाने की कोशिश की है। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन को आगे बढ़ाने में जिस तरह भिन्न–भिन्न भाषाओं में निकलने वाली पत्रिकाओं ने सहयोग दिया था और जनता में चेतना जागृत करने की अपार क्षमता का प्रमाण दिया था। इसी प्रकार का कार्य बाबासाहेब आंबेडकर ने 'मूक नायक', 'बहिष्कृत भारत', 'जनता' आदि समाचार पत्रों के द्वारा किया था।

मराठी के एक लेखक श्री राजा ढाले का 'काला स्वतन्त्रता दिवस' शीर्षक लेख मराठी साप्ताहिक 'साधना' में प्रकाशित हुआ। यही लेख बल्कि इसकी कुछ पंक्तियाँ ही 'दलित पैंथर के आंदोलन की आधारशिला बन गई।'

'कल जो आयेगा वो खुद को दलित कहकर हमारी लड़ाई की तीव्रता को कम करने का प्रयास करेगा। लोगों की सहानुभूति के लिए खुद को दलित कहलवा लेना अलग बात है और प्रत्यक्ष दलित उपेक्षित बन कर जीना अलग बात है और लड़ने के लिए तैयार होना अलग।'

वर्ण–व्यवस्था के सन्दर्भ में इसी लेख में कहा है अन्तिम वर्ण को छोड़कर बाकी तीन वर्णों ने तो अपना पारम्परिक रूप बदल दिया है। ब्राह्मण अपना कर्त्तव्य भूलकर वेश्या व्यवसाय करने लगे हैं तो क्षत्रिय फौज में भर्ती होने की बजाय ऐसे ही किसी धन्धे में अटक गया है। जब बाकी वर्ण अपने कर्त्तव्य कर्म का स्वरूप परिवर्तित कर सकते हैं तब औरों को यह कहना कि मरे जानवर उठाओ नहीं तो बहिष्कार, समझ के बाहर है।

''चातुर्वर्ण्य – समाज व्यवस्था में आज भी हमारे साथ जानवर से भी बुरी तरह व्यवहार किया जाता है। इसलिए चातुर्वर्ण्य को तोड़ना चाहिये। जड़ से उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। गीता जला देनी चाहिए। हिन्दू धर्म को पूरी तरह मिटा देना चाहिये।''

'अंग्रेजों की गुलामी से भारत को 1947 में मुक्ति मिली लेकिन, हमें क्या मिला? प्रजातंत्र की घोषणा एवं नारे बाजी में 24 वर्ष बीत चुके हैं लेकिन न तो गांधी के सुधारों ने हमें सुधारा और ना तिलक का स्वराज्य हमें स्वतंत्रता दे गया। हम तो आंबेडकर के मार्ग से जाकर सुधर गये। तो यह लोग हम पर बहिष्कार डाल कर हमारी महिलाओं की इज्जत लूटते हैं। हम को कोई सुधारना नहीं चाहता यही इनकी इच्छा है और हम सुधर के ही रहेंगे यह पूरा समाज बदलेगा यह हमारा ध्येय वाक्य है।''

''अपनी स्वतंत्रता पर आक्रमण करने वालों को भी हम कहेंगे कि आप भी तो स्वतंत्र नहीं हैं; कारण, आप जूलूस निकालेंगे तो भी लाठी खानी पड़ेगी। यह सरकार अपनी नहीं है। ब्रिटिश गये ब्रिटिशों की प्रवृत्ति शासन कर्त्ताओं में जिंदा है। इसलिए हम स्वतंत्र हैं यह गलत है। स्वतंत्र वे हैं जो हमारे साथ गुलामों की तरह व्यवहार करते हैं तो फिर गुलामी में स्वतंत्रता कैसी।'' अतः दलित पैंथर आंदोलन से जुड़े साहित्यकारों ने प्रखरता से दलित साहित्य को विकसित किया। उनका आंदोलन के साथ–साथ रचनात्मक योगदान दलित साहित्य की आधारशिला बन गया।

निष्कर्ष : हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य का आंदोलन डॉ. आंबेडकर के राजनैतिक मंच

पर उदित होने के उपरान्त आरंभ हुआ है। उसका मूल 1920 में प्रकाशित 'मूकनायक' नामक पत्रिका से माना जा सकता है।

रमणिका गुप्ता का मत है, ''कहने को तो लोग भक्तिकाल के कबीर, रैदास, गुरुनानक के साहित्य को और उनसे भी पहले नाथ और सिद्धों के साहित्य को भी दलित साहित्य से जोड़ते हैं लेकिन वह साहित्य धर्म के घेरे से कभी मुक्त नहीं हुआ। वह ईश्वर और हिंदू धर्म के दायरे में ही घूमता रहा, भले ही जाति के बंधनों को उसने नकारा। लेकिन बाबा साहेब आंबेडकर ने जिस दलित–चेतना और साहित्य की नींव डाली वह वैज्ञानिक सोच पर आधारित थी और धर्म, भाग्य, भगवान और सारी परंपरागत रूढ़ियों एवं विकृतियों से मुक्ति की राह खोजती थी। इसलिए वर्तमान में जो भी सबसे बड़ा तात्कालिक मुद्दा दलितों के सामने आया उन्होंने उसे उठाया, चाहे वह पानी का मुद्दा हो या मंदिर प्रवेश का। ये सब मुद्दे मनुष्य के अधिकार के साथ–साथ दलित स्वाभिमान से जुड़ गए थे। ये साहित्य दलितों को प्रेरणा देने के साथ–साथ वैचारिक स्तर पर श्रेष्ठता प्रदान करने का स्रोत भी बना।''

'दलित साहित्य के प्रेरणा स्रोतों के रूपों में महात्मा ज्योतिबा फुले का सुधारवादी दृष्टिकोण और डॉ. आंबेडकर की सामाजिक समानता, हिन्दुत्व का विरोध, आर्थिक विषमता को नष्ट कर समानतापरक दृष्टि तथा सांस्कृतिक समस्या के साथ बौद्ध धर्म, उसका दर्शन और पैंथर्स को भी देखा जा सकता है।'

इस प्रकार सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में असंतोष प्रकट कर मुंक्ति आंदोलन की सशक्त भूमिका के साथ दलित जीवन की समस्याओं को सजग होकर अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले उद्घोषक के रूप में दलित साहित्य का आंदोलन आरंभ हुआ और निरन्तर आगे बढ़ता रहा।

सुधारकों में गांधी का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है लेकिन दलित चिंतक इन्हें वर्णवादी मानते हैं। माना जाता है कि गांधी वर्णाधारित जातिवाद के अस्तित्व को बनाए रखते हुए छुआछूत मिटाना चाहते थे, जबकि आंबेडकर वर्ण, जाति एवं छुआछूत तीनों पर प्रहार करना चाहते थे। दलित चिंतन की एक लंबी परंपरा गतिमान रही है, लेकिन आधुनिक संदर्भ में महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर ने इस चिंतन को ठोस वैचारिक आधार दिया। महात्मा फुले ने सन् 1848 ई. में पूना के बुधवार पेठ में दलितों के लिए स्कूल खोला। उन्हें इस बात का अहसास था कि जब तक दलितों और स्त्रियों को आगे नहीं बढ़ाएँगे तब तक समाज में व्याप्त अंधविश्वास और अन्याय की बेड़ियाँ नहीं टूटेंगी। सन् 1853 ई. में बुधवार पेठ में ही लड़कियों के लिए स्कूल खोला। 1873 ई. में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना करके महात्मा फुले ने सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन को एक वैचारिक स्वरूप प्रदान किया। अपने सिद्धांतों और कार्यक्रमों के कारण 'सत्यशोधक समाज' एक महाराष्ट्रव्यापी आंदोलन बन गया। सत्यशोधक समाज तीन दिशाओं में कार्य कर रहा था। पहला, भक्त और भगवान के बीच बिचौलिए बन बैठे परजीवी ब्राह्मणों को हटाना। बिचौलिए की जरूरत नहीं। बिचौलियों द्वारा लादी गई धार्मिक गुलामगिरी को नष्ट करना, अंधश्रद्धा, अज्ञानी लोगों को उस गुलामी से मुक्त करना। दूसरा, साहूकारों और जमींदारों के शिंकजे से किसानों को मुक्त करना और तीसरा, सभी जातियों के स्त्री–पुरुषों को शिक्षा प्राप्त कराना। सत्यशोधक समाज का काम इन्हीं तीन दिशाओं में बढ़ता हुआ महाराष्ट्र के गाँव-गाँव में पहुँचा था। इस आंदोलन ने दलितों और स्त्रियों को अस्मितापरक बनाया। सुव्यवस्थित ढंग से दलित चिंतन को बहुआयामी स्वरूप दिया डॉ. आंबेडकर ने। इन्हें आधुनिक दलित विमर्श के आधार स्तम्भ के

रूप में माना जाता है। बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर ने दलितों पर लगी वर्जनाओं और प्रतिबंधों को हटाने हेतु कई आंदोलन और कार्यक्रम चलाए। अनेक कार्यनीतियाँ बनाईं दलित अधिकारों के लिए चलाए गए आंदोलनों में मंदिर प्रवेश, पानी के अधिकार के लिए महान आंदोलन तथा मनुस्मृति जलाना आदि प्रमुख है। धार्मिक शास्त्रों, ग्रंथों एवं मिथकों की सत्यता पर प्रश्न लगाकर वैज्ञानिक एवं विवेकशील सोच को विकसित किया, सत्ता में भागीदारी हेतु राजनीतिक पार्टी का गठन किया, पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से दलित मीडिया को दलित चेतना का वाहक बनाया, जाति तोड़ो अभियान चलाया, धर्मांतरण का कार्यक्रम चलाया, 'बहुजन समाज' की अवधारणा को पुष्ट कर दलित आंदोलन को व्यापक बनाया और स्वतंत्रता, भाईचारा और समानता के सिद्धांतों पर आधारित दलित अस्मिता और आत्मसम्मान के लिए संघर्षशील बनाया। शिक्षा, संघर्ष और संगठन का नारा दिया। इस प्रकार डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में दलित आंदोलन ने सचमुच एक नई करवट ली थी। पूरे देश का दलित वर्ग इससे जुड़ता चला गया। दलितों ने अपने ऊपर थोपी गई व्यवस्था के प्रतिरोध में एकजुट होकर बाबा साहेब के नेतृत्व में आंदोलन चलाया। डॉ. आंबेडकर द्वारा चलाए गए सामाजिक–सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक आंदोलन ने दलित चिंतन की सुगठित वैचारिक भावभूमि तैयार की, जिसका सिलसिलेवार अध्ययन हम आगे करने जा रहे हैं।

1.5 दलित चिंतन का उद्भव, विकास और वैचारिक आधार

भारतीय समाज की संरचना धर्मग्रंथों के आधार पर की गई है जिसका मुख्य आधार वर्ण–व्यवस्था है। उसके परिणामस्वरूप छुआछूत और ऊँच–नीच की प्रथा भारत की अद्भुत एवं भयानक सामाजिक वास्तविकता है। सुप्रसिद्ध दलित चिंतक डॉ. तुलसी राम इस संदर्भ में बड़े तार्किक ढंग से बताते हैं कि – वर्ण–व्यवस्था सिर्फ एक सामाजिक व्यवस्था नहीं थी बल्कि धर्म पर आधारित एक क्रूर राजनीतिक प्रणाली थी, जिसके मूल में भगवान का भय बड़ी कृत्रिमता से किंतु निहायत संगठित रूप से खड़ा किया गया था। अत. भारतीय समाज का पूरा इतिहास तथा साहित्य इसी वर्ण प्रणाली के इर्द–गिर्द शुरू से ही चक्कर काटता चला आ रहा है। ब्राह्मणों द्वारा रचित साहित्य को भी भगवान के मुँह से निकला बतलाकर वर्ण–व्यवस्था को अनंत तथा न्यायोचित ठहराया गया। सामान्यतया मुनस्मृति पर वर्ण–व्यवस्था के सृजन की जिम्मेदारी मढ़ दी जाती है किंतु इस कड़ी में याज्ञवल्क्य–स्मृति जैसी अनेक रचनाओं को भुला दिया जाता है। गीता को सीधे कृष्ण भगवान के मुँह से निकले वचनों का संग्रह माना गया। इसमें कर्मयोग का बड़ा गुणगान किया जाता है किंतु पांडवों को जमीन पर के अधिकार ग्रहण के लिए कृष्ण द्वारा युद्ध के लिए प्रेरित किए जाने को इसके अंतिम अध्याय (18वें) में वर्ण–व्यवस्था को न्यायोचित ठहराने को प्रायः नजरअंदाज कर दिया जाता है। इतना ही नहीं चाणक्य के अर्थशास्त्र का गुणगान करते हुए बड़े–बड़े विद्वान थकते नही हैं किंतु वे इस बात का उल्लेख कभी भी नहीं करते कि यह तथाकथित अर्थशास्त्र वर्ण–व्यवस्था को न्यायोचित ठहराने के एकमात्र उद्देश्य के लिए लिखा गया था। यही दशा सारे पुराणों की थी जिनका मूल उद्देश्य मिथकों के माध्यम से उसी वर्ण–व्यवस्था को बनाए रखना तथा सच्चे इतिहास को जुठलाना था। अतः वेदों से लेकर इन पुराणों तक के समस्त साहित्य को ब्राह्मण साहित्य कहा जाता है जिसका मूल आधार वर्ण–व्यवस्था को सबल बनाना था। ब्राह्मण साहित्य को सर्वप्रथम गौतम बुद्ध के नेतृत्व में बौद्धों ने चुनौती दी थी तथा बाद की कई शताब्दियों तक वर्ण व्यवस्था मृतप्राय–सी रह गई थी, किंतु छठी शताब्दी के बाद के दिनों में ब्राह्मणों द्वारा बौद्धों तथा बौद्ध साहित्य को विनष्ट कर देने की संगठित प्रकिया के चलते वर्ण–व्यवस्था तथा छुआछूत का विकराल रूप पुनजीर्वित हो उठा।

उक्त तथ्य के आलोक में कह सकते हैं कि वर्ण–व्यवस्था वैदिक धर्म की देन है। भारत में आर्यों के आगमन के साथ वैदिक संस्कृति भी आई और वैदिक धर्म, ग्रंथ एवं देवी देवताओं की मान्यताएँ स्थापित हुईं। पश्चिम तथा भारत के अधिकांश विद्वानों का विचार है कि भारत में आर्यों के आगमन के पहले लगभग 3000 ई.पू. में यहाँ के आदिवासी द्रविड़ों या अनार्यों की एक बहुत समृद्ध सभ्यता देश के पश्चिमोत्तर में थी जिसे 'सिंधु घाटी या मोहनजोदड़ो और हड़प्पा' कहा गया है। आर्यों–अनार्यों के संघर्ष के बाद यह सभ्यता विनष्ट हो गई। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक आर्य' में लिखा है : 'मोहनजोदड़ो और हड़प्पा' तथा ऐसे कितने नगरों के संहार के बाद सप्तसिंधु की विजित भूमि को पशुपाल आर्य जनों ने आपस में बाँटकर उसे गोचर भूमि में परिणत कर दिया। जब आक्रमणकारी आर्यों और भारत के मूल निवासियों के बीच टकराव हुआ तो उसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक भेदभाव तो अत्याधिक हुए ही, व्यवसायपरक भेदभाव भी पैदा हुए। 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास' में रामशरण शर्मा स्पष्ट करते हैं: 'उत्तर–वैदिक काल' में जब वर्ण–व्यवस्था की रचना हुई, तो द्रविड़ों अनार्य, दास, असुर, दस्यु और दूसरी आदिवासी जातियों को शूद्रों की श्रेणी में डाल दिया गया। आर्य यहाँ के मूल निवासियों को अपमानजनक नामों से पुकारते थे। उन्होंने इन्हें असुर, दस्यु, दैत्य, अनार्य, राक्षस, अनास, मृघ्रवाच, कृष्णवर्णा, दानव, शिश्नदेवा आदि नाम दिए।

हिंदू–व्यवस्था के सिद्धांतकारों, साहित्य और साहित्यकारों ने वर्ण–व्यवस्था को सनातन तथा शाश्वत के रूप में स्थापित किया तथा धीरे–धीरे लोगों में यह विश्वास फैलाया गया कि जाति प्रथा ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था है। इस ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था में पराजित आदिम जातियों के लोगों को सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया और भूमि में भी उनका कोई हिस्सा नहीं रहा। कालांतर में उन्हें चौथे वर्ण से बाहर गाँव के किनारे रहने के लिए विवश होना पड़ा। जो काम सबसे निम्न दर्जे के माने जाते थे वही उनको सौंपे गए, जिन्हें बाद में अस्पृश्य, पंचम और अछूत की संज्ञा दी गई। वे हिंदू जाति से संबद्ध तो थे परंतु उसका अंग नहीं थे क्योंकि चातुर्वर्ण्य समाज के सोपानीकृत विभाजन में उन्हें कोई स्थान नहीं दिया गया था। तमाम अशक्तताएँ इनके ऊपर लाद दी गईं। ऋग्वेद के दशम मंडल का सूत्र ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैर से शूद्र पैदा हुआ बताया गया है जिसके प्रभाव से भारतीय समाज आज भी मुक्त नहीं हो सका है। मनुस्मृति हिंदू परंपरा में सबसे प्रारंभिक स्रोत मानी जाती है। यह हिंदू समाज व्यवस्था की प्रमुख स्रोत भी है। मनुस्मृति में ऐसे अंश मिलते हैं जो व्यवस्था रचने वाले के पक्ष में और शूद्रों के विरुद्ध रचनाकारों और सिद्धान्तकारों की कुटिलता और क्रूरता को पुष्ट करते हैं। मनुस्मृति के कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकों के हिंदी अनुवाद से उक्त धारणा को समझा जा सकता है :

- ब्राह्मण को कठोर वचन कहने से क्षत्रिय एक सौ पण के, वैश्य हो तो दो सौ पण के दंड के योग्य होता है और शूद्र वध के योग्य होता है। (मनुस्मृति, 8/269)
- नाम और जाति लेकर यदि शूद्र द्रोह से द्विजों की निन्दा करे तो जलते हुए दस अंगुल लोहे की सलाखें उसके मुख में डाली जाएँ। (मनुस्मृति 8/79)
- यदि शूद्र अभिमान से विप्र को धर्म का उपदेश करे तो राजा उसके मुख और कान में तपाया हुआ तेल डाले। (मनुस्मृति 8/272)
- शूद्र को जूठा अन्न, पुराना वस्त्र, निकृष्ट धान्य और घर की निकृष्ट सामग्री देनी चाहिए। (मनुस्मृति 10/925)

उक्त कुछेक उदाहरणों से आप अंदाजा लगा सकते हैं कि इसको पढ़कर दलितों के मानस–पटल पर क्या प्रतिक्रिया हो सकती है। डॉ. तुलसी राम का मानना है कि–'वेद, पुराण, महाभारत, गीता, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्य–स्मृति, मनुस्मृति, रामायण, रामचरितमानस, कुमारिल भट्ट का श्लोकवार्तिक, तेजवार्तिक तथा शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्र भाष्य' आदि सभी दलित विरोधी साहित्य हैं जिनका मूल आधार वर्ण–व्यवस्था है। दलित चिंतन के दार्शनिक आधार को स्पष्ट करते हुए डॉ. तुलसी राम लिखते हैं :

'जहाँ तक आधुनिक दलित साहित्य के दार्शनिक आधार का प्रश्न है, इसका स्रोत निश्चित रूप से गौतम बुद्ध तथा अन्य बौद्ध दार्शनिकों का साहित्य है। बुद्ध पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने वर्ण–व्यवस्था पर ढाई हजार वर्ष पूर्व जमकर हमला बोला। श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनित नामक एक पीड़ित अछूत को अपने संघ में शामिल करके बुद्ध ने दलितोद्धार का एक ऐतिहासिक कदम उठाया। यही कारण था कि ब्राह्मण उनके जन्मजात दुश्मन बन गए किंतु शास्त्रार्थ में हार जाने कारण बड़ी संख्या में ब्राह्मण बुद्ध के शिष्य भी बनते गए। जिसके परिणामस्वरूप संपूर्ण बौद्धकाल में ब्राह्मण बौद्ध भिक्षुओं की संख्या लगभग नब्बे प्रतिशत बनी रही। बाद में ब्राह्मणों द्वारा बौद्ध विनाशकाल में यही ब्राह्मण भिक्षु बड़े पैमाने पर दल बदलकर पुनः टीकाधारी पंडे बन गए, जिसके कारण भिक्षु संघ यकायक चरमराकर टूट गया। यह प्रक्रिया शंकराचार्य के जमाने में चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इस संदर्भ में एक उल्लेखनीय एवं ऐतिहासिक तथ्य यह है कि बुद्ध के बाद उनके ब्राह्मण शिष्यों ने वर्ण–व्यवस्था पर हमला बोलने में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। बुद्ध के इन ब्राह्मण शिष्यों में सारिपुत्र मौद्गल्यायन तथा महाकाश्यप आदि अति प्रतिभाशाली थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म की संस्थापना में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। बुद्ध के जीवन काल में ही वर्ण–व्यवस्था का विरोध करने के कारण मौद्गल्यायन की भिक्षा माँगते समय एक वैदिक ब्राह्मण ने हत्या कर दी थी। इस तरह बुद्ध के समानता संबंधित दर्शन का प्रचार करने वाले मौद्गल्यायन पहले ब्राह्मण भिक्षु थे जिन्होंने अपना बलिदान दिया। बुद्ध के निर्वाण के करीब 600 साल बाद प्रसिद्ध बुद्ध चरित के महान कवि अश्वघोष पहले संस्कृत कवि थे, जिन्होंने वर्ण–व्यवस्था पर आक्रमण करते हुए 'वज्रसूची' अर्थात् 'हीरे की सुई' नामक एक लघु ग्रंथ लिखा था।'

बुद्ध से भी पहले लगभग चार हजार वर्ष पूर्व चार्वाक ने वर्ण–व्यवस्था का विरोध किया था किंतु समाज पर बुद्ध का प्रभाव ज्यादा व्यापक, गहरा और दीर्घकालीन रहा। बुद्ध के दर्शन का आधार समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व है। इन्होंने जन्म व जाति पर आधारित सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध अहिंसात्मक क्रांति का आह्वान किया। बौद्ध धर्म एक व्यवस्थित आंदोलन के रूप में स्थापित हो चुका था, लेकिन बुद्ध के वर्ण–व्यवस्था विरोधी विचारों का कट्टर एवं धर्मांध हिंदुओं ने (विशेषकर ब्राह्मणों ने) जमकर विरोध किया तथा ब्राह्मणवाद, वर्णवाद तथा जातिवाद को सशक्त बनाया। तथागत गौतम बुद्ध की दार्शनिकता से जो सामाजिक दृष्टि तैयार हो रही थी उसको ब्राह्मणवादियों द्वारा इतिहास से मिटाने की कोशिश की गई। बौद्ध चिंतक डॉ. तुलसी राम के शब्दों में "इस संदर्भ में उन्होंने हिन्दू धर्मावलंबियों ने हजारों बौद्ध मठों को ध्वस्त कर दिया तथा लाखों बौद्ध पांडुलिपियों को जलाने के साथ–साथ अनगिनत बौद्धों को मार डाला 184 ई. पू. में पुष्यमित्र शुंग ने धोखे से राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर तलवार के बल पर बौद्ध संस्कृति का विनाश करने का प्रयास किया और वैदिक धर्म के अनुरूप ब्राह्मण धर्म की स्थापना की।"

हिंदी दलित आलोचक प्रमोद सिंह के शब्दों में 700 ई. से 1300 ई. में ऐसे बौद्ध भिक्षु जो जीवित बच गए परंतु भारत से बाहर जाने में सफल नहीं हो सके अपने चीवर उतारकर

वज्रयानी सिद्ध और नाथपंथियों के नाम से लोकमानस में भ्रमण करने लगे। इनकी सबसे बड़ी विशेषता समाजगत बाह्याचारों, मिथ्या विधि–विधानों, आडंबरों, कर्मकांडों, पुरोहितों और कुलीनों के अभियान का खंडन तथा तत्कालीन लोकभाषा मागधी मिश्रित अपभ्रंश हिंदी का प्रयोग उसी प्रकार किया जिस प्रकार महामानव गौतम बुद्ध ने तत्कालीन लोकभाषा पाली का किया था। प्रमोद सिंह बौद्ध चिंतन परंपरा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैंः 'चौदहवीं शताब्दी में कबीर साहेब का जन्म हुआ। 1518 ई. तक वे उसी मत का नेतृत्व व प्रचार करते रहे जिसका सिद्धों और नाथों ने किया था। कबीर ने सिद्धों की बहुत सी चौपाइयों खासकर उलटवासियों का ज्यों का त्यों अथवा अक्षरशः अनुवाद किया है। सिद्धों की भाँति ही उन्होंने संस्कृत और अरबी–फारसी छोड़कर तत्कालीन लोकभाषा में ही अछूत और अछूतों से बने मुस्लिम समाज में अमानुषिक समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का स्वर तेज किया।' गौतम बुद्ध से लेकर कबीर तक के सांस्कृतिक विचारों या चिंतन के संबंध में हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार रामधारी सिंह 'दिनकर' अपनी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में उल्लेख करते हैं :

कबीर साहेब के समय हिंदू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति की धाराएँ बह रही थीं। उन्होंने दोनों संस्कृतियों को नकार दिया और हिंदू–मुस्लिम संस्कृतियों के समानान्तर तीसरी संस्कृति को उभारा जो आगे चलकर कबीर पंथी संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध हुई। कबीर का अनुयायी वही जनमानस बना जो कभी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। दलित चिंतक प्रमोद सिंह बताते हैं कि 'कबीर पंथ में यदि कोई त्रुटि रही तो बस इतनी कि उसकी कोई संस्कार व्यवस्था नहीं थी जिसके अभाव में कुछ कबीरपंथी हिंदू संस्कारों से और कुछ मुस्लिम संस्कारों से जुड़े रहे।' मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के संतों ने मूर्तिपूजा तथा जातिगत आचरण की निंदा की, समाज में व्याप्त कुरीतियों तथा अंधविश्वासों की आलोचना की, धार्मिक आडंबर तथा पुरोहितवाद का खंडन किया, नैतिक आदर्श और सीधे–सादे जीवन पर बल दिया। इस प्रकार जातिवाद एवं छुआछूत की कठोरताओं पर प्रहार करने में संतों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। हालाँकि संत कवियों के बारे में डॉ. दलित साहित्य चिंतन का वैचारिक आधार तुलसी राम बेबाक टिप्पणी भी करते हैं; इनका मानना है कि 'अनेक दलित संत कवि हुए किंतु उन सभी ने परोक्ष रूप से ब्राह्मणवाद को ही मजबूत करने में अपनी भूमिका अदा की। नंदनार, चोखामेला तथा रविदास जैसे महान दलित संत इसी श्रेणी में आते हैं। नंदनार को तो ब्राह्मणों ने तमिलनाडु के 53 शिव भक्त संस्कृत कवियों की श्रेणी में रखा था। चोखामेला की स्थापना थी कि वह इस जन्म में दलित इसलिए हुए थे क्योंकि पिछले जन्म में उन्होंने खराब काम किया था। इन दलित संत कवियों में कबीर ही एक ऐसे थे जिन्होंने वैदिक या ब्राह्मणीय वर्ण–व्यवस्था पर खुला प्रहार किया था। 'बुद्ध के समय से ही भारत में संस्कृति की दो धाराएँ बहुत ही स्पष्ट रही हैं। एक धारा वह है जो वर्णाश्रम धर्म को अक्षुण्ण रखना चाहती है जिसका विश्वास वेदों, पुराणों, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में है और जो धर्म के स्मृति रूपों पर श्रद्धा रखती है; मंदिर, मूर्ति, तीर्थ और व्रत में विश्वास करती है। इस धारा के आचार्य मनु, शंकर तथा उनके कवि कालिदास, जयदेव, विद्यापति और तुलसीदास हैं। दूसरी धारा वह है जो बुद्ध के कमंडल से निकलकर बौद्ध आचार्यों से होकर सरहपा, नाहपा आदि सिद्धों में पहुँची और उनके कवि कबीर, दादू हैं।' उक्त कृति में ही रामधारी सिंह दिनकर आगे और स्पष्ट करते हैः 'इस देश में वेद विरोधी लोगों का दल बहुत बड़ा हो गया था और जो बातें मुसलमानों के आगमन के बाद कबीर, दादू, नानक ने कहीं उन उपदेशों का सिक्का बौद्ध संत (सिद्ध लोग) जनता के मन पर पहले ही (सातवीं–आठवीं–नौवीं सदियों में) बिठा चुके थे। जिसने सिद्धों

के पद पढ़े हैं वह यह नहीं मान सकता कि नानक, कबीर दादू के प्रादुर्भाव का एकमात्र कारण इस्लाम था। इस्लाम सूफियों का प्रभाव इन संतों पर अवश्य पड़ा किंतु उनके वास्तविक पूर्वज मुस्लिम सूफी नहीं प्रत्युत बौद्ध सरणी के सिद्ध संत थे जिन्होंने धर्म के बाह्याचार पर उतने ही भीषण प्रहार किए थे, जितने भीषण प्रहार आगे चलकर निर्गुणिया संतों ने किए। कबीर की बहुत सी बातों में हम सिद्धों की उक्तियों की आवृत्ति पाते हैं।

आधुनिक युग में दलित आंदोलन की लहर महाराष्ट्र से पैदा हुई थी जिसने सिर्फ भारत का ही नहीं बल्कि पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट किया है। इसके अग्रदूत महात्मा ज्योतिबा फुले (सन् 1827–1890 ई.) को माना जाता है। म. फुले ने ब्राह्मणवाद और जाति प्रथा के खिलाफ विद्रोह किया था। उन्होंने दलित-पिछड़ी जातियों (बहुजन समाज) तथा स्त्रियों की मुक्ति लिए सामाजिक आंदोलन चलाया था। वे पहले भारतीय थे जिन्होंने महाराष्ट्र में अछूतों और लड़कियों के लिए स्कूल खोला था। दलित कवि और चिंतक कंवल भारती 'दलित विमर्श' की भूमिका में फुले के बारे में लिखते हैं कि "वे शूद्रों अतिशूद्रों और स्त्रियों का अज्ञान दूर करके उनकी गुलामी की जंजीरें तोड़ना चाहते थे। उन्होंने ब्राह्मणी शास्त्रों, पुरोहितवाद और जातिप्रथा पर जो कठोर प्रहार किया, आगे चलकर वही डॉ. आंबेडकर की किताब 'जाति का उन्मूलन' का आधार बना। म. फुले ने 1873 में 'सत्य शोधक समाज की स्थापना की थी और इसी वर्ष उनकी क्रांतिकारी पुस्तक 'गुलामगिरी' प्रकाशित हुई जिसने वर्ण–व्यवस्था की जड़ों को झकझोर दिया था।''

दलित चिंतन को वैचारिक आधार प्रदान करने वालों में केरल के नारायण गरु (105) का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। इन्होंने जाति प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चलाया था। वह केरल की ईझाव नाम की दलित जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने सभी मनुष्यों के लिए एक जाति, एक धर्म और एक ईश्वर की घोषणा की थी। उनका लोकप्रिय नारा था जाति मत पूछो, जाति मत बताओ और जाति के बारे में मत सोचो। जाति की धारणा को खत्म करने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण नारा था। वर्णव्यवस्था के खिलाफ उनके विद्रोह का तरीका भी क्रांतिकारी था। उन्होंने न तो मंदिरों का विरोध किया और न मूर्तिपूजा का। उन्होंने नए मंदिर बनाए, जिनमें अछूत बिना रोक–टोक के जा सकते थे। ब्राह्मणों के मंदिरों में अछूतों के प्रवेश पर रोक थी। ऐसी स्थिति में अछूतों के लिए मंदिर बनाना ब्राह्मणों के खिलाफ खुला विद्रोह था, वर्ण व्यवस्था के लिए बहुत बड़ी चुनौती थी। अय्यप्पा पणिक्कर ने अपने एक लेख में लिखा है, 'अरूविप्पुरम के अछूत शिव की मूर्ति की स्थापना करना उनके प्रतिरोध का एक काव्यात्मक तरीका था' नारायण गुरु के आंदोलन ने केरल में साहित्य में नई रचनाशीलता को जन्म दिया। करूप्पन और कुमार आशान जैसे रचनाकार इसी आंदोलन की देन थे, जिन्होंने जाति–प्रथा पर प्रहार करने वाली रचनाएँ लिखी थीं। नारायण गुरु का आंदोलन सिर्फ मंदिर निर्माण नहीं था। वह तो ब्राह्मणवाद के खिलाफ विद्रोह का प्रतीक मात्र था। मुख्य रूप से वे दलितों के लिए स्कूल खोलने और उनके सामंती शोषण के विरुद्ध संघर्ष में आंदोलनरत थे। उन्हें अपने इस लक्ष्य के लिए ब्राह्मण और नायर जमींदारों के क्रोध का भी सामना करना पड़ा।

दक्षिण भारत में जाति–प्रथा और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आंदोलन चलाने वाले पेरियार रामास्वामी नायकर (1879–1973) थे। वे एक गैर–ब्राह्मण परिवार में मद्रास (आज के तमिलनाडु) में ईरोडु नाम के कस्बे में जन्मे थे। ये गड़रिया जाति के थे, जो दक्षिण भारत में नायकर कहे जाते हैं। इनके जीवन पर छुआछूत का बहुत गहरा असर पड़ा था। वे अछूत बालकों के साथ बचपन से खेलते थे, जिसके लिए उन्हें अपने घर में विरोध झेलना पड़ता था।

अछूत बालकों को पढ़ने पर रोक थी। यह देखकर दस वर्ष की अवस्था में उन्होंने भी स्कूल जाने से इनकार कर दिया था। अतः वे प्राइमरी कक्षा तक ही पढ़ सके थे। वे राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस में शामिल हुए। पर 1925 में उन्होंने पार्टी में ब्राह्मणवाद के वर्चस्व से दुखी होकर कांग्रेस त्याग दी और जस्टिस पार्टी में शामिल हो गए। 1944 में उन्होंने द्रविड़ कशगम की स्थापना की थी। रामास्वामी नायकर को दक्षिण भारत में ब्राह्मणवाद के खिलाफ व्यापक जन–चेतना जाग्रत करने का श्रेय जाता है। वे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। उनका कहना था – ईश्वर नहीं है, जिसने ईश्वर का आविष्कार किया वह मूर्ख है, जिसने ईश्वर का प्रचार किया वह दुष्ट है और जिसने ईश्वर की पूजा की वह असभ्य है। वह धर्मशास्त्रों की पवित्रता में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने रामायण का अपने स्तर से अध्ययन किया था, और 'रामायना एण्ड रीडिंग' पुस्तक लिखकर उन समस्त धारणाओं और आस्थाओं को ध्वस्त कर दिया था, जो ब्राह्मणों ने आम जनता में पैदा की थीं। इस पुस्तक ने इतना तहलका मचाया कि सरकार को उस पर रोक लगानी पड़ गई। उनमें ब्राह्मणवाद के खिलाफ इतना जबरदस्त विद्रोह था कि उन्होंने दशहरे के अवसर पर रावण–दहन के विरुद्ध राम, लक्ष्मण और भरत के पुतले जलवाए थे। रामास्वामी नायकर ने स्पष्ट घोषणा की थी, 'भारत में जब तक ईश्वर का अस्तित्व रहेगा, तब तक छुआछूत रहेगी। उन्होंने कठोर शब्दों में कहा, 'जिस देश में अस्पृश्यता जैसी प्रथा चालू है, वह देश अग्नि, जल–प्रलय, भूकंप आदि से नष्ट क्यों नहीं हो जाता है। उन्होंने यहाँ तक कहा, 'अछूत लोगों के लिए क्या यह वांछनीय नहीं है कि वह शक्ति अथवा हिंसा के बल पर इन विषमताओं से मुक्ति प्राप्त करें या इस प्रयत्न में अपने को समाप्त कर डालें। रामास्वामी नायकर अछूत और पिछड़ी जातियों तथा स्त्रियों की शिक्षा के इस हद तक समर्थक थे कि उन्होंने इसमें बाधा बनने वाले ब्राह्मणों को हमेशा के लिए शिक्षा से वंचित कर देने की आवाज उठाई थी। उन्होंने कहा था कि कम से कम पन्द्रह वर्षों तक ब्राह्मणों और उच्च वर्ग का कॉलेज तथा तकनीकी संस्थानों में प्रवेश रोक देना चाहिए, तभी वर्णव्यवस्था को खत्म किया जा सकता है।

उत्तर भारत में स्वामी अछूतानंद (1879–1933), बंगाल में चाँद गुरु (1850–1930) और मध्य प्रदेश क्षेत्र में गुरु घासीदास (1756) जाति–भेद के खिलाफ जन–जागरण कर रहे थे। स्वामी अछूतानंद उत्तर भारत में 'आदि हिंदू आंदोलन' के प्रवर्तक थे। वे दलितों को आदि निवासी मानकर उन्हें आदि हिन्दू कहते थे। इसी धारणा से जुड़ा आदि धर्म आंदोलन पंजाब में चल रहा था, जिसने पंजाब के दलितों को सबसे ज्यादा आकृष्ट किया था। आदि हिंदू आंदोलन का मकसद दलितों को उनके इतिहास से जोड़ना था और उन्हें यह बताना था कि ब्राह्मणों ने किस तरह उन्हें इतिहासहीन बनाकर अपना गुलाम बनाया है। अछूतानंद जी आरंभ में आर्य समाजी थे। पर वे शीघ्र ही आर्य समाज से अलग हो गए थे। उन्होंने आर्य समाज के बारे में कहा कि इसका उद्देश्य ईसाइयों और मुसलमानों से शत्रुता बढ़ाकर हिंदुओं को वेदों तथा ब्राह्मणों का दास बनाना है। उन्होंने कहा कि आर्य समाज की शुद्धि ढोंग है और उसके गुण–कर्म की वर्णव्यवस्था झूठा शब्द जाल है। स्वामी जी ने आर्य समाज के मोह जाल से दलितों को निकालने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। स्वामी जी ने अपने आंदोलन के लिए 'आदि हिंदू' प्रेस स्थापित किया और 'आदि हिंदू तथा' अछूत नामक अखबारों का प्रकाशन किया। वे हिंदी क्षेत्र में पहले दलित लेखक, पत्रकार और संपादक थे। दलितों के इतिहास पर लिखी उनकी पुस्तकें, कविता और नाटक जनता में हाथों हाथ बिकती थीं और उनसे परिवर्तन का वातावरण बनता था।

चाँद गुरु बंगाल की एकनाम (या नमः) शूद्र जाति में पैदा हुए थे। दलितों को वहाँ 'चंडाल कहा जाता था। ये लोग–शिक्षा से वंचित थे। शिक्षा ग्रहण करने को वे पाप समझते थे जिससे

भयंकर अनिष्ट होता है, ऐसी धारणा इन लोगों के बीच प्रचलित की गई थी। इसी धारणा के कारण चाँद गुरु भी पढ़ नहीं सके थे। उन्होंने इस धारणा का खंडन किया और स्वयं पाठशाला खोल कर उसमें दलित बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था की। 1891 में उन्होंने 'चंडाल' शब्द के विरुद्ध आंदोलन चलाया। यह वैसा ही आंदोलन था, जैसा कि गांधीजी के 'हरिजन' शब्द के खिलाफ दलितों ने चलाया था। चाँद गुरु के प्रयासों से ब्रिटिश सरकार ने 'चंडाल' शब्द के खिलाफ आदेश जारी किया। आदेश में कहा गया कि वे लोग चंडाल नहीं हैं और उन्हें चंडाल बोलना दंडनीय अपराध माना जाएगा। यह एक बहुत बड़ी क्रांति थी, जो सफल हुई थी। चाँद गुरु ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था से टक्कर लेने के लिए 'मतुआ' धर्म चलाया था। दरअसल वे नाम शूद्रों में अंधविश्वास और गलत धारणाओं को एक नई व्यवस्था देकर ही ध्वस्त कर सकते थे। इसका बड़ा प्रभाव हुआ। 1842 तक इसने एक विशाल आंदोलन का रूप धारण कर लिया था। इस आंदोलन के द्वारा उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि छुआछूत की जो व्यवस्था ब्राह्मणों ने बनाई है, उसे शूद्र समाज नहीं मानता। उनको मंदिर प्रवेश नहीं चाहिए। उनका अपना अलग मंदिर होगा। उन्होंने कहा कि हम यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि हमें समाज में केवल निकृष्ट कार्य करना चाहिए और हम अच्छे कार्य नहीं कर सकते। 1912 में उन्होंने 'नमः शूद्र' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, जिसके संपादक आदित्य चौधरी थे। इससे अनुप्राणित होकर 1914 में चाँद गुरु के अनुयायी मुकुंद मलिक ने 'पताका पत्रिका निकाली और उसके बाद ढाका से एक और पत्रिका' नमः शूद्र हितैषी' भारत चंद सरकार के संपादन में निकली। कहा जाता है कि बंगाल में 'चंडाल' कहे जाने वाले दलितों को नमः शूद्र नाम चाँद गुरु ने ही दिया था और यह नाम संभवतः उनके मतुआ धर्म में परस्पर अभिवादन के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द था।

मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ इलाकों में जागरण की ज्योति गुरु घासीदास ने जलाई। उनका जन्म गिरौद गाँव में एक दलित परिवार में हुआ था। वे धार्मिक प्रवृत्ति के संत थे। उन्होंने सतनामी संप्रदाय' स्थापित किया और उसके माध्यम से दलित जातियों को संप्रदाय में शामिल कर सतनामी बनाया। दलितों के बीच जातीय भेदभाव को दूर करने में सतनामी आंदोलन ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई। सतनामी धर्म के बारह नियम थे, जो इस प्रकार थे – (1) मनुष्य की एक ही जाति है, वह है मानव–जाति, (2) हिंसाचार न करो, (3) मनुष्य का एक ही धर्म सतधर्म है, (4) मदिरा पान न करो, (5) अंधविश्वासी और परंपरावादी न बनो, (6) भाईचारा मेल–मिलाप बढ़ाओ, (7) हीन भावना को त्याग दो, (8) स्त्री–पुरुष समान हैं, (9) मूर्ति–पूजा मत करो, मंदिर में मत जाओ, (10) मेहनत करके कमाओ, खाओ, (11) अपनी व्यवस्था पर अटल रहो और (12) जीवित शरीर को मुर्दा बनाकर मत रखो। उनके आंदोलन के तीन सूत्र थे – सतनामी बनो, संगठन बनाओ और संघर्ष करो। उनका समय 1800 के आस-पास का है।

दलित चिंतन का यह स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न रूपों में होने के बावजूद जाति प्रथा के उन्मूलन के मुद्दे पर दलित चिन्तक कंवल भारती 'दलित विमर्श' की भूमिका में लिखते हैं – "यद्यपि इन आंदोलनों के प्रवर्तक ईश्वरवादी थे (रामास्वामी नायकर को छोड़कर) परंतु उनका ईश्वर ब्राह्मणों के ईश्वर से भिन्न था, जिसने वर्णव्यवस्था बनाई थी और जिसने शूद्रों को अपने पैरों से पैदा किया था। इस सांप्रदायिक ईश्वर में अनास्था के कारण ही वे जातिप्रथा और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध विद्रोह कर सके थे। उनका ईश्वरवाद स्पष्ट रूप से कबीर का निर्गुणवाद ही था। यही कारण था कि महात्मा फुले प्रार्थना समाज में शामिल नहीं हुए थे, क्योंकि वहाँ वह ईश्वर नहीं था जिसे फुले मानते थे। इन आंदोलनों ने जो सामाजिक परिवर्तन

का वातावरण बनाया, उसे दलितों ने तो पसंद किया, पर ब्राह्मण व्यवस्था पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।'' जैसा कि डॉ. आंबेडकर ने लिखा है, "इन आंदोलनों में अपीलों और प्रतिरोधों पर जोर था। फिर भी दलित आंदोलनों का यह प्रथम चरण था, जिसने दूसरे चरण के आंदोलन के लिए मार्ग प्रशस्त किया था।" निःसंदेह दूसरे चरण के दलित आंदोलन के प्रवर्तक डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर हैं। इस आंदोलन की विशेषता यह है कि इसने हिंदू व्यवस्था के विरुद्ध सीधी कार्यवाही (डायरेक्ट ऐक्शन) के रूप में खुला विद्रोह किया। खुले शब्दों में आप समझ सकते हैं कि सामूहिक रूप से हिंदू व्यवस्था का उल्लंघन किया था। यह परिवर्तन 1920 के आसपास आया। डॉ. आंबेडकर अपने निबंध 'अछूतों का विद्रोह' में लिखते हैं कि ''दलित आंदोलन में यह परिवर्तन दो कारणों से आया। पहला कारण यह था कि दलितों को यह अनुभव होने लगा था कि अपीलें और प्रतिरोध हिंदू व्यवस्था को बदल नहीं सकते, क्योंकि हिंदुओं के दिलों पर उनका कोई असर नहीं होता था। दूसरा कारण यह था कि सरकार ने सभी सार्वजनिक सुविधाएँ और संस्थाएँ दलितों के लिए खोलने की घोषणा कर दी थी, परंतु हिंदुओं के विरोध के कारण दलित उनका उपयोग नहीं कर पा रहे थे। अंततः सीधी कार्यवाही करने के सिवा अपने अधिकार को पाने के लिए अन्य कोई रास्ता दलितों के पास बचा ही नहीं था।" इस संदर्भ में विस्तृत चर्चा इसी इकाई में हम लोग आगे करेंगे। फिलहाल यहाँ यही कहा जा सकता है कि दलित चिंतन की वैचारिक भावभूमि तैयार करने में बुद्ध के बाद फुले और डॉ. आंबेडकर की अग्रणी भूमिका रही है। इन दोनों व्यक्तित्वों को हम लोग अलग–अलग समझने–परखने का प्रयास करें।

बोध प्रश्न 2

6. 'दलित पैंथर' की स्थापना किस अमेरिकी आंदोलन से प्रेरणा लेकर की गई थी?

   क) ब्लैक पैंथर ख) येलो पैंथर

   ग) ह्वाइट पैंथर घ) बिटनिक पीढ़ी

7. ''जहाँ तक आधुनिक दलित साहित्य के दार्शनिक आधार का प्रश्न है, इसका स्रोत निश्चित रूप से गौतम बुद्ध तथा अन्य बौद्ध दार्शनिकों का साहित्य है।'' यह कथन किस दलित साहित्यकार का है?

   क) माता प्रसाद ख) ओम प्रकाश वाल्मीकि

   ग) तुलसीराम घ) रमणिका गुप्ता

8. ''वे शूद्रों अतिशूद्रों और स्त्रियों का अज्ञान दूर करके उनकी गुलामी की जंजीरे तोड़ना चाहते थे।'' दलित साहित्यकार कंवल भारती ने उपर्युक्त वाक्य किस सामाजिक चिंतक के लिए लिखी हैं?

   क) महात्मा गांधी ख) पेरियार

   ग) आंबेडकर घ) महात्मा ज्योतिबा फुले

1.6 महात्मा ज्योतिबा फुले का वैचारिक संघर्ष

यह दुःख का विषय है कि भारत जैसे विशाल देश में विविध संप्रदायों, धर्मों तथा जातियों के जटिल जमघट में मनुष्य को अनेक प्रकार की सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं के

झंझावाती थपेड़ों को निरंतर झेलने–सहने पड़े हैं। यहाँ हम लोग एक लोकनिष्ठ महात्मा के माध्यम से समाज के उन गर्हित चित्रों का अनावरण करेंगे जिनको देखकर वे सभी लोग स्तब्ध होकर अपना सिर झुका लेंगे जिन्होंने ऐसे घृणास्पद चित्रों की रचना की है तथा मानवता को खंडित करके युगों से ऐसे चित्रों की खुली प्रदर्शनी आज भी लगा रखी है। ऐसे लोग भारत के हिन्दू समाज में जातिगत भेदभाव उत्पन्न करके दलित तथा बुद्धिहीन लोगों को नरक और स्वर्ग का भय दिखाकर तथा प्रलोभन देकर निरन्तर उनका शोषण करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। यद्यपि ऐसे लोग यह भली–भांति समझते हैं कि जातीय व्यवस्था का समूचा ढाँचा जड़ से चरमरा गया है– सारी जातीय व्यवस्था छिन्नमूल हो गई है– फिर भी उसे निरस्त और समाप्त करने में वे ऊहापोह कर रहे हैं क्योंकि इससे उनको सुविधा और लाभ है।

महात्मा ज्योतिबा फुले को इस जातीय असमानता तथा आर्थिक विषमता से घोर नफरत थी। ज्योतिबा फुले का जन्म सन् 1827 ई. को महाराष्ट्र की एक माली जाति के परिवार में हुआ था। पूना के आस–पास माली जाति के लोगों को फुले (फुले वाले) कहा जाता है। ज्योतिबा के पिता का नाम गोविन्द राव और माता का नाम चिमनाबाई था। इनसे दो पुत्र हुए – ज्योति और राजाराम। जहाँ एक ओर फुले परिवार की स्थिति संभल गयी थी वहीं दूसरी ओर अंग्रेज शासन और बाजीराव पेशवा जैसे भ्रष्ट शासन में व्याप्त जातिगत द्वेष के कारण मराठा शासन डगमगा उठा। मराठा शासन उस समय ब्राह्मणों की नियुक्तियों, उन्हीं की प्रोन्नतियों तथा उन्हीं की वरीयता को अपने शासन प्रबन्ध की मूल नीति बना चुका था। कभी–कभी मनुष्य अपनी मिथ्या ऊँचाइयों की मदान्धता में अपने वास्तविक स्तर और स्थिति को भूल जाता है। समाज में संकीर्णता की पराकाष्ठा आकाश छूने लगी। बाजीराव पेशवा ने उन्हीं ब्राह्मणों को भेंट, उपहार, दान, नौकरियाँ, इनामी भूमि दी जो 'चित्तपावन' उपजाति के थे। ब्राह्मणों की अन्य उपजातियाँ राजकीय सम्मान और पुरस्कारों की प्राप्ति सूची में चित्तपावन ब्राह्मणों से नीचे थीं।

आज मानवता शर्म से सिर नीचा कर लेगी यह जानकर कि पेशवा शासन में ब्राह्मणवादी भावना सामान्य आचार व्यवहार में खतरनाक रूप में उतरी थी। उन दिनों महाराष्ट्र में ब्राह्मणवादी लीला देखकर जब देखने वालों की दृष्टि दहल जाती थी तब भोगने वालों की दारुण भय विदारक दशा को क्या कहा जाय। महाराष्ट्र के समस्त ब्राह्मण बाजीराव पेशवा को कृष्ण का अथवा शिव का अवतार मानकर कुछ चापलूसी में और कुछ दिखावे में उसकी अर्चना–वन्दना करते थे। इससे ब्राह्मण प्रचुर लाभ उठाते थे। पेशवा शासन की नीति थी कि ब्राह्मण जाति के लोग ब्राह्मणेतर जातियों पर शासन करें और वे समाज में सर्वोपरि रहें। ब्राह्मणों में यह भाव इतना प्रबल था कि सारा समाज उनके व्यवहार में कठोर यातना का अनुभव करने लगा। उधर शासन की ओर से ब्राह्मणों को हर तरह की छूट थी। जमीन आधे लगान पर दी जाती थी। टैक्स की छूट थी। यदि ब्राह्मण से कोई अपराध हो जाय तो कोई दण्ड नहीं था। सभी प्रकार की संपत्ति, पुरस्कार, उपहार, दान आदि केवल ब्राह्मणों के लिए आरक्षित थे। बाजीराव द्वितीय चालीस हजार निर्धन और असहाय ब्राह्मणों के भोजन की व्यवस्था स्थायी रूप से करता था। अकाल पड़ जाने पर पेशवा केवल ब्राह्मणों की सहायता करता था। पूना में असंख्य ब्राह्मणों के भोज में बड़ा शोर शराबा होता था। उनके मन्त्रोच्चार का अतुल नाद आकाश में गूँज उठता था।

दूसरी ओर पेशवा के अधिकारी खेतों में काम करने वाले मजदूरों को नाना प्रकार की ताड़ना देते थे। डॉ. ब्रजलाल वर्मा के शब्दों में यदि कृषक अकाल अथवा सूखा पड़ने पर अधिकारियों

की माँग पर अपेक्षित धनराशि की व्यवस्था नहीं कर पाते थे तो वे अधिकारी खौलते हुए कड़ाही का तेल लेकर कृषकों के बच्चों पर उड़ेलते थे। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार की यन्त्रणाओं में सबसे कठिन यन्त्रणा थी मजदूरों और कृषकों की पीठ पर पत्थर के ढेले मार—मार कर उनको जख्मी कर देना। उनकी पीठ पर कोड़े बरसाये जाते थे। सुलगती हुई आग धुएँ में उनके सिर झुका दिये जाते थे। उनकी नाभि और उनके कानों में बारूद भरकर सुलगा दिया जाता था। पेशवा युग के ब्राह्मणों की मान्यता थी कि छोटी जातियों के लोग उनकी सेवा करने के लिए गुलाम थे और उनका जन्म ही अनाज उगाने, कपड़ा तैयार करने तथा कड़ाके की धूप में काम करने के लिए हुआ था। ब्याज खाने वाले महाजन ब्राह्मण ही थे जो सीधे पेशवा के अधीन थे। अतः वे भी ऋण लेने वाले किसानों मजदूरों को अपने ढंग से पीड़ित करते थे। ब्राह्मण महाजन कर्ज लेने वाले निर्धन लोगों से उनके बच्चे, स्त्री आदि तब तक के लिए लिखा पढ़ी के साथ गिरवी रखवा लेते थे जब तक कि उनके गिरवी रखे हुए व्यक्तियों, आभूषणों अथवा जमीन को छुड़ाने के लिए पूरा ब्याज और मूलधन न अदा हो जाय। परिणाम यह होता था पीढ़ी दर पीढ़ी तक निर्धन किसानों और मजदूरों के लड़के, लड़कियाँ, स्त्रियाँ बंधक के रूप में उन ब्राह्मण महाजनों के गुलाम के रूप में काम करते थे। यह महाजन किसानों का सामान बलात छीन लेते थे। उनके स्त्री—बच्चों को निरन्तर कष्ट देते थे। उनके जानवर हड़प कर लेते थे। यदि सात रुपये का लगान कोई किसान नहीं दे पाता था तो उसके खेत बरबस महाजन अपने अधिकार में कर लेते थे। फलस्वरूप बहुत से निर्धन असहाय इस चक्रवृद्धि ब्याज के कुचक्र में बुरी तरह फंसकर और धनाभाव में पिसकर अकाल काल कवलित हो जाते थे। बाजीराव पेशवा की कामुक विलास एवं व्याभिचार की कहानी शब्दों में कहना सम्भव नहीं। जिस दिन पेशवा का किसी भी बस्ती में आगमन होना होता था उसके एक दिन पूर्व संध्या में पेशवा के बलात्कार तथा सतीत्व हरण के भय से सुन्दर स्त्रियाँ आत्महत्या कर लेती थीं। पेशवा द्वितीय की राजधानी जघन्य अनैतिकता की पिछली परंपरा का केन्द्र बनी हुई थी। पूना नगर के कितने ही प्रतिष्ठित सम्मानित तथा सम्भ्रान्त लोग शहर छोड़ कर चले गये। नगर में भ्रष्ट पेशवा परस्त लोग ही रह गये जिनकी दिनानुदिन की दुष्टजीवन प्रणाली का ऐसा दुष्प्रभाव पड़ा कि सन् 1818 मैं बाजीराव द्वितीय के शासन का पतन हो गया। परन्तु उसके लिए जनता में किसी प्रकार का पश्चाताप या सहानुभूति नहीं जगी। पूना के महिला समाज के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। स्त्रियाँ यह कहती हुई सुनी गईं कि हम अत्यन्त प्रसन्न हैं कि पेशवा के विलासी शासन का अन्त हो गया। दुष्ट को अपने किये का वही दण्ड मिला जिसका वह पात्र था।

पेशवा के दुर्दम अत्याचारों, ताण्डव तथा ब्राह्मणों के अक्षम्य अपराधों से शासन जर्जर हो गया था। आए दिन जनता उत्पीड़ित होती थी। निर्धनों की आह कराह पेशवा के समग्र विनाश का अनिवार्य कारण बन गयी। किसानों ने आनन्द की दुन्दुभी बजाई—मजदूर हर्षातिरेक से नाच उठे—स्त्रियाँ, बाल, वृद्ध सभी उल्लसित होकर झूमने लगे। जातिगत ऊँचाई की विभेदकारिणी मिथ्या मनोवृत्तियों में फँसे ब्राह्मणों में विषाद और निराशा का संचार होने लगा। जिन्होंने अपने को स्वयंभू मानकर भूसुर (पृथ्वी के देवता) होने की घोषणा की थी अब उनके विरुद्ध समाज में तीव्र प्रतिक्रिया होने लगी। शिवाजी द्वारा स्थापित मराठा राज्य जिस पर लगभग एक शताब्दी तक ब्राह्मणों का आधिपत्य रहा, ध्वस्त हो गया किन्तु गाँव पंचायतों पर इस केंद्रीय सत्ता के परिवर्तन का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वहाँ अब भी ब्राह्मणों को विष्णु का अवतार माना जाता था। चालाक ब्रिटिश शासक इस बिन्दु पर बहुत सावधान थे। उन्होंने ग्राम स्तर को किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं किया तथा ग्राम पंचायतों के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं

किया। इस सारे परिदृश्य पर पूना के पत्र 'लोकहितवादी' ने लिखा 'ब्राह्मणों ने देश को बरबाद कर दिया। मराठों की राजधानी पूना का पतन हो गया तथा उसका समस्त वैभव ध्वस्त हो गया। मराठा राज्य विदेशी ब्रिटिश शासन के अधिकार एवं प्रभाव में आ गया। उन दिनों पूना विद्वान ब्राह्मणों का गढ़ था। वहाँ की शेष जनता में अज्ञान, अनैतिकता तथा रोगों का संक्रमण हो गया। राजमार्ग नष्ट हो गये। ऊँट, घोड़े पालकी ही अब यातायात का साधन बन गये। सामाजिक रीति–रिवाज संकीर्णता की मजबूत डोरियों में कस गये। स्त्रियाँ जूता पहनकर नहीं चल सकती थीं, केवल सम्पन्न घराने की स्त्रियाँ ही जूते पहन सकती थीं। मानव जीवन अस्त–व्यस्त हो गया। सारा समाज अज्ञानान्धकार में किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर विक्षिप्त सा दिखाई पड़ता था।'

एक बार ज्योतिबा फुले के ब्राह्मण मित्र का विवाह था। उन्हें भी निमन्त्रण मिला था। ब्राह्मण मित्र की बारात में वे भी सम्मिलित हए। दूल्हे के साथ बारात सज–धज कर जा रहा थी– ज्योतिबा भी बारात के साथ जा रहे थे। बारात में प्रायः ब्राह्मण जाति के लोग थे। बारात में एक ब्राह्मण ने ज्योतिबा को ब्राह्मणों के साथ चलते पहचान लिया। उसको यह सहन न हुआ। उसने उग्र आवेश में ज्योतिबा को डाँटकर कहा, "ब्राह्मणों के साथ चलने की तेरी हिम्मत कैसे पड़ी? अरे शूद्र! तूने जातीय व्यवस्था की सारी मर्यादा ही तोड़ दी? तूने हम सबको अपमानित किया? तू जब हमारे बराबर नहीं है तो तुझे ऐसा करने से पहले सौ बार सोचना चाहिए था। बारात के तू पीछे चल या फिर यहाँ से चला जा। क्या कहा जाय लोगों ने आजकल सारी लाज–हया को तिलांजलि दे रखी है। ब्रिटिश शासन में इन लोगों ने जाति व्यवस्था के सारे नियम ताक पर रख दिये हैं तथा दिन प्रतिदिन धृष्टतापूर्वक अहंमन्य होते जा रहे हैं।" ज्योतिबा स्तब्ध रह गए, संज्ञा शून्य हो गए। थोड़ी देर बाद जब वे सामान्य हुए तो उन्हें इस अपमान की असह्य वेदना हुई। उनका खून खौल उठा, मानस में उद्वेग उत्पन्न हो गया। ज्योतिबा बारात से वापस अपने घर आ गए। उनके सिर पर संताप का भारी बोझ था। उनके रोम–रोम में उत्तेजना व्याप्त हो गयी। अपमान का पूरा कथानक उन्होंने अपने पिता से बताया– उनके मन में टीस, गले में सिसकियाँ तथा आखों में आँसू थे। पिता ने अपने पुत्र को यह कहकर समझाने का प्रयास किया "वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण उच्च वर्ण में आते हैं। यह ब्राह्मणों की महती कृपा थी कि उन्होंने तुमको केवल वहाँ से भगा दिया मारा पीटा नहीं। मैंने गैर ब्राह्मणों को ब्राह्मणों के द्वारा किसी भी भूल पर हाथी के नीचे गिराकर कुचलवाते देखा है। और तो और, गैर ब्राह्मण जातियों के लोगों के लिए अच्छे ढंग के वस्त्र धारण करना निषेध है। पूना की सड़कों में शूद्र तथा अतिशूद्र वर्ण के लोगों को कमर में किसी पेड़ की पत्ती खोंसना पड़ता था तथा थूकने के लिए एक छोटा मिट्टी का पात्र गले में लटकाना पड़ता था। दूर से ही ब्राह्मणों को पता हो जाता था कि शूद्र जा रहा है उससे वे दूर रहते इसलिये कि कहीं छू न जाय। शूद्र सूर्योदय से पहले तथा सूर्यास्त के बाद सड़कों पर नहीं चल सकते थे।"

ज्योतिबा ने पिता की बात ध्यान से सुनी। वस्तुतः पिता नहीं चाहते थे कि सामाजिक रीति रिवाजों का उल्लंघन करके ज्योतिबा ब्राह्मणों का कोपभाजन बनें। परन्तु ज्योतिबा पूरी रात सो नहीं सके। मानव मानव की समानता का विचार ज्योति के मानस में एक ओर था तथा पिता की चेतावनी दूसरी ओर जिसमें उन्होंने कहा था कि पेशवा के समय यदि मैंने किसी प्रकार की सामाजिक परंपराओं का उल्लंघन किया होता तो मुझे विद्रोही घोषित किया गया होता। ज्योतिबा ने यह अनुभव किया कि शूद्रों को गुलामी और गरीबी में ही मरना जीना है। शूद्र वर्ण में जन्म ले लेने का अर्थ ही अपमान और दासता है। यह मान्यता स्वयं शूद्रों में भी

घर कर गयी थी। ज्योतिबा ने विचार किया और हिन्दू समाज के इस छुआछूत, ऊँच–नीच की अमानवीय भावना तथा रूढ़ियों एवं अन्ध परंपराओं को सर्वत्र नष्ट करने का संकल्प लिया। धर्म के नाम पर चलने वाले सर्वनाशी अधर्म को मिटाने का व्रत ज्योतिबा ने यह जानते हुए भी ले लिया कि इसकी जड़ें अपरिमेय तथा गहरी हैं। ज्योतिबा के मानस में हिन्दू समाज की घन–घोर रूढ़ियों से संघर्ष करने की शक्ति का संचार होने लगा। उनके मन के विचारों, भावनाओं, कल्पनाओं की परिणिति दृढ़ संकल्पों में होने लगी। संकल्प की दृढ़ता और लक्ष्य पर एकाग्र दृष्टि ही मानव को महामानव बना देती हैं। प्रत्येक क्रान्ति से पहले प्रबल बौद्धिक पुनर्मूल्याँकन होता है तथा संगठन जन्म लेते हैं। यह नव जागरण अन्याय का प्रतिरोध करने तथा न्याय के पोषण के लिए था। असत्य को मिटाने के लिए सत्य का नव संघर्ष था। वैचारिक व्यूह तथा योजना का निर्माण करके ज्योतिबा ने विद्रोही का कवच धारण कर लिया। ज्योतिबा की यह ध्रुव धारणा बन गयी कि राजनैतिक दासता से सामाजिक दासता अधिक घातक और अमंगलकारी होती है। ज्योतिबा ने इस पर भी विचार किया कि वह स्वयं शिक्षित है– क्या भला है क्या बुरा इसकी उसे भी समझ है। वह भी उसी समाज और उसी धर्म को मानता है जिसे ब्राह्मण मानते हैं। तब ऊँच–नीच का भाव कैसा? छुआछूत कैसी, छोटा–बड़ा क्यों? धर्म तो मनुष्य और भगवान के संबंधों से संबंधित है तो सामाजिक विषमता कैसे पनपी? इन्हीं विचारों में मग्न ज्योति ने इन सबका निष्कर्ष यह निकाला कि चूंकि ब्राह्मण पुजारी और पुरोधा हैं, अपने को श्रेष्ठ तथा सर्वोच्च मानते हैं। अतः सारी विषमताओं के जनक ब्राह्मण है। ब्राह्मणवाद ने ही जातिगत भेदभाव उत्पन्न किये हैं। जातीय व्यवस्था ने हिन्दुओं की संगठित तथा सुसंस्कृत जीवन पद्धति को नष्ट करके देश की मानवता को विविध जातियों के रूप में खण्ड–खण्ड कर डाला है। ब्राह्मणवाद जो जन्म पर आधारित है कर्म पर नहीं का समूल नष्ट करने का फुले ने प्रण किया। जो जातीय व्यवस्था मनुष्य को लगातार दासता में बाँधे रहे और उसे अपमानित कराती रहे, ऐसा जन्मावलम्बी वर्ण धर्म का खुला विरोध एवं तिरस्कार किया जाना चाहिए–ज्योतिबा ने ऐसा संकल्प लिया।

समाज में वर्ण व्यवस्था ठोस, मजबूत और स्थायी हो गयी थी। दलितों–पिछड़ों में शिक्षा का अभाव था। उन्होंने युगानुगत वर्ण व्यवस्था को समर्पित भाव से स्वीकार कर लिया था। ज्योतिबा ने इस अज्ञान को ध्वस्त करने के लिए विद्रोह की ध्वजा अपने हाथों में ली थी। ज्योतिबा का विश्वास था कि दलित वर्ग के लोग सामाजिक समानता के लिए अवश्य ही संघर्ष करेंगे। संकट और संघर्ष ही सुख और शान्ति के संस्थापक बनते हैं। कल्याणकारी लक्ष्य की पूर्ति में जीवन और मरण दोनों का मूल्य बराबर होता है। व्यक्ति का सार्वजनिक अपमान क्रान्ति एवं निर्माण का प्रेरणास्रोत बन जाता है। अपनी गृहस्थी के सारे कार्य करते हुए ज्योतिबा ने पुस्तकों के अध्ययन में गहरी रुचि ली। ऐतिहासिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक विषयों पर प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा लिखे गये सद्ग्रन्थों का अनुशीलन ज्योतिबा की दिनचर्या का एक अनिवार्य अंग बन गया था। तुकाराम तात्या पाद्वल की पुस्तक 'जाति भेद विवेक सार' के प्रकाशन के रूप में ज्योतिबा का नाम दिया गया। इसके लिए ज्योतिबा से पूर्व स्वीकृति ले ली गयी थी। इस पुस्तक में लेखक ने ब्राह्मणों के सभी कुसंस्कारों तथा अहंकार का सम्यक विवेचन किया है। ब्राह्मणों में हिन्दू समाज का सर्वोपरि होने का भाव ब्राह्मणेतर समाज के असन्तुष्ट होने का कारण बना। तुकाराम तात्या की पुस्तक का प्रथम संस्करण अगस्त 1861 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में ब्राह्मणों की हिन्दू समाज में विभेदकारिणी नीति तथा उनके द्वारा अछूतों पर किये गये अत्याचारों का विशद उद्घाटन किया गया था।

डॉ. ब्रजलाल वर्मा के शब्दों में : युग निर्माताओं का जीवन सतत् संघर्ष का उपन्यास बनता है। मनुष्य मरता जीता है – इतिहास अमर होता है। मनुष्य–मनुष्य के प्रति भले ही राग–द्वेष वश पक्षपात अथवा विरोध करे–किन्तु इतिहास न तो किसी पर कृपा करता है और न किसी को क्षमा करता है। इस दृष्टि से ज्योतिबा का जीवन विभीषिकाओं का संग्रहालय बन गया था। धनाभाव से पीड़ित निःसन्तान दाम्पत्य, पिता के द्वारा ज्योतिबा का घर से निष्कासन, उच्च वर्ग द्वारा लगातार अपमान और तिरस्कार, मित्रों द्वारा संकट में प्रवंचना, हत्यारों की दोहरी तलवारों का सामना, जातीय व्यवस्था से अभिशप्ति, परिवार के लोगों द्वारा सम्पति का अपहरण, यही सब घटनाएँ तो ज्योतिबा के तपोमय जीवन की परिभाषा बनती हैं। ज्योतिबा ने अपने समाजोद्धार के संकल्प को न मिटने दिया और न मुड़ने दिया। वे अदम्य साहस एवं विक्रम से विषम परिस्थितियों के व्याघात झेलते हुए अपने अभीष्ट की ओर अप्रतिहत अग्रसर होते गये। ज्योतिबा अपने में एक दृढ प्रतिज्ञ, ईमानदार तथा जाति–पाँति विरोधी युगपुरुष थे। अपमान का प्रतिकार स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है। अपने अधिकारों की रक्षा और अछूतोद्धार के लिए ज्योतिबा फुले आद्योपांत प्रतिबद्ध और प्रयत्नशील रहे। ब्राह्मणवादी मानसिकता के साथ संघर्ष में वे सुमेरु पर्वत की तरह आजीवन अडिग रहे।

ज्योतिबा में काव्य प्रतिभा भी विद्यमान थी। उन्होंने ब्राह्मणों की अनैतिकता तथा उपेक्षित मानवता के प्रति उनके निर्दय दुर्व्यवहार की निन्दा और आलोचना अपने लोक गीतों में की। ज्योतिबा का प्रथम लोक गीत संग्रह एक छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ जिसमें ब्राह्मण के शोषण, अज्ञान, अन्धविश्वास पाखंड, मिथ्याचार तथा दंभ के लिए कटुता थी। ज्योतिबा का आरोप था कि ब्राह्मण आर्य जाति के हैं और उन्होंने क्षत्रिय, शूद्रों और अतिशूद्रों का लगातार शोषण किया है। ज्योतिबा के समग्र साहित्य तथा काव्य के मुख्य स्वर ब्राह्मणों के अमानवीय, पाखंडपूर्ण, शोषणकारी कृत्यों के प्रतिरोध को दर्शाते थे। ब्राह्मण अध्यापक अछूतों–पिछड़ों के छात्रों को या तो डाँट फटकार कर विद्यालयों से निकाल देते थे या फिर प्यार पुचकार द्वारा उनको पढ़ने से बरगलाते थे। डॉ. वर्मा के शब्दों में : "ज्योतिबा फुले उस युग में उत्सर्ग, त्याग, समानता, सार्वजनिक हितैषणा के जीवन्त प्रतीक थे। निश्चय ही ज्योतिबा का परवर्ती युग किसी न किसी रूप में ज्योतिबा के सिद्धान्तों के ऋणी है। ज्योतिबा का जीवन अपने लिए नहीं समाज के लिए था। उनकी पुस्तकें, उनके विचार तथा उनके आचरण इसके प्रमाण हैं। ज्योतिबा अपने गन्तव्य को पाने के लिए निर्धारित पथ से कभी पश्चात्पद नहीं हुए– परिस्थितियों की उत्कटता से कभी भयभीत नहीं हुए तथा अवसर की दुरभिसंधि से कभी प्रकम्पित अथवा शंकित नहीं हुए।"

दलित वर्ग को ब्राह्मणों के शोषण चक्र से बचाने के लिए ज्योतिबा लगातार तैयारी करते रहे। जातिवाद तथा संकीर्ण भावना का समूल नष्ट करने का संकल्प लिए हुए वे अपने कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए प्रतिबद्ध थे। उन दिनों ज्योतिबा एक पुस्तक लिखने में संलग्न थे जिसे उन्होंने 1872 में पूरा कर दिया। पुस्तक के प्रथम भाग में उनकी चुनौती भरी घोषणा थी कि यदि ब्राह्मणों के पुराणों एवं धर्म ग्रन्थों में यह माना गया है कि परशुराम युगों से जीवित है तो मैं कहता हूँ कि वे जहाँ भी हों प्रकट हों तभी इस पौराणिक अन्धमान्यता को सत्य माना जा सकता है। ब्राह्मणों के पास इसका कोई सटीक प्रामाणिक उत्तर नहीं था। ज्योतिबा फुले अवतारवादी सिद्धान्त का घोर खण्डन करते थे। पुस्तक के दूसरे भाग में उन्होंने छुआछूत, ऊँच–नीच की दुर्भावना का खण्डन करते हुए लिखा है कि कोई व्यक्ति यदि चरित्रवान है, परमात्मा में विश्वास करता है, वह मेरे घर आवे तो मैं उसे अपने परिवार का एक सदस्य

मानकर साथ ही भोजन कराऊँगा चाहे वह जिस जाति धर्म अथवा देश का हो। ज्योतिबा ने पुराणों का खण्डन किया। इससे ब्राह्मणवादी संकीर्णता का तो जनाजा ही निकल गया। ज्योतिबा ने स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति मुझे अपने बराबर मानता है उसे मैं अपना भाई मानता हूँ।

अपनी पुस्तक 'गुलामगिरी' में ब्राह्मणों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए ज्योतिबा फुले ने लिखा है कि "ब्राह्मण उत्तर में सैकत, पाषाणी तथा पर्वतीय क्षेत्र के रहने वाले थे। उन्होंने भारत पर आक्रमण किया तथा भारत के मूल निवासी क्षत्रियों को पराजित किया। क्षत्रियों में शूद्र तथा अतिशूद्र सम्मिलित थे। ब्राह्मण स्वभाव से अहंकारी, स्वार्थी, चतुर तथा धूर्त थे। क्षत्रिय लोग अत्यन्त वीर तथा कठोर थे। उन लोगों ने आक्रामक ब्राह्मणों का डटकर मुकाबला किया किन्तु आर्यों की मक्कारपूर्ण युद्ध पद्धति के समक्ष पराजित हो गये। क्षत्रियों और शूद्रों का राजा बलि न्यायी, निष्पक्ष तथा बड़ा शक्तिशाली था।" बलि और वामन की पौराणिक कथा का ज्योतिबा ने खण्डन किया। उन्होंने कहा कि कोई व्यक्ति अपने पैरों से पृथ्वी भी नहीं नाप सकता। मनुष्य के पैर पृथ्वी से बड़े नहीं हो सकते। इसी प्रकार ज्योतिबा ने अनेकानेक पौराणिक आख्यानों का प्रत्याख्यान किया। परशुराम को ज्योतिबा ने भगवान के अवतार के स्थान पर एक निर्दयी व्यक्ति माना। ज्योतिबा ने सभी पौराणिक कथानकों तथा धर्मग्रंथों का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि आर्य ब्राह्मणों ने युक्ति और बुद्धि से क्षत्रियों में दो दल पैदा कर दिये – शूद्र तथा अतिशूद्र। उन लोगों ने शूद्रों अतिशूद्रों को छूने से रोका तथा शूद्रों को जीवनयापन के साधन से वंचित किया तथा उनको सड़ा गला माँस खाने के लिए बाध्य किया। ब्राह्मणों ने शूद्रों का शोषण किया, उनसे दान दक्षिणा लेते रहे तथा लगातार उनको ठगते रहे। ब्राह्मणों ने समय-समय पर धार्मिक पुस्तकें लिखीं जिनमें स्वर्ग-नरक की मिथ्या कल्पना करके शूद्रों एवं अतिशूद्रों को डराते और भटकाते रहे, बीच-बीच में पुराने धर्म ग्रंथों में अपनी श्रेष्ठता तथा महत्त्व के प्रतिपादन के लिए नये–नये कथानक तथा विचार जोड़ते रहे। ब्राह्मणों की इस शैतानी से कोई धर्म ग्रंथ अछूता नहीं रहा। पुराण क्या स्मृतियाँ–सभी में इन्होंने अपने को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए प्रपंच किया। ऐसी–ऐसी असम्भव कहानियाँ गढ़कर पुस्तकों में जोड़ते, बढ़ाते रहे जिनमें न तो कोई वैज्ञानिकता है, न कोई आधार! ब्राह्मण अपने को भूसुर अर्थात् पृथ्वी के देवता घोषित करते रहे– शूद्रों और अतिशूद्रों को उन धर्मग्रन्थों को पढ़ने से रोकते रहे जिससे कि उनका अमानवीय और ईश्वर विरोधी छद्म धारणाओं का रहस्य खुल न जाय। इतना ही नहीं नारी और शूद्र–अतिशूद्र के लिए वेद पढ़ना पाप है– यह विचार समाज में ब्राह्मणों ने गहराई से स्थापित कर दिया था। इसी कारण ब्राह्मणों द्वारा लिखे गये पुराण और स्मृतियों का ज्योतिबा खंडन करते थे।

शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणों को कानून से छूट थी। ज्योतिबा को यह जानकर आश्चर्य तथा क्लेश हुआ कि शास्त्रों में कितने अनर्गल और पक्षपातपूर्ण कथानक लिखे या जोड़े गये। यदि ब्राह्मण किसी बिल्ली, पक्षी, मेढ़क, कुत्ते, गिलहरी, गाय, उल्लू अथवा शूद्र की हत्या कर दे तो उसे कानून दंडित नहीं करेगा और न उसे कोई पाप लगेगा। इसके परिहार के लिए उसे छोटा मोटा व्रत तथा उपवास करना पड़ता था– इतने से वह सभी पापों से मुक्त हो जाता था। इसके विपरीत यदि कोई शूद्र किसी की हत्या कर दे तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए ब्राह्मणों ने भृगु नामक ब्राह्मण तथा विष्णु की कथा बनाई जिसमें कहा गया कि भृगु ने विष्णु की छाती में लात मारी किन्तु विष्णु ने उनसे उल्टे क्षमा माँगी। पेशवाओं के राज्य में यही अनैतिकता तथा अधम पद्धति जारी थी। ब्रिटिश शासन ने इस प्रकार के दुष्कृत्यों को रोकने तथा मानव–मानव के भेद को समाप्त करने के

लिए बहुत से कानून बनाए जिसके लिए ज्योतिबा ने सरकार को हार्दिक बधाई दी। ब्राह्मणों द्वारा रचित ग्रन्थों से ज्योतिबा ने उदाहरणों को एकत्र कर उनको उद्धृत किया। ब्राह्मण धर्म पुस्तकों के अनुसार :

- ब्राह्मण विश्व का सर्वोपरि स्वामी है तथा ईश्वर के समान है। समस्त अब्राह्मणों द्वारा सम्मान तथा आदर के साथ उसकी पूजा होनी चाहिए।
- ब्राह्मण कभी गलत कार्य कर ही नहीं सकता।
- राजा ब्राह्मण का बध किसी भी दशा में नहीं कर सकता चाहे उसने कितने जघन्य अपराध क्यों न किये हों।
- ब्राह्मण के जीवन की रक्षा के लिए किसी प्रकार के मिथ्या व्यवहार का आश्रय लिया जा सकता है। इसमें कभी कोई पाप नहीं है।
- ब्राह्मण की कोई वस्तु चुराई नहीं जा सकती।
- कोई राजा चाहे जितनी कमी हो ब्राह्मण से किसी प्रकार का कर नहीं वसूल सकता। यदि आवश्यकतावश कोई राजा ऐसा करता है तो उसके राज्य में दुर्भिक्ष पड़ जायगा।
- ब्राह्मण के चरणों में सभी तीर्थों के जल की पवित्रता विद्यमान है यदि उनके चरणों को पानी से धो लिया जाय तो वह चरणोदक सभी तीर्थों एवं मन्दिरों के जल के समान है।
- ब्राह्मण जातियों के लोग ब्राह्मण की हर प्रकार से सेवा करेंगे। उन लोगों का जन्म ही ब्राह्मणों की सेवा के लिए हुआ है। कोई शूद्र चाहे अपने स्वामी द्वारा मुक्त कर दिया गया हो किन्तु दासता की स्थिति से वह कभी मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि उसका जन्म ही उस कोटि में हुआ है जब वह जन्म से दास है तो उसे इस स्थिति से कौन मुक्त कर सकता है।
- ब्राह्मण शूद्र को भौतिक अथवा आध्यात्मिक किसी प्रकार की मन्त्रणा नहीं दे सकता।
- कोई शूद्र कितना भी समर्थ क्यों न हो, अनावश्यक धन का संग्रह अथवा उपार्जन नहीं कर सकता। अधिक धन होने से शूद्र में अहंकार आ सकता है और वह ब्राह्मणों को भी पीड़ित कर सकता है।
- यदि किसी ब्राह्मण युवती से किसी शूद्र का अवैध सम्बन्ध हो जाय तो शूद्र मृत्यु दण्ड का पात्र है परन्तु यदि ब्राह्मण किसी शूद्र की विवाहिता पत्नी से भी संबंध स्थापित करे तो उसे सभी कानूनों तथा पापों से मुक्त माना जायगा।

ज्योतिबा के विचार से ब्राह्मणों द्वारा बनाये गये सभी नियम, सिद्धान्त प्रतिबन्ध, निषेध, आदेश, निर्देश केवल अशिक्षित शूद्र के लोगों को लगातार सदा–सदा के लिये ब्राह्मणों का दास बनाए रखने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थे। इतना ही नहीं, ब्राह्मणों ने सारे मानवता विरोधी पौराणिक लेख, आख्यान तथा उदाहरण समाज के नादान शूद्रों तथा अतिशूद्रों पर यह कहकर थोपा था कि सभी शास्त्र पुराण स्मृतियाँ तथा धर्म ग्रन्थ सीधे परमात्मा के रचे हुए है। बड़े अचरज

तथा दुःख का विषय है कि ग्रन्थों में सारी दुष्टता प्रपंच, प्रवंचना, पाखण्ड, मिथ्या उक्तियाँ, गल्प तथा कल्पित आख्यान इन्हीं ब्राह्मणों द्वारा अपनी श्रेष्ठता तथा ऊँचाई की रक्षा के लिए लिखे गये थे। उन वक्तव्यों को भगवान द्वारा रचित बताया गया और समाज की छोटी जातियों की नादान जनता ने इसे अज्ञानतावश स्वीकार भी कर लिया था। ज्योतिबा का यह ध्रुवमत था कि यह स्वार्थ पूर्ण अन्धविश्वास तथा पाखण्ड पूर्ण परंपराएँ जारी रखने के लिए ही जातीय व्यवस्था ब्राह्मण द्वारा चलाई जा रही थी। यह जाति का दमन चक्र युगों से चल रहा था जिसमें पिसने वाली शूद्र–अतिशूद्र (दलित) जातियाँ कराह रही थीं।

महात्मा ज्योतिबा ने दलित शोषित मानवता की सेवा में ही अपना जीवन लगाया। वे उन्हीं के लिए जिये और उन्हीं के लिए मरे। उनकी पुस्तकों के द्वारा शूद्रों और अतिशूद्रों में जितनी चेतना जागृत हुई उससे कहीं अधिक ब्राह्मणों में हड़बड़ाहट और परेशानी अवश्य उत्पन्न हो गयी। कबायलियों, अतिशूद्रों की दुर्निवार निर्धनता तथा असहाय स्थिति को देखकर ज्योतिबा को गहरा क्लेश था। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि यदि ब्राह्मण सचमुच देशभक्त होते तो देश के बहुसंख्यक हिन्दू समाज को उन्होंने शूद्र और अतिशूद्र न बनाया होता तथा यह भ्रान्ति और कुत्सित धारणा न फैलाई होती कि शूद्र के हाथ का स्वच्छ जल भी अपवित्र तथा पशुओं के मूत्र के समान है। ज्योतिबा यह मानते थे कि ब्राह्मण भी अपने भाई हैं किन्तु उनके जघन्य कुत्सित व्यवहारों को देखकर ब्राह्मणों को बन्धु कहकर पुकारने में ज्योतिबा को कष्ट था। वे वेदों को मानव की रचना मानते थे ईश्वर की कदापि नहीं। वर्ण–व्यवस्था सम्बन्धित प्रचलित इस विचार की ज्योतिबा घोर भर्त्सना करते थे कि ब्राह्मण भगवान के मुख से, क्षत्रिय उसकी बाहु से, वैश्य उसके उदर से तथा शूद्र उसके चरणों से पैदा हुआ है। इस प्रकार की ब्राह्मणवादी पौराणिक मान्यताओं के ज्योतिबा घोर विरोधी थे। ब्राह्मणों के इसी प्रकार के अकल्प्य, निस्सार एवं थोथे प्रतिपादनों के विरुद्ध गौतमबुद्ध ने अपराजेय प्रतिरोध प्रस्तुत किया था। महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों तथा नीतियों पर ज्योतिबा की गहरी आस्था थी। उनके हृदय में बुद्ध के आदर्शवादी महान व्यक्तित्व के प्रति आत्यान्तिक आदर भावना तथा श्रद्धा थी। ज्योतिबा का विचार था कि गौतम बुद्ध के सहज मानवीय दर्शन के बढ़ते प्रभाव के समक्ष ब्राह्मणों के सारे प्रपंचों का पर्दाफाश हो गया था किन्तु स्वभाव से चतुर तथा कुशल ब्राह्मणों ने अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन करके तथा उनमें कुछ बौद्ध दर्शन के लोक ग्राह्य नियमों को अपने विचारों में आत्मसात करके अपने प्रभुत्व को पुनः स्थापित किया। पुस्तकें लिखने के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए महात्मा ज्योतिबा फुले ने लिखा था कि मेरे पुस्तक लिखने का उद्देश्य अपने शूद्र बन्धुओं को मात्र यह बताना नहीं है कि वे ब्राह्मणों द्वारा परंपरा से छले गए। प्रत्युत उनको यह प्रेरणा भी देना है कि वे साहस बटोरकर ब्राह्मणों की इन पाखंडी नीतियों का निर्मम भाव से मूलोच्छेद भी करें। उधर शासन को चाहिए कि शिक्षा को उच्च वर्ग तक सीमित न करे, उसे धरातल पर लाकर दीन–हीन वर्गों में भी प्रसारित करे।

लगातार संघर्षों के पश्चात ज्योतिबा ने अनुभव किया कि उनके विचारों, सिद्धान्तों तथा आदर्शों के सम्यक प्रचार एवं प्रसार के लिए एक ऐसे व्यवस्थित मंच और संस्था की आवश्यकता है जिसके माध्यम से छोटे वर्ग को समाज के समान धरातल पर लाने के लिए भरपूर प्रयास किया जाय। अभी तक ज्योतिबा ने पुस्तकों, पर्चों तथा भाषणों के द्वारा ही इस कार्य को संपादित किया था। ज्योतिबा ने छोटे वर्ग के लोगों को ललकार कर जातिगत बन्धनों को तोड़ डालने, ऊँच–नीच के भाव का समूल नष्ट करने तथा ब्राह्मण पुरोहितों के

प्रवंचनापूर्ण उपदेशों से दूर रहने तथा उनके बताए गये भ्रष्ट मार्गों से हटकर चलने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने उन शूद्रों तथा अतिशूद्रों को अत्यन्त सबल तर्कों से यह समझाने का प्रयास किया कि ब्राह्मणों के पौराणिक आख्यान नितान्त भ्रामक हैं। उन पर किंचित विश्वास करना मानवता के विरुद्ध आचरण करना है। जन्म से न तो कोई ब्राह्मण है न शूद्र। भगवान ने अपनी ओर से सभी मनुष्यों को बराबर बनाया है। यह ऊँच नीच, वर्ण–व्यवस्था तथा जातीय भेदभाव ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता सर्वोपरि बनाए रखने के लिए उत्पन्न किया है। भगवान की ओर से न तो कोई छोटा है न बड़ा। सभी को ईश्वर ने बनाया है सभी के अधिकार और कर्त्तव्य समान हैं। यह तो ब्राह्मणों के पुरोहिती प्रपंच का परिणाम है कि हिन्दू समाज वर्ण, जातियों, उपजातियों, अमीरी, गरीबी के कठिन कठघरे में फँस गया है। मानव–मानव में भेद आंकना मानवता का अपमान है, उसके गौरव का तिरस्कार है। ज्योतिबा ने उन शोषित, दलित जातियों के लोगों में आत्मसम्मान का भाव जाग्रत किया तथा नये विचारों, नयी कल्पनाओं को ग्रहण करने हेतु प्रेरित किया। उनके लेखों ने सबसे अधिक सरकारी इंजीनियरिंग तथा सार्वजनिक कल्याण विभाग के कर्मचारियों को प्रभावित किया।

थोड़े ही दिनों पश्चात् महात्मा ज्योतिबा फुले ने किसानों तथा मजदूरों को अनुप्राणित कर एक संगठन बनाने की आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया। उन्होंने संगठन के माध्यम से शासन को यह प्रत्यक्ष रुप से बताना चाहा कि हिन्दू समाज के शूद्र तथा अतिशूद्र किस प्रकार ब्राह्मणों की यन्त्रणा में पिस रहे हैं; वे कैसे–कैसे दुर्व्यवहार तथा अमानवीय अनाचार सह रहे हैं। सर्वप्रथम उनका विचार था कि अतिशूद्रों को शूद्रों के स्तर पर प्रतिष्ठित किया जाय तभी ब्राह्मणों के पापाचार से मोर्चा लेने की शक्ति उनमें उत्पन्न होगी। संघर्ष के बिना खोये हुए अधिकारों को पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब तक शूद्र तथा अतिशूद्र मिलकर ब्राह्मणों की थोथी आचार संहिता का प्रतिरोध नहीं करते– तब तक उनका सामाजिक विकास संभव नहीं। ब्राह्मण भी अनुनय विनय नहीं सुन सकते। प्रार्थनाएँ उनमें सहानुभूति उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं रखती। वे अत्यन्त कुटिल, दुराग्रही तथा निर्दयी हैं, वे सीधे कोई बात सुन नहीं सकते। अपनी प्रभुता तथा श्रेष्ठता को बरकरार रखने के लिए ब्राह्मण हर युक्ति और उपाय का अवलम्ब लेंगे। जब तक छोटी जातियों का कोई संगठन अथवा संस्थान नहीं होता, ब्राह्मणों के कुचक्रों से मुक्ति नही मिल सकती। राजनीतिक अधिकार मिलने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः ज्योतिबा ने 24 सितम्बर 1873 ई. में अपने सभी हितैषियों, प्रशंसकों तथा अनुयायियों की एक सभा पूना में बुलाई। महाराष्ट्र के साठ विभिन्न महत्त्वपूर्ण केद्रों से लोग एकत्र हुए। महात्मा फुले ने अपने प्रभावशाली प्रारम्भिक भाषण में ब्राह्मणों के कुचक्रों से मुक्ति के लिए एक संस्था की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया। सभा में उपस्थित जनवृन्द में प्रबल उत्साह तथा संघर्ष करने की उमंग थी। सभी ने ज्योतिबा के विचारों से सहमत होते हुए संस्था के निर्माण का समर्थन किया। फलतः संस्था का गठन हो गया। महात्मा ज्योतिबा ने संस्था का नाम 'सत्य शोधक समाज' रखा। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि ज्योतिबा के तीन ब्राह्मण मित्र विनायक बापूजी भंडारकर, विनायक बापूजी डेंगल तथा सीता राम सखाराम दातार ऐसे थे जिन्होंने सत्य शोधक समाज को हर प्रकार का सहयोग देने का वचन दिया। ज्योतिबा को संस्था का पहला अध्यक्ष चुना गया तथा नानाराव गोविन्दराव कडलक को मन्त्री। सत्यशोधक समाज के उद्देश्य भी निर्धारित किये गये जिनमें मुख्य थे शूद्रों तथा अतिशूद्रों के द्वारा ब्राह्मणों की पौराणिक मान्यताओं का विरोध करना, उनको ब्राह्मणों की मक्कारी के जाल से मुक्त करना तथा पुराणोपदिष्ट जन्मजात जातीय गुलामी से छुटकारा

दिलाना था। छोटे गरीब लोगों तथा उनके परिवारों को शिक्षित करना तथा अन्धविश्वासों के प्रति उनको सावधान करना समाज के उद्देश्यों में प्रमुख थे। सत्यशोधक समाज के संस्थापक के निधन के बहुत दिनों बाद समाज का लक्ष्य तीन सिद्धान्तों पर केंद्रित हुआ।

1) सभी मनुष्य एक ही परमात्मा की सन्तान हैं और वह उनका पिता है।

2) माता और पिता को प्रसन्न करने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार भगवान की पूजा में किसी पुरोहित अथवा उपदेशकाचार्य की मध्यस्थता नहीं चाहिए।

3) समाज के सिद्धान्तों पर आचरण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य होने की पूर्ण अर्हता रखता है।

प्रारंभिक दिनों में सत्य शोधक समाज की सदस्यता ब्राह्मणों, महारों, ईसाइयों, मुसलमानों सभी ने ग्रहण की। प्रत्येक रविवार को समाज की बैठकें होती थीं। बैठकों में हिन्दू समाज की कुरीतियों पर वाद–विवाद तथा विचार–विमर्श होता था। विवाहों में मितव्ययता, भूत–प्रेत में विश्वास न करना, भविष्यवाणियों को स्थान न देना, दलितों को शिक्षा देना, ब्राह्मणों के पाखण्ड को समाज से बहिष्कृत करना, ऊँच–नीच के भाव को खत्म करना, धूर्त ब्राह्मणों द्वारा शूद्रों तथा अतिशूद्रों के उत्पीड़न एवं शोषण को आमूल ध्वस्त करना आदि मुख्य विषय थे जिन पर समाज के सदस्य विचार करके उनको कार्यान्वित करने का उपक्रम करते थे। बैठकों में सबसे अधिक जाति–व्यवस्था तथा मूर्ति पूजा का निर्मम भाव से विरोध किया जाता था। मानवीय भातृ–भाव तथा परमात्मा को पिता के रूप में मानने पर विशेष बल दिया जाता था। उधर ब्राह्मणों में 'सत्य शोधक समाज को उसकी प्रारंभिक अवस्था में ही नष्ट कर देने की आकांक्षा बलवती हुई। उन्होंने अशिक्षित दलितों में भ्रामक धारणाओं का तेजी से प्रचार किया। शूद्र और अतिशूद्र ब्राह्मणों की पुराणपंथी नीतियों से इतने भयभीत थे कि ज्योतिबा के पास वे घबरा कर आते और पूछते कि मराठी भाषा में की गयी स्तुतियाँ भगवान तक कैसे पहुँचेगी? बिना संस्कृत के मन्त्रों के भगवान कैसे द्रवित होगा? संस्कृत तो केवल ब्राह्मण ही जानते हैं तो फिर बिना ब्राह्मणों के उद्धार कैसे सम्भव है? ज्योतिबा उस निरीह जनता के अज्ञान से व्यथित होते किन्तु उनको समझाते थे कि भगवान मनुष्य के चित्त को भली भाँति समझता है। भाषा कोई हो वह सभी भाषाएँ समझता है। वह संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, अंग्रेजी उर्द फारसी. लैटिन, ग्रीक, हर भाषा के भाव को सम्यक प्रकार से जानता और समझता है। अतः इससे कभी परेशान और भयभीत नहीं होना चाहिए। ब्राह्मणों के चंगुल से निकलने के लिए सभी लोगों को 'सत्य शोधक समाज' के मूल सिद्धान्तों पर अमल करना चाहिए।' ज्योतिबा के सिद्धांतों, संघर्षों एवं उद्देश्यों को वैचारिक आधार प्रदान किया डॉ. आंबेडकर ने। उन्होंने अपने चिंतन को जनआंदोलन का स्वरूप प्रदान किया। आइए लोग उनके वैचारिक चिंतन का अवलोकन करें।

1.7 डॉ. आंबेडकर : मुक्ति संघर्ष के विविध आयाम

हिन्दू समाज की परंपरा के अनुसार सन 1905 में, भीमराव, जिनकी आयु उस समय केवल 14 वर्ष थी, का विवाह 9 वर्ष की लड़की रमाबाई से कर दिया गया। उन्होंने एक पुत्र को जन्म दिया। 1936 में रमाबाई की मृत्यु हो गई। सन् 1948 में भीमराव ने बम्बई के सारस्वत ब्राह्मण

की लड़की डॉ. शारदा कबीर (बाद का नाम सविता) से दूसरी शादी की। सन् 1907 में भीमराव ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसे महार लड़के की एक शानदार सफलता मानते हुए, इस समुदाय ने एक कार्यक्रम का आयोजन किया और इसके सदस्यों में से एक ने इन्हें 'दि लाइफ ऑफ गौतम बुद्ध' की एक प्रति भेंट की।'' इस पुस्तक का भीमराव के जीवन पर जैसा कि उनके जीवन में बाद में हुई घटनाओं से पता चलता है, भारी प्रभाव पड़ा। भीमराव की शिक्षा में रुचि और कठिन परिश्रम के प्रति उनकी ईमानदारी और उत्साह को देखते हुए बड़ौदा के महाराजा, सयाजी राम गायकवाड़ ने न केवल उनके लिए अध्ययन के दौरान 25 रुपए प्रतिमाह छात्रवृत्ति मंजूर की, बल्कि उन्हें स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद अपने राज्य में नौकरी करने के लिए भी आमंत्रित किया। हालाँकि उन्होंने वहाँ नौकरी शुरू की, लेकिन वे खुश नहीं थे, क्योंकि उनकी सामाजिक चुनौतियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और उनके लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण था। तब महाराजा गायकवाड़ ने भीमराव को छात्र के रूप में कोलम्बिया विश्वविद्यालय इस शर्त पर भेजा कि वापसी पर वह इस राज्य में नौकरी करेंगे। कोलम्बिया में भीमराव जाति के कलंक से मुक्त थे और वे समानता के दर्जे के आधार पर इधर–उधर जा सकते थे। इस विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. सेलिगमैन उनके अध्यापक थे। शिक्षक माहौल, मुक्त वातावरण और पुस्तकों के प्रति लगाव ने भीमराव के मस्तिक स्तर को विशाल बना दिया। सन 1915 में उन्होंने शोध विषय 'एनसिएंट इंडियन कामर्स' में एम.ए. (इकॉनोमिक्स) की डिग्री प्राप्त की। उससे अगले वर्ष उन्होंने एन्थ्रोपोलाजी सेमिनार में 'दि कास्ट देअर मेकेनिजम, जैनेसिस एण्ड डेवलपमेंट' शीर्षक से पर्चा पढ़ा। इस पत्र में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया था कि सजातीय विवाह ही जातियों का सार था। उन्होंने यह कहा कि 'जाति एक वर्ग है और यह मनु के पूर्व भी विद्यमान था।' सन् 1916 में उन्हें उनके शोध विषय 'नेशनल डिविडेंड फॉर इंडियाः ए हिस्टोरिक एण्ड एनालिटिकल स्टडी' पर पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की गई। उसी साल डॉ. आंबेडकर ने 'लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइंस' में प्रवेश ले लिया था। उन्होंने कानून की शिक्षा के लिए 'ग्रे इन' में भी प्रवेश ले लिया था। लेकिन वे अपना अध्ययन जारी नहीं रख सके क्योंकि महाराजा ने उनको वापस बुला लिया और उन्हें राज्य के वित्तमंत्री के पद हेतु तैयार करने की धारणा से अपना सचिव नियुक्त कर लिया। डॉ. आंबेडकर में इस बात के लिए व्याकुलता और निराशा थी कि उनकी शैक्षिक विशिष्टता और विद्वता तथा राज्य में उच्च पद पर आसीन होने के बावजूद भारत में उनके प्रति सामाजिक परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं आया। उनके अपने अधीनस्थ कर्मचारी उनसे अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। हालाँकि डॉ. आंबेडकर ने यह बात महाराजा को बताई थी, लेकिन उनके लिए कुछ नहीं किया जा सका। फिर भी, नौकरी के कुछ महीनों बाद ही उन्हें सेवा से मुक्त कर दिया था। एक वर्ष के संघर्ष के बाद डॉ. आंबेडकर ने बम्बई के एक कॉलेज में राजनीतिक शास्त्र के एक प्रोफेसर के रूप में नौकरी शुरू कर दी। केवल पाँच महीने पढ़ाने के बाद वे अपने अध्ययन को जारी रखने के लिए लन्दन चले गए। उनके इस उद्देश्य को पूरा करने में कोल्हापुर के प्रबुद्ध महाराजा ने उनकी सहायता की।

अनेक ख्याति प्राप्त विदेशी विश्वविद्यालयों की क्रमिक शैक्षिक उपलब्धियाँ ग्रहण करने के पश्चात् जून 1923 में डॉ. आंबेडकर पुनः भारत लौटे तथा बम्बई न्यायपालिका के उच्च न्यायालय में वकालत शुरू की। उन्होंने वकालत इसलिए आरंभ की क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि वे अस्पृश्य लोगों की सामाजिक–आर्थिक उन्नति के लिए कार्य करने के अपने ध्येय को इस स्वतंत्र व्यवसाय के माध्यम से पूरा कर सकते थे। साथ ही इससे उनकी

व्यक्तिगत आजीविका भी सुनिश्चित होती थी। किन्तु उच्च न्यायालय में भी, जिसे न्याय का मन्दिर कहा जाता है, डॉ. आंबेडकर को उनकी जाति के कारण अपमानित होना पड़ा। वकीलों में अस्पृश्यता की भावना होने के कारण उनके साथ वे कोई व्यवसाय संबंधी बातचीत नहीं करते थे। यहाँ तक कि कैंटीन में काम करने वाला लड़का भी उन्हें चाय नहीं देता था। इस प्रकार, असाधारण विधि–संबंधी कुशाग्रता होने के बावजूद, एक अस्पृश्य व्यक्ति होने के कारण वे वकालत के व्यवसाय में फल–फूल नहीं सके। उन्हें 'निर्धनों का बैरिस्टर' कहा जाता था। अपमान, अनादर और घोर भेदभाव ने उनके इस निश्चय को बल प्रदान किया कि उन्हें दलितों को सामाजिक दासता की बेड़ी से मुक्त कराना है। उनके आगमन से सामाजिक अन्याय और असमानता के विरुद्ध विद्रोह को बढ़ावा मिला। उन्होंने अपने साथियों को अपने मन से ऊँच–नीच की भावना को निकाल देने की अपील की। डॉ. आंबेडकर ने दलितों में जागृति पैदा करने के लिए जोरदार प्रयास किए। उन्होंने संगठन बनाकर, राजनीतिक दल गठित करके तथा समाचार–पत्र और साप्ताहिक पत्रिका आरंभ करके, अस्पृश्य लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया, ताकि उनके लक्ष्य के प्रति समर्थन जुटाया जा सके। 1920 में, उन्होंने एक मराठी पत्रिका 'मूकनायक' (गूंगों का नेता) आरंभ की। इससे पहले 1918 में, जब सरकार ने वयस्क मताधिकार संबंधी कमेटी का गठन किया, तो डॉ. आंबेडकर को साक्ष्य देने के लिए बुलाया गया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक शोषित वर्ग के लोगों के लिए एक अलग निर्वाचक मंडल की माँग की। लेकिन उसे स्वीकार नहीं किया गया।

अस्पृश्यता के विरुद्ध अपना संघर्ष आंरभ करने के लिए डॉ. आंबेडकर ने 1924 में बम्बई में अस्पृश्य लोगों की नैतिक एवं भौतिक प्रगति के लिए 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' नाम से एक संगठन की स्थापना की।

अस्पृश्य लोगों के लिए सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए मात्र उपदेश एवं लेखन से संतुष्ट न होने के कारण डॉ. आंबेडकर ने आंदोलन का रास्ता भी अपनाया। दिसम्बर, 1927 में उन्होंने कोलाबा जिले के महाड़ में अस्पृश्य लोगों के लिए एक सार्वजनिक तालाब 'चवदार तालाब' से पानी लेने के नागरिक अधिकार प्राप्त करने के लिए एक सत्याग्रह का नेतृत्व किया। बाद में एकत्रित लोगों को संबोधित करते हुए डॉ. आंबेडकर ने कहा कि अस्पृश्य लोगों की आत्म–उन्नति केवल अपनी सहायता आप करने, आत्म सम्मान को पुनः प्राप्त करने, एवं आत्म–ज्ञान प्राप्त करने में ही निहित है। उन्होंने लोगों की सेना, नौसेना और पुलिस में प्रवेश पर सरकारी रोक के विरुद्ध आंदोलन करने का आह्वान किया तथा स्कूलों, कॉलेजों, और सरकारी सेवाओं में प्रवेश करने की आवश्यकता पर जोर दिया। लगभग इसी समय से दलितों की स्थिति में सुधार संबंधी आंदोलन ने एक संघर्ष का रास्ता अख्तियार कर लिया। इस प्रकार दलितों को डॉ. आंबेडकर में एक नये मसीहा और एक विद्रोही की छवि दिखाई दी थी। वर्ष 1927 में उन्होंने दलितों की समस्याओं को जनता के सामने लाने के लिए 'बहिष्कृत भारत' नामक एक अन्य मराठी पाक्षिक आरंभ भी किया। इसी वर्ष उन्होंने दलितों एवं सवर्ण हिन्दुओं के बीच सामाजिक समानता का पाठ पढ़ाने के लिए 'समाज समता संघ' नाम से एक संगठन की स्थापना की। उक्त संगठन के कार्यक्रम में अन्य बातों के अलावा अंतर्जातीय विवाह एवं अंतर्जातीय भोज को भी शामिल किया गया था।

वर्ष 1929 में, जब साइमन कमीशन ने भारत का दौरा किया और कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया, डॉ. आंबेडकर ने बंबई प्रदेश के विधान परिषद के एक सदस्य के रूप में इसके समक्ष साक्ष्य दिया और शोषित वर्ग के लोगों के लिए एक अलग निर्वाचक मंडल बनाने की

आवश्यकता पर जोर दिया। इस कमीशन ने लंदन में एक गोलमेज सम्मेलन आयोजित करने की सिफारिश की, जहाँ विभिन्न पार्टियों के नेता मिलकर विचार–विमर्श कर सकें। डॉ. आंबेडकर को अस्पृश्य लोगों के प्रतिनिधि के रूप में आमंत्रित किया गया। गोलमेज सम्मेलन अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ। इसमें भाग लेने वालों में आम राय नहीं बन पाई। डॉ. आंबेडकर का दलितों के लिए एक अलग निर्वाचक मंडल का सपना, उस समय आंशिक रूप से साकार हुआ जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा 'कम्यूनल अवार्ड' की घोषणा की गई। ब्रिटिश सरकार के निर्णय से महात्मा गांधी को सदमा पहुँचा तथा उन्होंने पूना में आगा खां महल में 'मृत्यु–पर्यन्त' उपवास की घोषणा कर दी। महात्मा गांधी के जीवन को बचाने के लिए डॉ. आंबेडकर को अलग निर्वाचक मंडल के स्थान पर आरक्षित निर्वाचन–क्षेत्रों संबंधी बातों पर झुकना पड़ा। यद्यपि अस्पृश्य लोगों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उन्नति के उपायों के संबंधों में गांधी और आंबेडकर के विचार आपस में नहीं मिलते थे।

डॉ. आंबेडकर लार्ड एक्टन के इस अवलोकन का जिक्र करते हैं कि असमानता ऐतिहासिक घटनाक्रम के परिणाम स्वरूप पैदा हुई है। परन्तु इसे कभी भी एक नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। परन्तु हिन्दूवाद में असमानता एक धार्मिक विचारधारा है और जानबूझकर इसे पवित्र विश्वास के रूप में प्रचारित किया गया है। यह दैविक शक्ति द्वारा सुझाया गया जिन्दगी का रास्ता है जो हिन्दू समाज में अवतरित हो गया है। यह विचार और कार्यो से असमानता में ढाला गया है। वास्तव में असमानता हिन्दूवाद की आत्मा है। हिन्दू दर्शन को उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखने पर डॉ. आंबेडकर का कहना था कि चातुर्वर्ण के आदर्श की एक सामाजिक संगठन के तौर पर भर्त्सना होनी चाहिए। डॉ. आंबेडकर द्वारा जाति व्यवस्था के हानिकारक प्रभाव निम्नलिखित शब्दों में दर्शाए गए: 'जाति मनुष्य को संवेदनहीन बनाती है, यह बांझपन की एक प्रक्रिया है। शिक्षा, सम्पत्ति एवं श्रम प्रत्येक व्यक्ति के लिए, जो कि स्वतन्त्र एवं पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करना चाहता है, आवश्यक है। कुछेक वर्गों को शिक्षा और धन एवं दूसरों को श्रम तक सीमित कर देने से हिन्दू दर्शन ने समाज को संवेदनहीन बना दिया है। समाज के पिछड़ेपन एवं आलस्य प्रवृत्ति का दोष मुख्यतः अप्राकृतिक एवं अवैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था को दिया जा सकता है। डॉ. आंबेडकर ने हिन्दू दर्शन की तुलना जर्मन दार्शनिक नीत्से से, जिसने सुपरमैन के शासन की वकालत की और नाजीवाद की राजनैतिक विचारधारा की अगुवाई की, से की। नीत्से ने हिन्दू कानून के निर्माता मनु को इस बात के लिए पसन्द किया है कि उसने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता अर्थात्–भूमि पर भगवान जो कि उसके सुपरमैन के समानान्तर है, की वकालत की है। हिन्दूवाद का दर्शन इस प्रकार का है कि इसे मानवता का धर्म नहीं कहा जा सकता। यदि यह कुछ करता है तो उसे नष्ट करता है। साधारण मानवीय कमजोरियों के लिए कोई सहायता क्रूरतम अधर्म से किसी भी तरह कम क्रूर नहीं है। यह मनुष्य को भगवान से जुड़ने से रोकता है। यहाँ तक कि यह लोगों के अधीन भी नहीं है। हिन्दू समाज व्यवस्था भाईचारे को स्वीकार नहीं करती क्योंकि इसका विश्वास है कि मनुष्य 'दैविक शरीर के अलग–अलग हिस्सों से बनाए गए हैं और यह इस भावना को पैदा करता है कि वह अपने जैसे दूसरे लोगों से भिन्न और अलग है। एक ओर हिन्दू दर्शन में समानता और भाईचारे का कोई स्थान नहीं है, वहीं यह क्रमगत असमानता, धंधों के स्थायित्व और क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाधर सामाजिक गतिशीलता के तीन सिद्धान्तों पर टिका है। क्रमगत असमानता वर्ग को केवल परंपरागत आधार पर ही नहीं अपितु आध्यात्मिक, नैतिक और कानूनी ढाँचे में भी ऊध्वार्धरतल पर रखती है। यह सिद्धांत आर्थिक क्षेत्र में भी

लागू किया गया है। हिन्दू व्यवस्था 'प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी जरूरतों के मुताबिक' के सिद्धान्त को नहीं मानती। जन्म से पेशे का निर्धारण, सामाजिक व्यवस्था का एक और मूलभूत आधार है। प्रत्येक सदस्य को उसी कार्य को करना जरूरी है जो उस वर्ग को सौपा गया है, जिसमें उसने जन्म लिया है। उसमें व्यक्तिगत चुनाव, झुकाव या इच्छा का कोई सवाल नहीं है, उसे अपने पूर्वजों के धंधे में लगना ही पड़ेगा। वर्ग और श्रम विभाजन सब जगह मौजूद है। यह जिन्दगी को गतिहीन व सुविधायुक्त व सुविधाहीन मालिकों एवं गुलामों में अलग–अलग किए रहती है। एक मुक्त समाज व्यवस्था सामाजिक मिलन के सारे रास्ते खुले रखती है। यह केवल तभी संभव है जबकि आगे-पीछे जाने के रास्ते प्राप्त करने एवं दूसरों को प्रदान करने के समान अवसर मौजूद हों व उनमें बड़ी संख्या में समान मूल्य हों। इस प्रकार का सामाजिक संबंध परंपराओं को अनिवार्यतः विलीन करे, एक जागरूक एवं विस्तृत मानसिक जिंदगी के लिए रास्ता बनाए और मानसिक प्रवृतियों के पुनर्निर्माण की माँग करे। लेकिन हिन्दू समाज की विभिन्न व्यवस्था, जो कि वर्ग और उनकी क्रमगत असमानता, नियत स्थिति और कार्यों पर टिकी है; समानता, स्वतन्त्रता और बंधुता के मूल सिद्धान्तों के प्रति शत्रुमय है।

सामाजिक व्यवस्था के अन्याय के विरुद्ध अस्पृश्यों के संघर्षों का एक लम्बा इतिहास है। शुरुआती चरणों में यह संघर्ष मुख्यतः उनके विरोध एवं याचिकाओं के रूप में था। बाद में इस आंदोलन ने खुले विद्रोह का रूप ले लिया। संघर्ष के रूप में यह परिवर्तन प्रधानतः इस अनुभूति से हुआ कि हिन्दुओं को झकझोरने के लिए याचिकाएँ एवं ज्ञापन पर्याप्त नहीं हैं। साथ ही अंग्रेजी–भारतीय कानून की भूमिका भी, जिसने अस्पृश्यों को किसी भी प्रकार के वस्त्र एवं आभूषण धारण करने एवं जनोपयोगी सेवाओं जैसे कुओं, स्कूलों, बसों, ट्रामों, रेल, सार्वजनिक कार्यालयों आदि के प्रयोग का अधिकार दिया, इसका कारण था। समर्थ कानूनी प्रावधानों के बावजूद अस्पृश्यों को आधारभूत मानवीय अधिकारों एवं नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया। स्मरण योग्य संघर्ष में से एक 1924 में ट्रावनकोर राज्य में वायक्कोम का सत्याग्रह था। वायक्कोम मन्दिर के निकट सार्वजनिक सड़क, जिसका रख रखाव राज्य द्वारा किया जाता था, मन्दिर के भवन के पास होने के कारण अस्पृश्यों को प्रयोग में नहीं लाने दी जाती थी। यह व्यवस्था हिन्दू धर्म द्वारा विभिन्न समुदायों एवं अस्पृश्यों के लिए मंदिर के देवता से दूरी की परम्परा पर आधारित थी। वायक्कोम मन्दिर में मन्दिर के देवता से स्पर्श योग्य शूद्रों एवं अस्पृश्यों द्वारा रखी जाने वाली दूरी निर्धारित थी एवं मन्दिर के निकट की कई सड़कें उस दूरी के अंतर्गत आती थीं जो अस्पृश्यों के उन सड़कों में प्रवेश पर रोक लगाती थीं। समाज सुधारक श्री नारायण गुरु एवं उस के अनुयायियों द्वारा जन साधारण का नेतृत्व किया गया। श्री नारायण गुरु के शिष्य तथा अय्यंकाली एवं टी. के. माधवन दास ने वायक्कोम में अस्पृश्यों के लिए मंदिर के निकट की सड़कों एवं मंदिर में प्रवेश की रुकावट की अमानवीय परंपरा के खिलाफ जन सत्याग्रह का नेतृत्व किया। एक अन्य अविस्मरणीय संघर्ष सार्वजनिक जलाशयों से अस्पृश्यों के पानी लेने के अधिकार को न्यायसंगत सिद्ध करने वाला चौदार तालाब आंदोलन और महाड़ सत्याग्रह था। बम्बई में 1869 में महाड़ नगरपालिका की स्थापना की गई। कोलाबा जिले के महाड़ कस्बे में वहाँ के चौदार तालाब को इसे सौंप दिया गया। महाड़ निवासियों के लिए जल का मुख्य स्रोत यही तालाब था। अछूतों को इसके उपयोग की अनुमति नहीं थी। कस्बे में अछूतों के लिए अछूतों की बस्ती में स्थित कुआँ ही उनके लिए जल का एकमात्र स्रोत था।

बम्बई विधान परिषद ने 1923 में एक प्रस्ताव पास किया। इसके द्वारा सार्वजनिक कोष से बनाये गये एवं रख–रखाव वाले अथवा कानून द्वारा नियुक्त एवं निर्मित निकाय द्वारा प्रशासित होने वाले सार्वजनिक कुओं एवं धर्मशालाओं व साथ ही सार्वजनिक स्कूलों अदालतों, कार्यालयों एवं औषधालयों के प्रयोग की अनुमति सबको दे दी गई। सरकार ने अछूत वर्ग को उपर्युक्त प्रस्ताव के अनुसार आदेश जारी किये एवं 1924 में महाड़ नगरपालिका ने भी इस आशय का प्रस्ताव पास किया कि चौदार तालाब से अछूतों द्वारा उपयोग करने पर नगरपालिका को कोई ऐतराज नहीं है। तालाब से अछूतों के पानी लेने के कानूनी अधिकार को प्राप्त करने के लिए डॉ. आंबेडकर ने अछूतों को संगठित किया। सन् 1927 में मार्च 18 से 20 मार्च तक महाड़ में इसके संबंध में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। ढाई हजार से अधिक अछूतों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। डॉ. आंबेडकर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में लोगों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने, गंदी एवं अनैतिक आदतों को त्यागने एवं पूर्ण मानव के रूप में उठने के लिए प्रेरित किया। 20 मार्च, 1927 को सम्मेलन के बाद एक प्रस्ताव पास किया गया। सम्मेलन ने तालाब तक जाने एवं तालाब से पानी लेने के अपने अधिकार को काम में लाने का आह्वान किया। इस आह्वान ने सम्मेलन में उपस्थित सवर्ण हिन्दुओं को, जिन्होंने अछूतों को प्राप्त कानूनी अधिकारों को प्राप्त करने के लिए निडर होने को कहा था, भयभीत कर दिया। उन्होंने तुरंत महसूस किया कि कानूनी अधिकार को प्राप्त करने के लिए सीधी कार्यवाही एक बम विस्फोट के समान थी एवं वे शीघ्र भाग गये। डॉ. आंबेडकर एवं उनके सहकर्मियों के नेतृत्व में ढाई हजार अछूतों के समूह ने एक प्रदर्शन के रूप में गलियों से होते हुए चौदार तालाब की ओर प्रस्थान किया। शहर के हिन्दू अछूतों के अभियान को देखकर दंग रह गये एवं कुछ समय के लिए वह चकित एवं गतिहीन हो गये। जुलूस तालाब तक पहुँचा एवं पहली बार अछूतों ने किसी सार्वजनिक तालाब से पानी पीया। उच्च जाति के हिन्दू पागल हो गये और उन्होंने अछूतों पर हमले कर दिए। अछूतों ने सवर्ण हिन्दुओं द्वारा दी गई चुनौती को स्वीकार किया और दिसम्बर 1927 में एक दूसरा सम्मेलन बुलाया। 12 दिसम्बर, 1927 को महाड़ न्यायालय में सवर्ण हिन्दुओं ने एक याचिका दायर की। याचिका पर निर्णय होने तक अछूतों के तालाब तक जाने एवं उससे पानी लेने पर रोक लगाने की अस्थाई निषेधाज्ञा प्राप्त कर ली। अंत में सवर्ण हिन्दू मुकदमा हार गये। अस्पृश्यों द्वारा चौदार तालाब के उपयोग पर निषेधाज्ञा हटा दी गई। डॉ. आंबेडकर ने इस मुकदमे में बम्बई उच्च न्यायलय के निर्णय के बारे में कुछ टिप्पणियाँ कीं। उन्होंने बताया कि कानून का शासन वह है जिसमें एक परंपरा को मान्य होने के लिए इसे स्मरणातीत होना चाहिए, निश्चित होना चाहिए एवं नैतिकता अथवा सार्वजनिक नीति के विरुद्ध नहीं होना चाहिए।

1924 में ट्रावनकोर राज्य में वायक्कोम सत्याग्रह से शुरू हुआ मन्दिर प्रवेश आंदोलन देश के विभिन्न भागों में फैल रहा था। महाड़ सत्याग्रह से उत्पन्न वातावरण एवं चेतना ने बम्बई प्रेजीडेंसी में शक्तिशाली मंदिर प्रवेश आंदोलन के लिए उपजाऊ भूमि प्रदान की। डॉ. आंबेडकर ने नासिक में कालाराम मंदिर में प्रवेश के लिए आंदोलन शुरू किया। सत्याग्रह 2 मार्च, 1930 से तय किया गया। दादा साहिब बी.के. गायकवाड़ की अध्यक्षता में सत्याग्रह समिति ने आंदोलन के लिए विस्तृत प्रबंध किये। सत्याग्रह में भाग लेने के लिए नासिक में लगभग 1500 स्वयंसेवक एकत्रित हुए। सत्याग्रहियों ने एक मील लम्बे जुलूस के रूप में मंदिर के दरवाजों की ओर यात्रा शुरू की। सामने एक बैंड व उसके पीछे 500 महिला सत्याग्रहियों सहित स्वयंसेवक जब मंदिर द्वार तक पहुँचे तो पाया कि सभी द्वार पुलिस बंदोबस्त के साथ बंद थे। जुलूसकारी तब गोदावरी घाट पर गये एवं वहाँ एक सभा की। एक माह से भी अधिक समय

तक यह अहिंसा का सत्याग्रह चला एवं प्रतिदिन छोटे–छोटे जत्थों ने मंदिर तक जाकर गिरफ्तारियाँ दीं। 9 अप्रैल को जब मूर्ति की रथ यात्रा निकल रही थी तो मंदिर के न्यासियों ने अस्पृश्यों को रथ स्पर्श करने की अनुमति दे दी। जब सत्याग्रहियों ने रथ तक पहुँचने का प्रयास किया तो कुछ सवर्ण हिन्दुओं ने उन पर पत्थरों एवं लाठियों से हमला किया जिसमें डॉ. आंबेडकर सहित कई लोग घायल हो गये। हिंसक विरोध के बावजूद आंदोलन चलता रहा एवं मंदिर एक वर्ष तक बंद रहा। इसी समय अछूतों के गुरुवयूर मंदिर प्रवेश के लिए मालाबार में एक व्यापक सत्याग्रह शुरू किया गया। यह आंदोलन नवम्बर 1931 में शुरू किया गया एवं कई वर्ष तक चालू रहा।

नासिक सत्याग्रह ने सवर्ण हिन्दुओं में काफी रोष पैदा कर दिया था। विभिन्न स्थानों पर अछूतों को उत्पीड़न एवं दुर्व्यवहार का शिकार होना पड़ा था। स्वयंसेवकों ने इन सब कठिनाइयों के बावजूद संघर्ष को पाँच वर्ष तक चालू रखा। छुआछूत विरोधी आंदोलन में सीधी कार्यवाही के दो अन्य महत्त्वपूर्ण मामले भी शामिल हैं। इनका उद्देश्य अमानवीय पुरातन व्यवस्था की जड़ों में डायनामाईट लगाकर सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त करना था। एक मामला महाड़ के चौदार तालाब आंदोलन के हिस्से के रूप में दिसम्बर 1927 में मनुस्मृति का दहन; एवं दूसरा था सवर्ण हिन्दुओं के मृत पशुओं को उठाने एवं उनकी खाल उतारने से अछूतों का व्यापक रूप से इनकार करना। मनुस्मृति 25 दिसम्बर, 1927 को महाड़ सत्याग्रह के दूसरे चरण के दौरान अछूतों के सम्मेलन में जलाई गई। सम्मेलन ने 'हिन्दू अधिकारों की घोषणा', जिसमें निम्न सिद्धांतों को माना गया था, सहित कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए :

1) सभी हिन्दुओं का जन्म से सामाजिक स्तर समान है।

2) राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक परिवर्तनों का अन्तिम लक्ष्य सभी हिन्दुओं के स्तर की समानता को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिए।

3) समस्त सत्ता जनता से प्राप्त होती है।

4) प्रत्येक व्यक्ति बतौर जन्मसिद्ध अधिकार के, कार्य एवं भाषण की स्वतंत्रता का अधिकारी है।

5) हिन्दुओं को अधिकारों के अलावा उनके जन्म सिद्ध अधिकारों से केवल कानून द्वारा ही वंचित किया जा सकता है।

6) कानून किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के किसी निकाय का आदेश नहीं है। कानून, परिवर्तन के लिए जनता का विधान, नुस्खा, एवं निर्देशन है।

सम्मेलन द्वारा पारित दूसरा प्रस्ताव मनुस्मृति दहन से संबंधित था। इस प्रस्ताव ने माना कि मनुस्मृति किसी भी सम्मान की अधिकारी एवम् पवित्र ग्रंथ कहलाने योग्य नहीं थी। कार्यवाहियों के अंत में सम्मेलन में सामाजिक असमानता की पद्धति के विरोध स्वरूप मनुस्मृति की असमानता को अस्वीकार किया गया व एक प्रति को जलाने का निश्चय किया गया। इस कार्य का महत्त्व इस घोषणा के समान था कि हिन्दू समाज का पुनर्निर्माण शास्त्रों के पुराने आधार पर नहीं होना चाहिए।

अछूतों के आंदोलन में पुरातनपंथी हिन्दुओं में हिंसक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी। अछूतों की स्वतंत्रता एवं सम्मान के अधिकार को मनवाने के तीव्र विरोध के कारणों का डॉ. आंबेडकर

ने विश्लेषण किया। अछूतों के प्रति गहरी घृणा का प्रथम कारण स्पृश्यों एवं अस्पृश्यों के बीच तीन सामाजिक, सांस्कृतिक विभाजन था। प्रत्येक गाँव में अस्पृश्य पृथक क्षेत्रों में रहते थे। यद्यपि राजस्व, प्रशासन एवं डाक संचार की दृष्टि से अस्पृश्यों के घर गाँव में शामिल माने जाते थे, लेकिन वास्तव में वह गाँव से अलग ही होते थे। प्रत्येक गाँव स्पृश्यों एव अस्पृश्यों के दो अलग–अलग समूह होते थे एवं उनमें आपस में कोई भी चीज समान नहीं होती थी। उन्होंने देखा कि आधुनिक अमेरिकन अथवा यूरोपियन समाजों के विपरीत भारतीय हिन्दू समाज में व्यक्तिगत मनुष्य की कोई हैसियत नहीं है। समूह ही वास्तविक संघ है जिससे उनके अंतर्गत कोई भी नहीं बच सकता। वे व्यक्ति नहीं हैं क्योकि उनके लगभग सभी संबंध उसी समय निश्चित हो जाते हैं, जब वे किसी एक समूह में जन्म लेते हैं। उनके व्यवसाय, निवास, देवता, एवं उनकी राजनीति सभी उनके लिए उस समूह द्वारा जिससे वे संबंधित होते हैं, तय की जाती है। तीसरा स्पृश्यों एवं अस्पृश्यों के बीच संबंध निश्चित किए गए हैं और यह हैसियत का विषय है न कि योग्यता एवं क्षमता का। इसलिए गाँव के दो भाग, पुनस्थापन के लिए, जिसे स्पृश्यों ने सोचा था कि वह हमेशा के लिए स्थापित हो चुका है, संघर्ष कर रहे हैं। प्रश्न यह है कि उनके संबंधों का क्या अधिकार होना चाहिए? चौदार तालाब आंदोलन एवं कालाराम मंदिर सत्याग्रह के समय अस्पृश्यों पर आक्रमण, स्पृश्यों की स्थिति को पुनः स्थापित करने एवं शास्त्रों में आदेशित संबंधों के अलावा किसी भी प्रकार से अलग परिवर्तन के प्रति स्पृश्यों की अनिच्छा को इंगित करता है। महाड़ के उच्च जाति के हिन्दुओं ने विभिन्न संदेशों में सम्मेलन में भाग लेने वाले लोगों को गाँवों में लौटने पर दंडित करने के संदेश भेजे। इस प्रकार अस्पृश्यों को उनके गाँवों में वापस–लौटने पर शारीरिक आक्रमणों एवं सामाजिक बहिष्कारों का सामना करना पड़ा।

1935 में अहमदाबाद जिले के ढोलका ताल्लुक के कविथा गाँव में एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना घटी। अगस्त 1935 में गाँव के चार अस्पृश्य बच्चों को गाँव के विद्यालय से निकाल दिया एवं अस्पृश्य परिवारों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। सवर्णों ने अस्पृश्यों के जीवन को असहनीय बनाने का षडयंत्र रचा। उन्होंने उन्हें मजदूरी पर लेने से मना कर दिया। उन्हें खाद्य पदार्थ बेचने से मना कर दिया व उन्हें पशुओं को चराने की सुविधा देने से भी मना कर दिया। जिन कुओं से अस्पृश्य पीने का पानी लेते थे, उनमें उन्होंने मिट्टी का तेल तक डाल दिया। अक्टूबर 1935 में जब उन्होंने एक मजिस्ट्रेट के सामने इसके विरुद्ध शिकायत दायर की तो गांधी एवं पटेल ने इस अत्याचार से बचने के लिए अस्पृश्यों को गाँव छोड़ने की सलाह दी। अंत में सरदार पटेल ने अस्पृश्यों को शिकायत वापस लेने के लिए मजबूर किया।

सवर्णों के साथ संघर्ष में अस्पृश्य हमेशा असहाय थे। वे लगभग पूर्णतया असहाय थे, डॉ. आंबेडकर ने इसके कारणों की तलाश की। उन्होंने निम्न कारणों को सूचीबद्ध किया :

1) जहाँ तक संख्या का संबंध है दोनों समूहों में असमानता है।

2) कोई भी व्यक्ति अस्पृश्यों को पहुँचाई गई क्षति के लिए प्रतिशोध लेने के लिए तैयार नहीं है।

3) गाँवों के अधिकांश अस्पृश्य गाँव के नौकर हैं अथवा भूमिहीन श्रमिक और वे अपनी जीविका के लिए पूर्णतया सवर्ण हिन्दुओं पर आश्रित हैं।

4) अस्पृश्यों के पास जीवनयापन का कोई मार्ग नहीं है। वे दूध या सब्जी नहीं बेच सकते। वे कोई और कार्य नहीं कर सकते क्योंकि सभी कार्य वंशानुगत हैं एवं उनकी आर्थिक निर्भरता पूर्ण रुप से सवर्णों पर है।

5) जीवन की आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए भी अस्पृश्य स्पृश्यों पर निर्भर हैं।

6) अस्पृश्यों के सभी आर्थिक सम्बंधों को समाप्त करने के लिए सवर्ण ने एक संगठित षडयंत्र रचा।

7) शारीरिक आक्रमण एवं सामाजिक बहिष्कार अस्पृश्यों के खिलाफ दो प्रधान शस्त्र है।

8) अस्पृश्यों के पास उत्पादन के कोई साधन नहीं हैं। वे काश्तकार या मजदूर के रूप में काम करते हैं।

9) अस्पृश्यों को पुलिस से कोई संरक्षण अथवा मजिस्ट्रेटों से न्याय प्राप्त नहीं होता क्योंकि दोनों ही उच्च जातियों से बनाये जाते हैं। वे केवल भ्रष्ट ही नहीं अपितु पक्षपाती भी होते हैं। भ्रष्ट्राचार के कुछ उपचार हो सकते हैं लेकिन पक्षपात असाध्य हैं। यह सामाजिक एवं धार्मिक असंगति पर आधारित होता है, जो प्रत्येक सवर्ण हिन्दू में जन्मजात होता है।

10) इस व्यवस्था का सबसे खराब रूप है कि यह अन्याय एवं उत्पीड़न कानून की सीमाओं के अंतर्गत किये जा सकते हैं। सवर्ण हिन्दुओं को यह कहने का कानूनी अधिकार है कि वह एक अस्पृश्य को काम पर नही लगाएगा। वह उसको अपनी भूमि से हटा देगा। वह उसे अपने खेतों में से उसके पशुओं को नहीं ले जाने देगा। कानून में बचाव के अनेक रास्ते हैं व सवर्ण हिन्दू चूंकि उन्हें अच्छी तरह से जानते हैं। अतः वह उनका फायदा उठा सकते हैं और न्यायाधीश उनका पक्ष लेते हैं। न्यायाधीश अधिकतर अस्पृश्यों द्वारा दी गई गवाही को यह कहकर रद्द कर सकते हैं कि 'वह गवाहों में विश्वास नहीं करते' एवं किसी ने इस विशेषाधिकार को चुनौती नहीं दी है।

डॉ. आंबेडकर ने देश के विभिन्न भागों में किए गये महान संघर्ष एवं आंदोलनों से प्राप्त अमूल्य सबकों से निष्कर्ष निकाला कि अस्पृश्यता एवं जाति उत्पीड़न, शास्त्रीय ढाँचे की हिन्दू धर्म की आधारशिला है। अतः इसके अंतर्गत इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। पाँच वर्ष से भी अधिक समय तक मंदिर प्रवेश आंदोलन को चालू रखने के पश्चात 13 अक्टूबर 1935 को एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में बम्बई प्रेजीडेन्सी के अतिरिक्त हैदराबाद राज्य एवं केंद्रीय प्रान्त के प्रतिनिधियों सहित लगभग 10,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन को संबोधित करते हुए डॉ. आंबेडकर ने दलित वर्ग के अनुभवों व हिन्दू धर्म के संरक्षण में न्यूनतम मानवीय अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उनके द्वारा किये गये असीम त्यागों का वर्णन किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सवर्ण हिन्दुओं के तीव्र विरोध एवं अमानवीय व्यवहार के कारण ही नासिक मंदिर प्रवेश का लम्बा आंदोलन असफल हुआ है। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि हिन्दू धर्म से संबंध-विच्छेद करने एवं किसी अन्य धर्म में, जो बिना किसी आरक्षण के व्यवहार, स्थिति एवं अवसरों की समानता आश्वस्त करता हो, में जाकर आत्मसम्मान प्राप्त करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। डॉ. आंबेडकर ने घोषणा की कि "दुर्भाग्य से मैं हिन्दू पैदा हुआ हूँ, इसे रोकना मेरी शक्ति से बाहर था, किन्तु मैं आपको दृढ़तापूर्वक यह आश्वासन देता हूँ कि मैं एक हिन्दू होकर नहीं मरूंगा।"

30–31 मई, 1936 को बम्बई में आयोजित एक सम्मेलन में डॉ. आंबेडकर ने धर्म परिवर्तन के प्रश्न पर अपने विचार स्पष्ट रूप में रखे। उन्होंने जोर दिया कि धर्म परिवर्तन के, सामाजिक

एवं धार्मिक, भौतिक एवं आर्थिक दो रूप हैं। उन्होंने देखा कि अस्पृश्यता सवर्ण हिन्दुओं एवं अस्पृश्यों के दो वर्ग के बीच संघर्ष का परिणाम है। उन्होंने इंगित किया कि अस्पृश्यता एक छोटा अथवा अस्थायी लक्षण न होकर एक स्थायी लक्षण है। यह शाश्वत है क्योंकि हिन्दुओं की मान्यता के अनुसार, जिन्हें सामाजिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन स्वीकार्य नहीं हैं, धर्म जिसने अस्पृश्यों को समाज के निम्नतम स्तर पर रखा है, स्वयं में शाश्वत है। उन्होंने कहा कि केवल वही, जो हिन्दुओं के आदेशों की आज्ञा पालन कर जिन्दा रहने की इच्छा रखते हैं एवं उनके दास बने रहना चाहते हैं, हिन्दू शास्त्रों एवं धर्म को स्वीकार करते रहेंगे। जबकि अन्य जो आत्मसम्मान एवं समानता का जीवन जीना चाहता है, को एक वैकल्पिक धर्म एवं मूल्य पद्धति अपनानी पड़ेगी। उन्होंने आगे बताया कि हिन्दू समाज में व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। यह वर्ग सिद्धांत पर आधारित है। एक व्यक्ति के मानवीय, उत्थान के लिए तीन कारक आवश्यक हैं। वे हैं करुणा, समानता एव स्वतन्त्रता। हिन्दू धर्म में इन तीनों में से कोई भी विद्यमान नहीं है। डॉ. आंबेडकर ने निष्कर्ष निकाला कि अस्पृश्यता को समाप्त करने व मानवोचित व्यवहार समानता एवं स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए हिन्दू धर्म को छोड़ना ही एकमात्र रास्ता है।

जाति उन्मूलन डॉ. आंबेडकर का सबसे सशक्त संदेश है। इस विषय पर वह अपना ऐतिहासिक भाषण, जो उन्होंने लाहौर के जात–पात तोड़क मंडल के 1936 के वार्षिक अधिवेशन के लिए तैयार किया था, स्वागत समिति द्वारा अधिवेशन रद्द कर देने की वजह से नहीं दे पाए थे। जात–पात तोड़क मंडल की स्वागत समिति भाषण में व्यक्त विचारों को सम्मेलन के लिए असहय मानती थी। इसलिए उसने डॉ. आंबेडकर द्वारा भाषण में फेर बदल को स्वीकार न करने पर सम्मेलन रद्द कर दिया। इस भाषण में व्यक्त किए गए विचार ही जाति प्रथा के सूक्ष्म विश्लेषण और उसके उन्मूलन के तौर तरीके के खिलाफ संघर्ष में मूल पथ प्रदर्शक बने। जाति ने आर्थिक दक्षता को अपाहिज करके नस्ल के विकास को रोक दिया है। इस तरह इसने समाज को पूरी तरह अव्यवस्थित एवं अस्तव्यस्त कर दिया है। डॉ. आंबेडकर ने स्थापित किया कि हिन्दू समाज एक कल्पना है तथा हिन्दू कहलाने वाला समाज जातियों का संग्रह मात्र है। प्रत्येक जाति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है एवं इसका जिन्दा रहना ही इसके अस्तित्व के होने या न होने के कारण सब कुछ है। जातियाँ एक संघ का निर्माण नहीं करती और जाति के बीच कोई अपनत्व की भावना नहीं है। प्रत्येक जाति न केवल जाति के अंतर्गत ही खान–पान करती है, विवाह संबंध स्थापित करती है, अपितु प्रत्येक जाति अपनी विशेष वेशभूषा भी निर्धारित करती है। उन्होंने एक आदर्श हिन्दू की तुलना अपने ही बिल में रहने वाले एक चूहे से की जो दूसरों से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखता। समाजशास्त्री जिसे चेतना की संज्ञा देते हैं, हिन्दुओं में, उसकी पूर्ण रूप से कमी है। जो भी चेतना विद्यमान है, वह जाति की चेतना है। यही कारण है कि हिन्दुओं को एक समाज अथवा एक राष्ट्र का बना हुआ नहीं कहा जा सकता। डॉ. आंबेडकर ने व्याख्या की कि ''केवल भौतिक रूप से नजदीक रहने से ही मनुष्य समाज नहीं बन जाता। न ही एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से कई मील दूर रहने से समाज की सदस्यता से अलग हो जाता है। आदतों, प्रथाओं, विश्वासों एवं विचारों की समानता भी मनुष्यों के समाज बनने के लिए काफी नहीं है। मानव समाज का निर्माण इसलिए करते हैं क्योंकि उनमें वे चीजें हैं जो उनमें समान रूप से पाई जाती हैं। समान चीजों का रखना, चीजों के समान रूप से होने से पूर्णतया भिन्न है। एक दूसरे के साथ संचार बनाये रखना ही मनुष्यों द्वारा चीजों के समान धारण करने का एकमात्र उपाय है, समानान्तर क्रिया, यदि वह सदृश भी हो तो भी यह मनुष्यों को समाज

में बाँधने के लिए पर्याप्त नहीं है।'' यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि विभिन्न जातियों द्वारा मनाये जाने वाले त्यौहार एक ही हैं। तथापि विभिन्न जातियों द्वारा एक ही जैसे त्यौहारों का, व विभिन्न जातियों द्वारा समानान्तर उत्सव उन्हें एक एकीकृत सम्पूर्ण समाज में नहीं जोड़ पाया है। इस उद्देश्य के लिए जरूरी है कि एक समान क्रिया में हिस्सेदारी हो, वह उसमें भाग लें, जिससे कि उनमें एक जैसी भावना पैदा हो, जो दूसरों को उससे जोड़ सके। एक व्यक्ति को एक संयुक्त क्रिया में हिस्सेदार अथवा भागीदार बनाना, जिससे वह इसकी सफलता में अपनी सफलता एवं इसकी असफलता में अपनी असफलता महसूस करे, वही वास्तविक चीज है जो व्यक्ति को जोड़ती है तथा उनके समाज का निर्माण करती है। जाति प्रथा सम्मिलित गतिविधि को रोकती है और सम्मिलित गतिविधि को रोककर इसने हिन्दुओं को एक एकीकृत जीवन एवं इसकी स्वयं की चेतना वाले समाज बनने से रोका है।

बाबा साहेब ने बताया कि जाति प्रथा पृथकतावाद विशुद्धवाद तथा समाज विरोधी भावना को जन्म देता है। जाति चेतना समाज की धरोहर के विरुद्ध जाति स्मृति का हित साधती है तथा एकजुटता रोकती है। उसी भूमि पर, जो हजारों वर्ष की सभ्यता का दम भरती है, में मूल जनजातियाँ, आदिम, असभ्य अवस्था में ही रह गईं। उच्च वर्ग हिन्दुओं ने निम्न जातियों को, जो हिन्दू धर्म के अंर्तगत निस्तेज थीं, जान बूझकर उनके सांस्कृतिक स्तर को उठाने से रोका। जाति प्रथा के उदय से हिन्दू धर्म एक मिशनरी धर्म के रूप में समाप्त हो गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उसने जीवन लक्ष्य अथवा आदर्श छोड़ दिए तथा पिछड़े और कमजोर लोगों की कीमत पर विशेषाधिकारों का रक्षण करना ही इसका लक्ष्य रह गया। उदासीनतावाद व्यक्ति को ग्रसित करने वाला सबसे बुरे किस्म का रोग है और दमन के प्रति यह उदासीनता एवं सहनशीलता 'बड़ों द्वारा छोटों को कुचलना, ताकतवर द्वारा कमजोर लोगों को पीटना, दुष्ट व्यक्तियों का निर्भय होना, दयालु व्यक्तियों द्वारा साहस न करना एवं बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा परवाह न करने की श्रेणीगत विशेषाधिकार प्रणाली से और भी मजबूत होती है। जातियों एवं उपजातियों में समाज के विभाजन ने हिन्दू–मानस पर एक अमिट छाप छोड़ी है। यह सहयोग एवं संगठन की लालसा के विरुद्ध कार्य करती है। अतः विभाजित मानस विभाजित समाज को प्रबल करता है। नैतिकता पर जाति के दुखद प्रभाव ने सार्वजनिक भावना एवं सार्वजनिक त्याग की अनुभूति को व्यावहारिक तौर पर समाप्त कर दिया है। उनका प्रेक्षण था कि हमारे यहाँ जनमत कुछ असम्भव सा है, क्योंकि एक हिन्दू के लिए जनमत उसी की जाति है एवं उसका उत्तरदायित्व केवल उसकी जाति की सीमा से बंधा हुआ है। योग्य पात्र के लिए कोई सहानुभूति नहीं है। योग्यता को कोई बढ़ावा नहीं है। जरूरतमंदों के लिए कोई उदारता नहीं है। इस हालत में उत्पीड़न पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। दानशीलता है किन्तु यह भी जाति से शुरू होती है और जाति पर ही समाप्त हो जाती है।

डॉ. आंबेडकर ने स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुता पर आधारित समाज के अपने आदर्श की व्याख्या की। मानवता विरोधी जातिग्रस्त समाज के विपरीत उन्होंने बन्धुत्व पर आधारित समाज की घोषणा की। एक आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए इसे एक भाग से दूसरे भाग में होने वाले परिवर्तनों को पहुँचाने की क्षमता से लबालब होना चाहिए। एक आदर्श समाज में दूसरों से सम्पर्कों के लिए विभिन्न एवं स्वतंत्र सम्पर्क स्थल होने चाहिए। दूसरे शब्दों में सामाजिक आदान–प्रदान होना चाहिए। यह बंधुता है जो कि लोकतंत्र का ही दूसरा नाम है। लोकतंत्र सरकार का रूपमात्र ही नहीं है। प्रधानतः यह एक संयुक्त जीवन का एक तरीका है। एक संयुक्त रूप से प्रकट किया गया अनुभव है। यह अनिवार्यतः अपने साथियों की तरफ सम्मान एवं श्रद्धा का बर्ताव है। किसी को उसका व्यवसाय चुनने के प्रति जातिवाद का

एतराज, दासता का समर्थन करने के समान है। दासता का मतलब आधिपत्य मात्र ही नही है। इसका मतलब समाज की एक अवस्था है– जिसमें कुछ व्यक्तियों से दूसरे व्यक्ति द्वारा, जो उनके व्यवहार को नियमित करते हैं, अपने उद्देश्यों को जबरन स्वीकार करवाया जाता है। यह अवस्था वहाँ भी पैदा होती है जहाँ कानूनी तौर पर दासता नहीं है। यह वहाँ पाई जाती है जहाँ कुछ लोगों को उनकी इच्छा के बिना कुछ निश्चित कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है जैसा कि जाति व्यवस्था में होता है। समानता, फ्रांस की क्रांति के नारे का सबसे अधिक विवादस्पद हिस्सा रहा है। समानता पर डॉ. आंबेडकर ने अपने विचार निम्न पंक्तियों में प्रतिपादित किये हैं

''समानता एक कल्पना हो सकती है, लेकिन फिर भी साक्षी सिद्धांत के रूप में उसे स्वीकार करना चाहिए। किसी व्यक्ति को उसकी शारीरिक आनुवांशिकता, सामाजिक विरासत अथवा पैतृक देखभाल के रूप में संचित निधि, शिक्षा, संचित वैज्ञानिक ज्ञान या कोई भी वस्तु जो उसे असभ्य से अधिक कुशल बनाती हो, स्वयं के अपने प्रयासों पर निभर करती है। इन सभी पहलुओं की दृष्टि से व्यक्ति निःसन्देह असमान होते हैं। प्रश्न है कि क्या हम उनसे इसलिए असमान बर्ताव करें क्योंकि वे असमान हैं? यह वह प्रश्न है जिसका उत्तर समानता विरोधियों को अवश्य देना चाहिए। व्यक्तिवादियों के दृष्टिकोण से जहाँ तक मनुष्यों के प्रयासों में असमानता है, वहाँ तक उन्हें असमान मानना उचित होगा। यह वांछनीय है कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए अधिक से अधिक संभव प्रोत्साहन दिया जाए। लेकिन यदि मनुष्यों को प्रथम दो पहलुओं में ही असमान माना गया तब क्या होगा? यह स्पष्ट है कि उन व्यक्तियों के, जिनके पक्ष में जन्म, शिक्षा, परिवार का नाम, व्यावसायिक संबंध एवं आनुवंशिक धन भी है, दौड़ में चुन लिए जायेंगे। लेकिन इन परिस्थितियों में किया गया चुनाव, योग्य का चुनाव नहीं होगा। यह विशेषाधिकार प्राप्त लोगों का चुनाव होगा। अतः तर्क जो तीसरे पहलू को मजबूत करता है कि हमें मनुष्यों को असमान मानना चाहिए, की माँग है कि प्रथम दो पहलुओं में हम मनुष्यों को जहाँ तक संभव हो समान माने। इसकी तरह यह भी आशंका की जा सकती है कि अगर इसके सदस्यों के अधिकांश को लिया जाना सामाजिक निकाय के हित में है तो उनमें से अधिकांश को केवल तभी ले सकते हैं जबकि दौड़ के आरम्भ में ही जहाँ तक संभव हो उन्हें समान बनाया जाये।''।

श्रुति एवं स्मृतियों पर आधारित धर्म के विनाश के आह्वान को डॉ. आंबेडकर ने इस आधार पर स्पष्ट किया कि एक आदर्श धर्म को प्रधानतः केवल सिद्धांतों का विषय होना चाहिए व इसे नियमों का विषय नहीं होना चाहिए। जब भी एक धर्म का नियमों में ह्रास होता है तो वह धर्म नहीं रहता, क्योंकि यह सच्चे धार्मिक कार्य के सार के उत्तरदायित्व को समाप्त कर देता है। डॉ. आंबेडकर के अनुसार श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ और कुछ नहीं बल्कि यज्ञ (बलि), सामाजिक, राजनीतिक नियमों एवं विनियमों, सभी के मिश्रण का समूह है। यह और कुछ नहीं बल्कि 'आदेशों' एव' निषेधों का ढेर है। आध्यात्मिक सिद्धांतों के रूप में सच्चा व सार्वभौमिक, सभी नस्लों पर लागू होने वाला, सभी देशों के लिए, सर्वमांगलिक धर्म उनमें नहीं पाया जाता और अगर यह है तो यह एक हिन्दू जीवन का प्रधान हिस्सा नहीं है, क्योंकि एक हिन्दू के लिए धर्म का अर्थ केवल आदेश एवं निषेध ही है। जैसा वेदों में प्रयोग किया गया है, अधिकांश मामलों में धर्म का अर्थ धार्मिक अध्यादेश अथवा धार्मिक अनुष्ठान होता है। डॉ. आंबेडकर ने घोषणा की 'मैं स्पष्ट रूप से इन अध्यादेशों की संहिता को धर्म मानने से मना करता हूँ। इस प्रकार के आदेशों की संहिता की जिसने लोगों के सामने धर्म का गलत रूप रखा है, पहली बुराई है कि यह स्वतंत्रता एवं सहजता को नैतिक जीवन से अलग करने को प्रेरित करता

है। इसके अंतर्गत आदर्शों के प्रति कोई निष्ठा नहीं है। इसमें केवल आदेशों का अनुमोदन मात्र है। किन्तु इन आदेशों की संहिता की सबसे खराब चीज है कि इसमें जो कानून हैं वे कल, आज एवं हमेशा के लिए एक जैसे होने चाहिए। वे इस अर्थ में असमान हैं कि वे एक वर्ग के लिए उसी 'रूप में समान नहीं है, जैसे दूसरे वर्ग के लिए। इस असमानता को निरन्तर बना दिया गया है, क्योंकि ये सभी पीढ़ियों के लिए समान निर्धारित किये गये हैं। इस प्रकार की योजना में आपत्तिजनक यह नहीं है कि ये किन्हीं, पैगम्बर एवं विधाता कहे जाने वाले लोगों द्वारा बनाये गये हैं, आपत्तिजनक बात यह है कि इस संहिता को पूर्णता एवं स्थायित्व का चरित्र दे दिया गया है। सुख, आराम, किसी व्यक्ति की दशाओं एवं परिस्थितियों के साथ ही तथा भिन्न लोगों की दशाओं एवं युगों के अनुसार बदलता है। अगर यह सही है तो मानव इस प्रकार के शाश्वत कानून की संहिता को बिना काटे–छांटे कैसे सहन कर सकते हैं? इसलिए मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस प्रकार के धर्म को समाप्त कर देना चाहिए और मैं कहता हूँ कि इस प्रकार के एक धर्म को समाप्त करने के लिए कार्य करने में कोई भी अधार्मिकता नहीं है।'

उन्होंने जीवन की मूल धारणाओं में सम्पूर्ण परिवर्तन यथा जीवन के मूल्यों में पूर्ण परिवर्तन, व्यक्ति एवं वस्तुओं के प्रति दृष्टिकोण और व्यवहार में परिवर्तन का आह्वान किया। इसे उन्होंने रूपान्तरित नया जीवन कहा। किन्तु यह एक नया जीवन उस शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता जो मुर्दा है। नवजीवन केवल नये शरीर में ही प्रवेश कर सकता है। पुराने शरीर को नए शरीर के अस्तित्व में आने से पहले एवं उसमें एक नये जीवन के प्रवेश करने से पहले ही नष्ट हो जाना चाहिए। आसान शब्दों में नए जीवन के शुरू होने व उसके स्पन्दित होने से पहले ही पुराने का काम करना बन्द कर देना चाहिए। पुनर्जीवन की इस प्रक्रिया में डॉ. आंबेडकर चाहते थे कि हिन्दू वर्तमान विश्वासों, आदतों, शिक्षाओं एवं जीवन के प्रति दृष्टिकोणों को चुनौती दें। वह पुरातन की पूजा करना छोड़ दें तथा इस बात को स्वीकार कर लें कि कोई वस्तु स्थाई नहीं है तथा प्रत्येक वस्तु बदल रही है। यह परिवर्तन ही न केवल व्यक्ति, अपितु समाज के लिए जीवन है। एक परिवर्तनशील समाज में पुराने मूल्यों में लगातार परिवर्तन होते रहने चाहिए और यह अनुभव किया जाना चाहिए कि यदि व्यक्ति के कार्य को मापने के मापदंड होने चाहिए, तो उन मापदण्डों में भी संशोधन के लिए तैयार रहना चाहिए। उनका निष्कर्ष था कि जाति उन्मूलन का कार्य अन्य राष्ट्रीय कार्य से यथा स्वराज से कहीं अधिक कठिन है। जाति उन्मूलन पर अपने ऐतिहासिक भाषण में दिए गए डॉ. आंबेडकर के निम्न निष्कर्ष आज भी प्रासंगिक हैं: स्वराज की लड़ाई में जब आप लड़ते हैं तो सम्पूर्ण राष्ट्र आपकी ओर होता है। इसमें (जाति उन्मूलन में) आपको पूरे राष्ट्र के खिलाफ लड़ना पड़ता है और वह भी स्वयं के राष्ट्र के खिलाफ। लेकिन यह स्वराज से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

यदि आप स्वराज की रक्षा नहीं कर सकते तो उसे प्राप्त करने का कोई उपयोग नहीं। स्वराज की रक्षा करने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। स्वराज के अंतर्गत हिन्दुस्तानियों की रक्षा करना। मेरी राय में जब हिन्दू समाज एक वर्ग विहीन समाज बनेगा तभी वह इतना शक्तिशाली होने की उम्मीद कर सकता है कि वह अपनी रक्षा कर सके। इस प्रकार की आंतरिक शक्ति के बिना हिन्दुओं के लिए स्वराज केवल दासता की ओर एक कदम हो सकता है।

अभ्यास

1. महात्मा ज्योतिबा फुले के वैचारिक संघर्ष का परिचय दीजिए।
2. डॉ. आंबेडकर के मुक्ति संघर्ष के विविध आयामों पर विचार कीजिए।

1.8 सारांश

भारतीय जाति–व्यवस्था के मूल में मूलतः वर्चस्व और शोषण की राजनीति तथा रणनीति है। हिंदू–व्यवस्था में वर्ण–विभाजन का सिद्धांत इसको आधार प्रदान करता है। वर्ण–व्यवस्था को ईश्वरीय व्यवस्था बताकर इसे आज भी महिमामंडित करने का प्रयास किया जाता है। इस साजिशपूर्ण वर्चस्व के प्रतिरोध में तथागत गौतम बुद्ध से लेकर आज तक अनेकशः संघर्ष, आंदोलन तथा प्रतिकार की वैचारिक धाराएँ गतिमान रही हैं। वर्ण और जाति का सशक्त प्रतिरोध बौद्धकालीन समय में व्यापक स्तर पर दिखाई देता है जहाँ से चिंतन की एक सुव्यवस्थित धारा निकलती है। बौद्धकालीन चिंतन परंपरा से चेतना की व्यापक पृष्ठभूमि तैयार होती है जो भक्ति आंदोलन में आकार पाते हुए आधुनिक काल में डॉ. आंबेडकर और अन्य परिवर्तनकामी शक्तियों में विस्तार पाती है।

छुआछूत और जाति–पांति की उत्पत्ति के बारे में सामान्यतः यह माना जाता है कि यह वर्ण–व्यवस्था का ही एक विकृत रूप है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था ही छुआछूत और जातिवाद की जननी है। बताया जाता है कि वैदिक समाज चार भागों में विभाजित था– ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । समाज का चार वर्णों में यह विभाजन भारतीय समाज व्यवस्था की विशेष प्रथा। प्रारंभिक वर्ण केवल विशेषीकरण एवं श्रम विभाजन के द्योतक थे। ब्राह्मण का काम था शिक्षा अथवा वेद अध्ययन करना; क्षत्रिय का काम देश की रक्षा करना; वैश्य का काम कृषि एवं व्यापार और शूद्र का काम इन तीनों वर्गों की सेवा करना था। वर्ण–व्यवस्था का उद्देश्य कुछ भी रहा हो, लेकिन कालान्तर में वह अपने विकृत रूप में पहुँच ही गया। फलतः एक मूर्ख ब्राह्मण को ईश्वर के समान ही स्वीकार किया गया जबकि शूद्र कितना ही विद्वान क्यों न हो, उसे घृणा का पात्र ही बनाए रखा। यद्यपि उच्च तीनों वर्ण अपने–अपने निर्धारित कर्तव्यों को करने में असफल रहे, परन्तु शूद्रों को दयनीय स्थिति में ही रखा गया। आगे चलकर यही चार वर्ण चार जातियों में परिणत हो गए। साथ ही साथ हजारों उपजातियाँ भी पैदा हो गईं। इन जातियों में ऊँच–नीच, छुआछूत आदि निकृष्ट भावनाएँ जागृत हो गईं। उनके बीच अनेक तरह के प्रतिबंध विकसित हो गए। पेशा, शादी–विवाह, खान–पान आदि से संबंधित विभिन्न परस्पर कटुताएँ एवं दूरियाँ पैदा हो गईं। परिणामस्वरूप आज भारतीय समाज में तीन हजार से अधिक उपजातियाँ हैं जिनमें पारस्परिक संबंध असमानता के भाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं।

इन परिवर्तनों के बीच सबसे अधिक मुसीबतों का सामना शूद्रों अथवा अछूतों को ही करना पड़ा। उन्हें समाज के निम्नतम स्थान पर रखकर ढेर सारी अयोग्यताओं से दबा दिया गया। उनके समस्त जीवन पर प्रतिबंधों का ऐसा जाल बिछा दिया गया कि वे सदियों तक पतनावस्था और अंधकारमय जीवन में ही फंसे रहे। दूसरी ओर ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को तमाम सुविधाओं का लाभ उठाने की स्वतंत्रता थी। वे सभी भौतिक संपदा तथा हर किस्म के ऐश–आराम का सुख भोगते थे। सदियों तक शूद्र के श्रम का उन्होंने शोषण किया। शूद्र–अतिशूद्र वेद या धार्मिक ग्रंथ का अध्ययन कतई नहीं कर सकता था। शूद्रों को धर्म, अस्त्र–शस्त्र, सम्पत्ति शिक्षा आदि की सीमाओं से बाहर रखा गया। इन्हें अधिकारों से बिल्कुल वंचित रखा गया। उनका स्वधर्म बस दिन–रात अपने स्वामी की सेवा करना था। इस प्रकार की समाज–व्यवस्था में उनका दम घुटता रहा।

इस समाज–व्यवस्था को सर्वप्रथम चुनौती दी तथागत गौतम बुद्ध ने। उन्होंने अपने धर्म में शूद्रों–अतिशूद्रों को शामिल किया। तथागत बुद्ध तथा उनके शिष्यों ने जाति–व्यवस्था और

वर्ण–व्यवस्था की नींव को हिला दिया। उन्होंने समानता एवं स्वतंत्रता का संदेश प्रसारित किया। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने समतावादी समाज की प्रतिस्थापना करने का पूर्ण प्रयास किया। बौद्ध धर्म के विनाश के बाद इस प्रयास को आगे बढ़ाया भक्तिकालीन संतों ने। संतों में अग्रणी भूमिका कबीर की रही जिन्होंने अपनी बानी द्वारा समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, जाति–पांति, कर्मकांड, पाखंड, पुरोहितवाद, अंधविश्वास आदि का तीव्र विरोध किया। भक्तिकालीन संतों ने शूद्रों एवं अछूतों के साथ अच्छे व्यवहार की माँग की। उन्होंने सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन का सूत्रपात्र किया जो आधुनिक भारत में निरंतर बना रहा। हालांकि समाज के जातिगत ढाँचे और छुआछूत के व्यवहार में कोई विशेष अंतर नहीं आया। भारत में इस्लाम एवं ईसाई धर्म के पदार्पण से सामाजिक एवं धार्मिक वातारण में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। जातिवाद की कठोरता में कुछ ढिलाई आई। उन्होंने समानता के सिद्धांत का समर्थन किया। फलतः बहुत से शूद्र और अछूत मुस्लिम तथा ईसाई हो गए, परंतु इन नए धर्मों को स्वीकार कर लेने के बाद भी इन्हें न तो वहाँ समानता का भाव मिला और न ही वह अपनी पूर्व, पहचान से मुक्त हो सका। दोनों धर्म अपने को भारतीय समाज में समायोजित करने के प्रयास में हिंदू धर्म के व्यापक लक्षणों को दलित साहित्य चिंतन के वैचारिक आधार के रूप में आत्मसात करने लगे थे। फलतः जातिवाद एवं छुआछूत समाप्त नहीं हो पाए और शूद्र अपनी दयनीय स्थितियों में ही पड़े रहे।

ब्रिटिश शासकों ने भी अछूतों की मुसीबतों तथा अयोग्यताओं को मिटाने का प्रयास किया, लेकिन वे बड़े ही चतुर प्रशासक थे। वे चाहते थे कि जाति एवं छुआछूत के बंधन तो टूटें, पर सवर्ण हिंदुओं को नाराज करके नहीं। फलतः अछूतों की कठिनाइयाँ अधिकांशतः ज्यों की त्यों बनी रहीं। उनकी यातनाएँ कम नहीं हुई। ब्रिटिश काल में भी अछूतों को देखना, छूना, उनका साया, सभी सवर्ण हिंदुओं को अपवित्र बना देते थे। अछूत आम सड़कों पर चल नहीं सकता था। उन्हें थूकने के लिए अपने गले में हांडी लटकानी पड़ती थी। ब्राह्मण के आने पर छिपना पड़ता था। अपने पैरों के चिह्नों को मिटाने के लिए कमर में झाडूं बाँधकर चलना पड़ता था। अछूत बच्चों को आम स्कूलों में प्रवेश नहीं मिलता था। समूचे भारत में सामाजिक वातावरण अछूतों के लिए भयावह था। उनकी आर्थिक स्थिति सोचनीय थी। मंदिरों में उनका प्रवेश असंभव था। सार्वजनिक स्थानों, स्कूलों तथा संस्थाओं में जाना उनके लिए निषिद्ध था। समाज सुधारकों का धर्मांधों द्वारा प्रतिरोध किया जाता था। उनके प्रयासों को विफल बनाया जाता था। यहाँ तक कि सरकार की उन हिदायतों का उल्लंघन भी किया जाता था जिनमें अछूतों को सुविधाएँ देने की बात होती थी। सुविधाओं का प्रायः सर्वत्र अभाव था।

आधुनिक काल में एक ओर हिंदू समाज की जाति–व्यवस्था की ज्यादतियों और उसकी सामाजिक संरचना की असंगतियों और उसके इतिहास की खूंखार विजय यात्राओं की पोल खोलने का काम ज्योतिबा फुले ने किया, तो दूसरी ओर उन्होंने दलित समाज को जगाने, उनको शिक्षित तथा संगठित करने तथा उनके जीवन की वास्तविकताओं तथा आकांक्षाओं को साहित्य में व्यक्त करने का भी सफल प्रयास किया। उत्तर भारत में स्वामी अछूतानंद ने अछूतोद्धार आंदोलन का संचालन किया। दक्षिण में पेरियार, नारायण गुरु आदि ने परिवर्तनकामी चिंतन को गति दी। उसके बाद दलित जागरण और जातिवाद के संघर्ष की प्रक्रिया देश के विभिन्न भागों में चलती रही। लेकिन दलित जागरण को क्रांतिकारी और प्रभावशाली बनाया डॉ. आंबेडकर ने। उन्होंने अपने चिंतन और लेखन से दलित समाज को क्रांतिकारी विचार ही नहीं दिए, उसे सजग और संगठित करके एक कठिन, लंबे और जुझारू संघर्ष के लिए तैयार भी किया। उन्होंने दलितों में आत्मविश्वास के साथ–साथ स्वाधीनता की चेतना पैदा

की, जिसके परिणामस्वरुप ऐसा शक्तिशाली आंदोलन खड़ा हुआ, जिसकी उपेक्षा करना किसी के लिए संभव न था। उनके विचारों और आंदोलनों का भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा जो दलित चिंतन के वैचारिक आधार को पुष्ट करता है।

1.9 उपयोगी पुस्तकें

आधुनिकता के आइने में दलित, संपादक – अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

दलित विमर्श की वैचारिकी, बी.आर. विप्लवी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

दलित साहित्य के बुनियादी सरोकार, कृष्णदत्त पालीवाल, दिल्ली

दलित विमर्श : संदर्भ गांधी, गिरिराज किशोर, आंबेडकर, आई.आई.ए.एस., शिमला

1.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. ख
2. क
3. ग
4. घ
5. ख

बोध प्रश्न 2

6. क
7. ग
8. घ

अभ्यास

1. देखें 1.6
2. देखें 1.7

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 2 स्त्री विमर्श : अवधारणा और आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 स्त्री विमर्श की अवधारणा

- 2.2.1 स्त्री विमर्श का अर्थ और स्वरूप
- 2.2.2 स्त्री विमर्श की परिभाषा एवं स्त्री संबंधी विचार
- 2.2.3 स्त्री विमर्श के उद्देश्य

2.3 पाश्चात्य संदर्भ

- 2.3.1 पहला चरण
- 2.3.2 दूसरा चरण
- 2.3.3 तीसरा चरण
- 2.3.4 चौथा चरण

2.4 भारतीय संदर्भ

- 2.4.1 प्राचीन काल
- 2.4.2 मध्य काल
- 2.4.3 आधुनिक काल का प्रारंभिक दौर
- 2.4.4 नवजागरण युग और स्त्रियों के लिए सुधार काल
- 2.4.5 आधुनिक काल

2.5 स्त्री मुक्ति आंदोलन

- 2.5.1 पाश्चात्य संदर्भ में मुक्ति आंदोलन
- 2.5.2 भारतीय संदर्भ में मुक्ति आंदोलन

2.6 स्त्री विमर्श : समकालीन हिंदी साहित्य

2.7 सारांश

2.8 उपयोगी पुस्तकें

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

यह इकाई 'स्त्री विमर्श : अवधारणा और मुक्ति आंदोलन (पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ)' पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- स्त्री विमर्श की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे;
- स्त्री विमर्श का अर्थ, स्वरूप, परिभाषा और उद्देश्य से अवगत हो सकेंगे;

- स्त्री विमर्श और मुक्ति आंदोलन के पाश्चात्य संदर्भ को चार चरणों के आधार पर जान सकेंगे;
- स्त्री विमर्श और मुक्ति आंदोलन के भारतीय संदर्भ को ऐतिहासिक रूप से प्राचीन काल, मध्यकाल, आधुनिक काल और नवजागरण काल के आधार पर जान सकेंगे; और
- समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श और महिला रचनाकारों के साहित्य को जान सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

यह इकाई 'स्त्री विमर्श : अवधारणा और मुक्ति आंदोलन' पर केन्द्रित है। स्त्री विमर्श एक तरह का साहित्यिक आंदोलन है, जिसके केन्द्र में समानता का अधिकार, स्त्री अस्मिता, अस्तित्व, स्वतंत्रता और मुक्ति का सवाल है। इन सभी को संगठित रूप में रखकर स्त्री विमर्श की शुरुआत हुई है। हिन्दी साहित्य में अस्मितामूलक विमर्शों के अंतर्गत स्त्री विमर्श मुख्य धारा का विमर्श रहा है। इसमें लिंग (जेंडर) को मुख्य आधार बनाया गया है। अंग्रेजी में इसे फेमिनिज्म कहा जाता है। स्त्री विमर्श एक वैश्विक विचारधारा है जिसमें पूरे विश्व की स्त्रियों का संघर्ष अपने पितृसत्तामक समाज के विरोध में देखने को मिलता है। पश्चिमी और भारतीय स्त्री आंदोलन और स्त्री विमर्श का इतिहास बहुत पुराना और लम्बा रहा है।

स्त्री विमर्श एक ऐसा विमर्श है जो जाति, धर्म, वर्ग, वंश, प्रांत और देश आदि से अलग हटकर है। जहाँ स्त्री अपने ऊपर हो रहे अन्याय, अत्याचार, शोषण–उत्पीड़न और उपेक्षा आदि का विरोध करती है। स्त्री विमर्श को पश्चिम से आई एक अवधारणा के रूप में देखा और विचार किया जाता है। विशेष रूप से यह विकासशील देशों की सभ्यता के परिणामस्वरूप स्त्रियों में आई जागृति से उत्पन्न हुआ है।

लिंग के आधार पर पितृसत्तात्मक समाज में जहाँ सारे नियम, कानून, वर्चस्व पुरुषों के हैं, वहाँ स्त्री का अपना कुछ भी नहीं है। स्त्री एक ऐसी प्राणी बन चुकी है जो इस पुरुषवादी समाज की कठपुतली और विवशता के साथ निरीह प्राणी के समान जीवन व्यतीत कर रही है। स्त्री के स्वभाव, उसके मन और उसकी संवेदनाओं को समझने के लिए स्त्री विमर्श एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि है। स्त्री विमर्श कोई संस्कार नहीं है और न ही कोई विचारधारा है, बल्कि इस बदलते हुए समाज में स्त्री के पारंपरिक मानदंडों को तोड़ने की एक पहल है जिससे स्त्री को समानता का अधिकार, सम्मान, अस्तित्व और स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। इसके लिए पुरुषों की मानसिकता में बदलाव लाने की आवश्यकता है।

स्त्री विमर्श केवल विमर्श या बहस का मुद्दा नहीं है जितना यह चेतना और जागृति का मुद्दा है। इसमें परंपरा और आधुनिकता दोनों है। स्त्री की विभिन्न समस्याएँ हैं, उनके अपने सवाल हैं और उनके अपने अधिकार हैं यह सब स्त्री विमर्श के अंतर्गत शामिल हैं। पाश्चिमी और भारतीय स्त्री आंदोलन और संघर्ष का इतिहास काफी पुराना है। इसे जानना अत्यंत आवश्यक है तभी हम स्त्री विमर्श की गहराइयों से अवगत हो सकते हैं। स्त्री विमर्श मूलतः क्या है? क्यों है? और इसके पीछे के कारण क्या हैं? इसे जब तक आप समझेंगे नहीं तब तक स्त्री विमर्श को समझना मुश्किल है। आपको एक बात और बता दें, स्त्री विमर्श और

स्त्रीवाद दोनों अलग–अलग हैं किन्तु दोनों के केन्द्र में स्त्री और पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही है। स्त्रीवाद किसी न किसी विचारधारा या सिद्धांत के आधार से स्त्री के बारे में विचार करता है और अपनी प्रतिक्रिया भी प्रस्तुत करता है, जबकि स्त्री विमर्श केवल एक विमर्श और बहस है जो स्त्री से जुड़े किसी भी मुद्दे पर किया जा सकता है। हम चाहें तो प्रत्येक स्त्रीवादी विचारधारा पर भी स्त्री विमर्श की दृष्टि से स्त्री विमर्श और पुरुष विमर्श के आधार पर विमर्श कर सकते हैं।

इस इकाई में स्त्री विमर्श के स्वरूप, अर्थ, परिभाषा और उसके उद्देश्यों को बताया जा रहा है। पाश्चात्य स्त्री मुक्ति आंदोलन को संक्षिप्त में बताया जा रहा है, जिससे आपको स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि स्त्रियों ने अपने संघर्ष, आंदोलन एवं वैचारिक साहित्य के माध्यम से अपनी लड़ाई लड़ी है। भारतीय स्त्री विमर्श का इतिहास बहुत विस्तृत है और इसे समझाने के लिए ऐतिहासिक रूप से भारतीय स्त्री के इतिहास और उसके आंदोलनों को बताया जा रहा है।

स्त्री विमर्श अत्यंत विस्तृत विषय है इसमें अनेकों मुद्दे होते हैं जिन पर यहाँ पर चर्चा करना संभव नहीं है इसलिए इस इकाई में हम केवल पाठ्यक्रम के अनुसार स्त्री-विमर्श और मुक्ति आंदोलन पर ही चर्चा करेंगे।

2.2 स्त्री विमर्श की अवधारणा

आज स्त्री विमर्श पूरे विश्व में एक विमर्श और चर्चा के रूप में व्याप्त हो चुका है, जिसमें स्त्री के सभी पक्षों को पुरुष के सापेक्ष रखकर देखा जाने लगा है। स्त्री विमर्श एक ऐसा संवाद और बहस है जिसमें स्त्री अपने अधिकारों की माँग करती है। इन अधिकारों के अंतर्गत लिंग के आधार पर समानता, निर्णय, अस्तित्व, अस्मिता, स्वतंत्रता और मुक्ति का सवाल भी उभर कर सामने आता है। कहा जाता है कि किसी भी सभ्य समाज और संस्कृति का सही अनुमान उस समाज में रहने वाली स्त्रियों की स्थिति से लगाया जा सकता है। विशेष रूप से जहाँ पुरुष सत्ता और उसका अहंकार विद्यमान हो वहाँ की स्त्रियों की स्थिति एक समान नहीं रहती है।

समाज में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक समानता का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों द्वारा आंदोलन किए गए और इसे ही नारीवाद या स्त्रीवाद कहा गया। इसके लिए अंग्रेजी में Feminism शब्द का प्रयोग किया जाता है। सर्वप्रथम यह आंदोलन ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका से प्रारंभ हुआ। 18वीं सदी में यह आंदोलन मानवतावाद और औद्योगिक क्रांति के समय से हुई थी। स्त्रियों को पुरुष से बौद्धिक और शारीरिक स्तर पर कमतर समझा जाता रहा है। समाज में धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से धर्मशास्त्रों और कानून में स्त्रियों की पराधीनता और दासता का उल्लेख मिलता है। स्त्रियाँ अपने नाम से संपत्ति नहीं रख सकती थीं और स्त्रियों को संपत्ति का भी अधिकार नहीं था। स्त्रियाँ किसी भी चीज पर अपना अधिकार नहीं जमा सकती थीं। यहाँ तक कि उसे अपने ऊपर और अपने बच्चों पर भी अधिकार जताने का हक नहीं था। उसे अपने निर्णय लेने का भी अधिकार नहीं था। इन सब अधिकारों को प्राप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों के साथ स्त्रियों ने आवाज उठाई और मुक्ति के लिए आंदोलन भी किए।

प्रत्येक देश और प्रत्येक युग में स्त्रियों की स्थिति एक बराबर नहीं थी न ही स्त्रियों की स्थिति प्रत्येक वर्ग में एक समान थी। प्रत्येक देश, राज्य, संस्कृति और वहाँ की सामाजिक व्यवस्था

के अनुसार स्त्रियों पर पुरुष सत्ता हावी रही। जब स्त्रियों ने अपनी समस्याओं पर विचार किया और लिंग के आधार पर सोचना प्रारंभ किया तब उन्हें अपनी दासता और हो रहे अन्याय का ज्ञान हुआ तब जा कर उन्होंने आवाज उठाई और आंदोलन किए, इसीलिए कहा जाता है कि स्त्री विमर्श स्त्रियों के ऊपर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक रूप से मानसिक और शारीरिक दबाव डालने वाली पारंपरिक रूढ़ियों और मान्यताओं के विरोध में उभरा एक वैचारिक आंदोलन है।

जब से स्त्रियों ने अपने सामाजिक और पारिवारिक भूमिकाओं पर सोचना और विचारना आरंभ किया, तब से स्त्री आंदोलन, स्त्री विमर्श और स्त्री अस्मिता से जुड़े संदर्भों पर बहसों की शुरुआत हुई। स्त्री विमर्श को गहराई से समझने के लिए हमें उसके अर्थ और स्वरूप के साथ उसकी परिभाषा को जानना भी आवश्यक है। साथ ही साथ उसके उद्देश्यों को भी जानना आवश्यक है। आइये आगे देखते हैं :

2.2.1 स्त्री विमर्श का अर्थ और स्वरूप

स्त्री विमर्श दो शब्दों से मिलकर बना है– 'स्त्री' और 'विमर्श'। स्त्री का अर्थ महिला, नारी, औरत, लड़की मतलब लिंग के आधार पर स्त्री होना। विमर्श का अर्थ होता है बहस, संवाद, वार्तालाप या विचारों का आदान–प्रदान। अतः स्त्रियों को लेकर होने वाले बहस को हम स्त्री विमर्श कहते हैं। इन विमर्शों के माध्यम से स्त्री विमर्श का अर्थ स्त्री की परंपरागत छवि या पहचान से एक नई स्त्री छवि या पहचान का निर्माण करना है। स्त्री विमर्श एक प्रकार से रूढ़ परंपराओं, मान्यताओं के प्रति असंतोष और उससे मुक्ति का स्वर है। पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे नैतिक मापदंडों, मूल्यों व अंतर्विरोधों को समझने व पहचानने की गहरी अंतर्दृष्टि है।

कई वर्षों से चली आ रही पुरुषों की दासता के विरोध में स्त्री के अधिकारों को लेकर उठायी गयी आवाज को स्त्री विमर्श कहते हैं। परंपराओं से इस समाज व्यवस्था ने पुरुषों को जो छूट प्रदान की है उनमें से कुछ स्त्रियों ने अपने लिए भी वही छूट माँगनी प्रारंभ कर दी, जिसमें प्रमुख रूप से लैंगिक समानता, भेदभाव न होना और घरेलू हिंसा का विरोध, यौन उत्पीड़न का विरोध और समान वेतन का अधिकार जैसे अनेक मुद्दे शामिल हैं।

आज समाज में स्त्रियाँ केवल जनसंख्या का हिस्सा बनकर गिनती में नहीं रहना चाहती बल्कि वे भी पुरुषों की तरह समाज और परिवार में मनुष्य बनकर केन्द्र में आना चाहती हैं और इसके लिए वे अपने अस्तित्व की लड़ाई आरंभ कर चुकी हैं। इस संघर्ष और लड़ाई को स्त्री विमर्श का नाम दे दिया गया है। इस संघर्ष में स्त्री से जुड़े वे सभी मुद्दे शामिल हैं जो वर्षों से इन्हें समाज में लिंग के आधार पर झेलने पड़े हैं। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों ने पुरुषों की तरह अपने अधिकारों की माँग करनी प्रारंभ कर दी है और यह माँग एक प्रकार के सामाजिक आंदोलन के रूप में उभरी है। यह आंदोलन लैंगिक भेदभाव को स्वीकार नहीं करता है। स्त्री विमर्श में मध्यवर्गीय स्त्री का पूरा संघर्ष प्रमुख रूप से लैंगिक समानता, शारीरिक शोषण, सामाजिक स्वतंत्रता से लेकर आर्थिक स्वतंत्रता तक सिमटा हुआ है। इस धारा की उत्पत्ति मुख्यतः पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। परन्तु स्त्री विमर्श अपने सवालों के कटघरे में पुरुष को नहीं रखती बल्कि समस्त पुरुष व्यवस्था को खड़ा करती है। अतः कहा जा सकता है कि स्त्री विमर्श का स्वरूप पितृसत्ता के इर्द–गिर्द ही खड़ा रहता है।

2.2.2 स्त्री विमर्श की परिभाषा

स्त्री विमर्श, स्त्री मुक्ति, स्त्रीवादी आंदोलन आदि पर विचार विमर्श किया जाए तो इनके मूल में स्त्री के अस्तित्व, मौलिक अधिकार और उसकी मुक्ति के प्रश्न हैं। स्त्री विमर्श हम साहित्य में या मंचों पर करते हैं इसलिए इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा देना मुश्किल कार्य है। यह पूरी तरह से सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आदि संस्थाओं की सोच के परिणाम स्वरूप उनके विचारों की अभिव्यक्ति है।

स्त्री विमर्श में 'विमर्श' शब्द अत्यंत व्यापक है। अतः 'विमर्श' शब्द का व्युक्तिपरक अर्थ विचार–विमर्श, सोचना, समझना, आलोचना करना है।

शब्दकोष के अनुसार–''Feminism is a range of social movements, political movements, and ideologies that aim to define and establish the political, economic, personal and social equality of the sexes.'' अर्थात् स्त्रीवाद सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों और विचारधाराओं की एक शृंखला है जिसका उद्देश्य लिंगों की राजनीतिक, आर्थिक, व्यक्तिगत और सामाजिक समानता को परिभाषित और स्थापित करना है।

रचनाकारों के अनुसार स्त्री विमर्श की परिभाषा :

सामान्यतः लेखिकाएँ स्वयं को स्त्रीवादी कहलाने से बचना चाहती हैं। इसी संदर्भ में नासिरा शर्मा कहती हैं– न तो मैं स्त्रीवादी हूँ और न स्त्रियों के लिए लिखती हूँ।'' क्योंकि वह मानती हैं कि ''स्त्री की समस्या सिर्फ स्त्री की ही नहीं पूरी समाज व्यवस्था की समस्या है। इसलिए मैं मानव मात्र के लिए लिखती हूँ।''

वहीं स्त्री विमर्श के संबंध में मैत्रेयी पुष्पा का कहना है कि – ''नारीवाद ही स्त्री विमर्श है। नारी की यथार्थ स्थिति के बारे में चर्चा करना ही स्त्री विमर्श है।'' (एक साक्षात्कार से)

आगे मैत्रेयी पुष्पा का कहना है – ''मनुष्य की मूलरूप से प्रवृत्ति होनी चाहिए कि स्त्री की नैसर्गिक प्रवृत्तियों और पुरुष की स्वाभाविक वृत्तियों को एक समान रूप से देखना, दोनों की जरूरतों को समान महत्त्व देना तथा दोनों की समान रूप से भागीदारी होना स्त्री विमर्श का लक्ष्य है।''

प्रभा खेतान के अनुसार – ''नारीवाद न मार्क्सवाद है और न पूँजीवाद। स्त्री हर जगह है। हर वाद में है, फैलाव में हैं, मगर संस्कृति के विस्तृत फलक पर आज भी वह वस्तुकरण की इस पारंपरिक प्रक्रिया को पुरुष दृष्टि से नहीं बल्कि स्त्री दृष्टि से देखने और समझने की जरूरत है।'' (हंस, अक्टूबर 1996, पृष्ठ 76)

कात्यायनी के अनुसार– स्त्री विमर्श अथवा स्त्रीवाद पुरुष और स्त्री के बीच नकारात्मक भेद–भाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। वस्तुतः इस रूप में देखा जाए तो स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है।'' (हंस, मार्च 2000, पृष्ठ 95)

प्रो. गिरीश रस्तोगी के अनुसार– ''स्त्री विमर्श बहस का उतना विषय नहीं है जितना जागृति का। इसमें स्त्री अपने विकास के अवसरों की तलाश करते नजर आती हैं स्त्री विमर्श का मूल उद्देश्य महान रचना करने या श्रेष्ठ स्त्री चरित्रों को गढ़ने की कसौटी पर नहीं कसा जा

सकता। इसका मूल उद्देश्य स्त्री विमर्श के संदर्भ में अधिकाधिक अवसर तलाश करने की साहित्यिक प्रक्रिया से है। यह मुक्ति उसकी वैयक्तिक भी है और सामाजिक, शारीरिक और यौनिक भी है।''

अतः स्पष्ट है कि स्त्री विमर्श साहित्य में चलने वाला एक विमर्श है परन्तु इसके पीछे सदियों से पीड़ित स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न की कहानी छिपी है। उनके कई आंदोलनों का परिणाम है कि आज कुछ स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में आगे आ रही हैं। अपनी बात रखने में सक्षम हो रही हैं, परन्तु अभी भी समाज में स्त्रियों के भीतर चेतना और जागृति की कमी देखी जा सकती है।

2.2.3 स्त्री विमर्श के उद्देश्य

वैश्विक स्तर पर स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए अनेक सामाजिक परिवर्तन और आंदोलन हुए हैं। सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप स्त्रियों में जागृति आई, वे शिक्षित हुईं और धीरे–धीरे स्त्रियों में साहस भी आया है। अब स्त्रियाँ घर से बाहर निकलकर पढ़ने–लिखने, नौकरी या अन्य कार्य करने लगीं और अपने खिलाफ हो रहे अन्याय और शोषण के खिलाफ आवाज उठानी भी उन्होंने सीख ली। इसके बावजूद कहीं–कहीं स्त्रियाँ आज भी पितृसत्ता के चंगुल से बाहर नहीं निकल सकी हैं। वे इसी सत्ता में दबकर जीवन जी रही हैं और अपने अनुभवों को लेखन कार्य में कथा, कहानी, कविता में पिरो रही हैं। कुछ स्त्रियाँ मंचों पर भाषण देकर महिलाओं के भीतर चेतना और जागृति लाने का कार्य भी करती रही हैं। परिणामस्वरूप यही स्त्री विमर्श के रूप में आज वैश्विक स्तर पर साहित्यक मंचों, सोशल मीडिया, इलेक्ट्रानिक मीडिया, सिनेमा और समाज सेवी संस्थाओं के माध्यम से अधिक विकसित हुआ है।

यदि विचार किया जाए तो स्त्री विमर्श का मुख्य मुद्दा लिंग भेद के कारण असमानता और अधिकारों से वंचित होने का कारण रहा है। लिंग भेद के चलते पुरुष स्वयं को वर्चस्ववादी और अधिक शक्ति सम्पन्न मानता है। बाल्यावस्था से ही लड़की के भीतर लड़कियों वाले गुण थोप दिये जाते हैं इसीलिए लड़कियाँ वैसी (लड़कियों जैसी) बनती चली जाती हैं। सीमोन द बोउवार ने ठीक ही कहा है–'स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि स्त्री बनाई जाती है।' इसी आधार पर स्त्री को स्त्री और पुरुष को पुरुष जैसे सामाजिक और व्यवहारिक शिक्षा दी जाती है।

स्त्री विमर्श में 'स्त्री' को लेकर बहस क्यों होता आया है? और इसका क्या उद्देश्य है? इस पर विचार करें तो हम पाते हैं कि स्त्री को घर, परिवार और समाज में अपने अस्तित्व की पहचान करवानी है। उनके भीतर चेतना, साहस और आत्मविश्वास पैदा करना अत्यंत आवश्यक है। आज का दौर परिवर्तन का दौर है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति एवं प्रतिभा को पहचानने और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने की आवश्यकता है। सभी स्त्रियों में यह चेतना लानी है और लिंग भेद को जड़ से मिटाना है। क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों की अपनी अलग पहचान और उनका अलग अस्तित्व होता है। दोनों में कार्य करने की समान योग्यता भी होती है। फिर भी स्त्रियों को कमजोर समझकर दबाया जाता है और उसे आज भी मनुष्य नहीं बल्कि एक वस्तु के रूप में समझा जाता है। इन्हीं मुद्दों को केन्द्र में रखकर चर्चा करें तो स्त्री विमर्श के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं :

- स्त्री को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करना,
- शोषण और उत्पीड़न के विरोध में संघर्ष करना,

- स्त्री संबंधी विभिन्न समस्याओं पर विचार विमर्श करना,
- स्त्री को अपने अस्तित्व और अस्मिता की पहचान करवाना,
- मानसिक रूप से सुदृढ़ बनाना,
- मानसिक और शारीरिक शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाना,
- साहित्य, मीडिया और सिनेमा में स्त्री संबंधी मुद्दों से जागृति लाना,
- स्त्री को अपने भीतर सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक रूप से मानसिक परिवर्तन लाना।

स्त्री विमर्श के पीछे के क्या कारण रहे हैं? इसके लिए हमें स्त्री के ऐतिहासिक स्वरूप को समझना आवश्यक है जिसके बाद ही यह जाना जा सकता है कि स्त्रियों की स्थिति में किस प्रकार का परिवर्तन आया है और आ रहा है? और आज स्त्री ऐसी क्यों है? इस के लिए पाश्चात्य और भारतीय संदर्भों को एक–एक कर जानने की आवश्यकता है, तभी हम पूरे विश्व और भारत की स्त्रियों के संघर्ष और आंदोलन को समझ सकते हैं। आइये पहले पाश्चात्य संदर्भों को संक्षिप्त में जानते हैं।

2.3 पाश्चात्य संदर्भ

पाश्चात्य संदर्भ में पितृसत्ता का इतिहास लगभग चार हजार साल पुराना है। ऐतिहासिक रूप से सामाजिक ढाँचे में पितृसत्ता जहाँ होती है वहाँ पुरुष मुखिया होता है। घर और बाहर के सभी कार्यों के निर्णय करने में पुरुष मुखिया का वर्चस्व रहता है, जिसके परिणामस्वरूप आज समाज में पुरुषों का वर्चस्व और प्रभुत्व स्थापित हो चुका है। पितृसत्ता यानी वह पुरुष समाज जिसके पास विशेषाधिकार है, जिसके कारण वह स्त्रियों पर किसी भी प्रकार का दबाव डालकर उसका शोषण कर सकता है, क्योंकि पूरा सामाजिक तंत्र लिंग पर आधारित है। प्रारंभिक युग में लैंगिक श्रम का विभाजन हुआ था जो सामाजिक रूप से आज शोषण का कारण बन चुका है। कहा जाता है कि पाश्चात्य देशों से स्त्री विमर्श और स्त्रीवाद का प्रारंभ हुआ, परन्तु ऐसा नहीं है प्रत्येक विकासशील देशों में अपने–अपने तरीकों से वहाँ की बहादुर स्त्रियों ने संघर्ष किए और अपनी आवाज बुलंद की। इसके लिए उन्हें अनेक तरह की समस्याओं का भी सामना करना पड़ा। इसे समझने के लिए हम पाश्चात्य देशों में हुए स्त्रीवाद, स्त्री विमर्श और स्त्री मुक्ति आंदोलन को चार चरणों में देख सकते हैं।

2.3.1 पहला चरण

स्त्रीवादी आंदोलन अमेरिका से यूरोप और यूरोप से पूरे विश्व के अलग–अलग भागों तक पहुँचने लगा। वहाँ की महिलाओं ने अपने मौलिक अधिकार और लिंग के आधार पर समानता और मताधिकार की माँग को लेकर आवाज उठाई। इसके बाद पूरे विश्व में महिलाओं ने अपने ऊपर हो रहे भेदभाव और शोषण के विरुद्ध आवाज बुलंद की। इन आंदोलनों में मताधिकार के साथ–साथ महिलाओं ने उच्च शिक्षा का अधिकार, रोजगार का अधिकार, विवाहित महिला की सम्पत्ति का अधिकार, प्रजनन नियंत्रण और समान वैवाहिक कानून की माँग की। महिला के सम्पत्ति के अधिकार को लेकर पहले कोई कानून व्यवस्था नहीं थीं।

ब्रिटेन में विवाह के बाद महिला की संपत्ति पर पुरुष का अधिकार हो जाता था और फिर स्त्री कुछ नहीं कर सकती थी इसीलिए ब्रिटेन में महिला अधिकार को लेकर बहस तेज हुई और संपत्ति की माँग को लेकर आवाज उठने लगी। सन् 1872 में एक कानून बना, जिसके अनुसार पत्नी अपनी संपत्ति अलग रख सकती थी और पति उस संपत्ति का उपयोग बिना पत्नी की इच्छा के नहीं कर सकता था।

अमेरिका के संविधान में 19वें संशोधन के तहत स्त्रियों के लिए सबसे बड़ी सफलता मताधिकार प्राप्त होना था। इस संशोधन के अनुसार अमेरिकी संविधान ने सन् 1920 में महिलाओं हेतु 'राइट टू वोट कुड नॉट बी डिनाइड ऑन द बेसिस ऑफ सेक्स' कहा था। अर्थात् 'लिंग के आधार पर वोट के अधिकार को नकारा नहीं जा सकता था।'

स्त्रीवाद के पहले चरण में वैश्विक स्तर पर महिलाओं ने अपने ऊपर हो रहे अमानवीय भेदभाव शोषण आदि के खिलाफ न केवल आवाज उठाई बल्कि यह भी स्पष्ट किया कि पितृसत्ता मानव निर्मित है। सच्चाई यह है कि शोषण सहना स्त्री की नियति नहीं है और यह पितृसत्ता एक सांस्कृतिक और सामाजिक अवधारणा है। पूरे विश्व में स्त्रियों द्वारा हो रहे आंदोलन इस बात का परिचायक है कि औरतें एक साथ मिलकर एक शक्ति बन सकती हैं जो अपने खिलाफ हो रहे शोषण को पूरी तरह से समाप्त करने के लिए सांस्कृतिक और सामाजिक पितृसत्ता को मिटाकर एक नये समतावादी समाज की रचना कर सकती है।

आधुनिक समय में पितृसत्ता के खिलाफ स्त्रियों ने महत्त्वपूर्ण आवाज उठाई, जिनमें प्रमुख रूप से एलिजाबेथ केडी स्टैंटन, लूसी स्टोन, सूजन बी. ऐँथनी, ओलम्पिया ब्राउन, फ्रांसिस विलार्ड और वर्जिनिया वुल्फ इत्यादि महत्त्वपूर्ण नाम हैं।

2.3.2 दूसरा चरण

स्त्रीवादी आंदोलन का दूसरा चरण 1955 के दशक के मध्य में हुए अफ्रीकी—अमेरिकी नागरिक अधिकार आंदोलन (सिविल राइट मूवमेंट) से प्रभावित था। दूसरे चरण में महिलाओं के प्रजनन अधिकार, घरेलू हिंसा, स्वतंत्रता, कार्यस्थल पर सुरक्षा जैसे मुद्दे मुख्य रूप से उठाए गए थे। दरअसल यह आंदोलन दशकों से चल रहे नस्लीय उत्पीड़न और गुलामी प्रथा के खिलाफ उपजा था। हम जानते हैं कि इसी आंदोलन के बाद हुए गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप अमेरिका में गुलामी प्रथा को खत्म कर दिया गया और वहाँ के संविधान के चौदहवें और पंद्रहवें संशोधन के तहत ब्लैक लोगों को बेसिक सिविल राइट दिए गए।

सन् 1939—1945 तक चलने वाले द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् लोग अपनी जिंदगी में वापस लौट रहे थे। युद्ध के दौरान जिन घरों के पुरुषों को अपनी नौकरी छोड़कर सेना में भर्ती होना पड़ा, वे भी अब अपने घर और काम में वापस लौट रहे थे। युद्ध के समय जो महिलाएँ नौकरी या काम करती थीं, उन्हें काम से निकाल दिया गया था और घर की चारदीवारी में कैद करने का उपक्रम जारी हो चुका था। उन महिलाओं को काम से हटाकर उनकी जगहों पर पुरुषों को काम दिया जाने लगा। अमेरिका में सन् 1960 से सामाजिक स्थितियों के बदलाव को देखते हुए महिलाओं से यह अपेक्षा की जा रही थी कि वे वापस घर का काम और बच्चों की जिम्मेदारी को निभाने की ओर लौट जाएँ किन्तु विश्व युद्ध के दौरान महिलाओं ने घर से बाहर आकर कार्य करना प्रारंभ कर दिया था इसलिए अब वे घरेलू महिलाओं की तरह घर में वापस नहीं लौटना चाहती थीं और जो महिलाएँ अकेली या थोड़ी स्वतंत्र थीं उन्हें नर्स, शिक्षिका और सेक्रटरी की नौकरी तक एक दायरे में सीमित कर दिया

गया। अमेरिका की 38 प्रतिशत महिलाएँ केवल इन्हीं पदों पर ही कार्य करती थीं और इन महिलाओं को सप्ताह के सातों दिन काम करने को कहा जाता था। यही द्वंद्व की स्थिति सन् 1960 से 1980 के बीच लगातार चलती रही और यही नारीवादी आंदोलन के दूसरे चरण का कारण बनी, जिसे अंग्रेजी में 'सेकेण्ड वेव ऑफ फेमिनिज्म' कहा गया।

सन् 1961 में अमेरिका के राष्ट्रपति जॉन. एफ. केनेडी द्वारा 'प्रेसिडेंट कमीशन ऑन स्टेटस ऑफ विमेन' बनाया गया और सन् 1963 में इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट जारी करते हुए एकल परिवार और मदरहुड का समर्थन किया। इस रिपोर्ट के माध्यम से कमीशन ने पाया कि महिलाओं के साथ कार्यस्थल पर भेदभाव हो रहा है। यह भेदभाव वेतन से लेकर व्यवहार तक हर स्तर पर हो रहा था। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सरकार द्वारा सन् 1963 में समान वेतन अधिनियम और सन् 1964 में सिविल राइट एक्ट संशोधित रूप में आया। इन सब के बावजूद महिलाओं की सामाजिक स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाया था। घरेलू हिंसा और बलात्कार की घटनाएँ अब भी घटित हो रही थीं। सन् 1963 में प्रकाशित द फेमिनाइन मिस्टीक में बेट्टी फ्रीडन (Betty Friedan), मिलदर्द जेफ्री (Mildred jeffrey) और न्यूयार्क की बेल्ला अब्ज़ग (Bella Abzug) आदि ने मिलकर 'नेशनल वीमन पोलिटिकल केसेस (National womens political caucus) की स्थापना की। ग्लोरिया स्टेमन (Gloria steinem) की पत्रिका मिस मैंगजीन ने सन् 1976 में नारीवाद को अपनी मैंगजीन के कवर पेज पर जगह दी। यह नारीवाद को विषय के रूप में छापने वाली पहली मैंगजीन बनी। सन् 1970 में रो बनाम वेड मामले में सुनवाई करते हुए अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट ने एक ऐतिहासिक निर्णय देते हुए महिलाओं को गर्भसमापन का अधिकार दे दिया।

2.3.3 तीसरा चरण

स्त्रीवाद का तीसरा चरण पहले दोनों चरणों की अपेक्षा बिखरा और असंगठित था। इस दौर की स्त्रीवादियों ने पहले और दूसरे चरण के संघर्षों और उनके द्वारा पाई गई सफलताओं को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना दिया जाना चाहिए था। उन्हें पुराने विमर्श कहकर खारिज करते हुए यह भी नहीं सोचा गया कि जो स्वायत्तता तीसरे दौर की महिलाओं को मिली है, वह उनकी 'फोर मदर्स' के संघर्षों का परिणाम है।

स्त्रीवादी आंदोलन का तीसरा चरण, सन् 1990 से अमेरिका में प्रारंभ हुआ। इस दौर में पुनः स्त्रीवादी होने के अर्थ को तलाशा जाने लगा और इसका प्रारंभ 1990 में ओलम्पिया के 'रायट गर्ल' (Riot girl) नाम के एक स्त्रीवादी उपसंस्कृति समूह (Feminist Punk Subculture) के उद्भव से माना जाता है। देखा जाए तो स्त्रियों को घर और बाहर दोनों जगहों पर हमेशा से दोयम दर्जे का माना जाता रहा है। उन्हें कभी अपने जुल्मों के बारे में बोलने का और अपने वजूद की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने का अवसर ही नहीं दिया गया। इसी वजह से स्त्रियों द्वारा एक प्रचलित संस्कृति के समक्ष एक उपसंस्कृति को विकसित किया गया, जहाँ स्त्रियाँ अपनी बातें, समस्याएँ, शोषण, मारपीट, पितृसत्ता द्वारा उत्पीड़न, बलात्कार, भेदभाव और स्त्री सशक्तीकरण आदि पर अपनी बात रख सकती थीं। इस महत्त्वपूर्ण घटना से स्त्रीवादी आंदोलन तीव्र गति से तब आगे बढ़ा जब एक महिला ने अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के अफ्रीकी और अमेरिकी जज के खिलाफ यौन शोषण का आरोप लगाया। जज ने इन आरोपों को खारिज कर दिया। तब यह मामला बहुत बढ़ गया और टेलीविजन पर जज की गवाही के बावजूद सीनेट की वोटिंग हुई जिसमें अमेरिकी सीनेट ने 52–48 के आंकड़ें से थॉमस को बरी कर दिया। इसके विरोध में एक पत्रिका में रेबेका वॉकर ने लेख लिखते हुए अपने शीर्षक

'बीकमिंग द थर्ड वेव' में कहा, "आई एम नॉट पोस्ट–फेमिनिज्म फेमिनिस्ट, आई एम द थर्ड वेव।" यानी नारीवाद का तीसरा दौर शोषणयुक्त सामाजिक गतिविधियों की प्रतिक्रिया भर नहीं था, बल्कि यह अपने आप में एक आंदोलन था। यह सीधे तौर पर महसूस किया गया कि अभी भी समाज में संस्थागत पितृसत्ता है और आने वाले समय के लिए नारीवादी मूल्यों और लक्ष्यों को संयोजित किया जाना आवश्यक है।

यह दौर अधिक खुला हुआ और बहसों के लिए तैयार था। इस दौर में अपनी बात समाज तक पहुँचाने की कोशिश की गई। दुनिया भर में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में महिलाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभायीं। हर क्षेत्र में महिलाओं ने अपने आप को सिद्ध कर रूढ़ियों और परंपराओं को तोड़ दिया है। फिर भी पितृसत्ता की जड़ें मजबूती से समाज के भीतर तक धँसी हुई हैं। इनको लगातार खोदकर निकालने की जरूरत है। अभी भी धर्म लोगों के जीवन को नियंत्रित कर रहा है और इस तरह विवाह और परिवार जैसे संस्थानों में महिला का शोषण होता आ रहा है।

संस्थाओं के पितृसत्तात्मक चरित्र के पीछे अधिक संख्या में पुरुष और उनका अपना प्रभुत्व था उनके अहंकार की सत्ता थी। धीरे–धीरे यह समझा गया कि सामाजिक पूँजी और राजनीतिक साख हासिल करके ही आंदोलन के निहित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है इसीलिए महिलाएँ इस ओर बढ़ीं। साल 1992, महिलाओं का साल कहा जाता है क्योंकि इस दौरान अमेरिकी सीनेट की कुल महिला संख्या 6 थी। 1990 के दशक में ही पहली बार अटॉर्नी जनरल तथा राज्य सचिव का पद महिलाओं को मिले थे, जिससे राजनीतिक, वैधानिक और एक्टिविस्ट क्षेत्रों में महिलाओं की स्वतंत्र व महत्त्वपूर्ण भागीदारी हुई थी। विमानन क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी के पक्ष में 31 जुलाई, 1991 में सीनेट ने वोट किया। इस तरह, रक्षा से लेकर नेतृत्वकर्ता की भूमिका में महिलाएँ पहुँचकर रूढ़ मापदंडों को तोड़ रही थीं।

1990 के बाद और इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में संचार क्रांति से कम्प्यूटर और इलेक्ट्रानिक माध्यमों से तीसरे चरण को विशेष सफलता प्राप्त हुई। उसके बाद इंटरनेट क्रांति का दौर प्रारंभ हुआ और यह तीव्र गति से विकसित हुआ। इसके आ जाने से दुनिया एक दूसरे से जुड़ गई और पूरा विश्व एक हो गया। स्त्रीवादी महिलाएँ एक दूसरे के संघर्ष में न केवल लिखकर अथवा बोलकर (सॉलिडेरिटी) सहयोग दे सकती थीं, बल्कि अपने मुद्दे भी एक दूसरे से साझा कर सकती थीं। इसके कारण वैश्विक स्तर पर अपने उद्देश्यों और मूल्यों को संप्रेषित करना आसान हो गया। साथ ही, संस्कृति में निहित लैंगिक रूढ़ भूमिकाएँ और नस्लीय भेदभाद के खिलाफ एक साथ दुनिया भर की दूसरी आबादी ने भी आवाज उठानी प्रारंभ कर दी। इंटरनेट के माध्यम से स्त्रियों ने अध्ययन करते हुए समाज की गतिविधियों को समझते हुए अपने आप को विकसित किया और यहीं से उनके भीतर एक नई पहचान बनाने और नई उड़ान भरने का आत्मविश्वास जागृत हुआ।

1992 में रेबेका वॉकर और शैनन लिस्स रिऑर्डन द्वारा युवा नारीवादियों के सहयोग के लिए थर्ड वेव डायरेक्ट ऐक्शन कॉरपोरेशन नामक समूह बनाया गया। शैनन जो कि श्रमिक अधिकारों के लिए संघर्ष करती हैं, उनका इस समूह को बनाने के पीछे लक्ष्य था – अश्वेत लोगों और महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी, लेकिन क्योंकि वे उपेक्षित और बाहरी समूह माने जाते हैं इसलिए उनके लिए इसमें भाग ले पाना आसान नहीं था। इस दौरान कुछ फिल्मों में भी समाज की स्थापित परंपरा के खिलाफ नए विमर्श व कहानियाँ दिखाई जाने लगीं।

2.3.4 चौथा चरण

स्त्रीवाद का चौथा चरण सन् 2010 के बाद से माना जा सकता है। आज विश्व में जो बदलाव आ रहा है उसमें सभी चीजें इंटरनेट की तीव्र गति के माध्यम से अधिक खुली हुई हैं। आज भी स्त्री विमर्श में विमर्श, बहस, संवाद और चर्चा जारी हैं, क्योंकि जो लड़ाई स्त्रियाँ इतने वर्षों से लड़ती आ रही हैं उसमें अभी भी कुछ न कुछ मुद्दे बाकी हैं। इंटरनेट और मोबाइल के विभिन्न संस्करणों जैसे 2G, 3G, 4G, और 5G, की इस दुनिया ने पूरे संसार को एक साथ जोड़ दिया है। इससे स्त्रियों के भीतर एक नया आत्मविश्वास, साहस और जागृति भी पैदा हुई है, वहीं आज नये–नये तरह से स्त्रियों के साथ शोषण भी हो रहे हैं। सोशल मीडिया पर स्त्रियाँ अपनी बात खुलकर लिख रही हैं, बोल रही हैं, अपने जीवन से जुड़ी तस्वीरें पोस्ट कर रही हैं इसी वजह से आज साइबर क्राइम अधिक बढ़ने लगा है और इसकी शिकार महिलाएँ अधिक हो रही हैं। इस प्रकार के क्राइम के पीछे भी पुरुषों का ही हाथ है जैसे प्रेम द्वारा धोखे का शिकार बनाना और शारीरिक रूप से ऑनलाइन शोषण करना। मॉडलिंग या प्रेम के नाम पर फोटो मंगवाना और फिर ब्लैकमेल करना जैसी समस्याओं का शिकार भी महिलाओं को होना पड़ रहा है। जरूरत इस बात की है कि महिलाएँ एकत्र हों और अपने साथ हो रहे किसी भी प्रकार के शोषण, बलात्कार, ब्लैकमेल, धोखा, पैसों की ठगी आदि के प्रति वे आवाज़ उठाएँ क्योंकि वर्षों से चली आ रही पितृसत्तावादी मानसिकता के खिलाफ इस लड़ाई को समाप्त करना ही होगा।

आज पूरे विश्व की स्त्रियों में जागृति आ गई है, परन्तु आज इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक के अंतिम वर्ष में भी स्त्रियाँ भावनात्मक और आर्थिक रूप से स्वयं को कमजोर पाती हैं इसलिए उन्हें विवाह रूपी संस्था से परिवार रूपी गृहस्थ आश्रम में डरते हुए रहना पड़ता है। आज स्त्रियाँ घर में पुरुषों के आगे बोलने तो लगी हैं, छोटे–मोटे निर्णय करने लगीं हैं किन्तु उन्हें आज भी घर के बड़े फैसले करने का अधिकार नहीं है। स्त्रियाँ धन भी कमा रही हैं परन्तु कहीं–कहीं उन्हें उस धन पर भी अधिकार नहीं है। देखा जाए तो स्त्रियाँ उतना ही कर पा रहीं हैं जितना पुरुष उन्हें करने की छूट दे रहा है। जहाँ कुछ स्त्रियाँ विद्रोह भी करती हैं, आजाद ख्यालों के साथ जी रही हैं, वहीं कुछ स्त्रियाँ केवल मंचों पर भाषण देती हैं किन्तु अपने घरों पर वे भी खामोश दिखाई देती हैं। उन्हें सब मालूम है किन्तु निर्णय करने से डरती हुई भी दिखाई देती हैं। इस दौर में स्त्रियों के भीतर के इस डर को निकाल फेंकना होगा। साथ ही साथ पुरुषों की मानसिकता में भी बदलाव लाना आवश्यक है अन्यथा आने वाली पीढ़ी भी लगातार इसकी शिकार होती रहेंगी।

2.4 भारतीय संदर्भ

स्त्री संघर्ष का इतिहास वर्षों पुराना रहा है जिसे समझने के लिए प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय समाज में स्त्री के इतिहास को जानना और समझना आवश्यक है। इसे हम पाँच कालों में देख सकते हैं :

- प्राचीन काल
- मध्यकाल
- आधुनिक काल का प्रथम दौर

- नवजागरण काल
- आधुनिक काल

2.4.1 प्राचीन काल

प्राचीन काल से पूर्व स्त्री का इतिहास पाषाण युग से प्रारंभ होते हुए देखा जा सकता है। पाषाण युग में मनुष्य आदिमानव की तरह जीवन यापन करता था। पाषाण युग के बाद सिंधु घाटी सभ्यता आई और इस युग में स्त्री का अपना महत्त्व था, क्योंकि उस समय मातृप्रधान कुटुंब व्यवस्था चलती थी। वंश को माँ के नाम से चलाया जाता था। आगे इस युग में खेती करने के लिए औजार बनाए गए और नई खोजें हुई। इसके बाद कृषि युग का प्रारंभ हुआ। धीरे–धीरे कार्यों का विभाजन किया गया और पुरुष वर्ग खेती तथा शिकार के कार्यों में काम करने लगा और स्त्री को घर–परिवार को संभालने की जिम्मेदारी दी गई। पुरुष पर समूह या कबीले की सुरक्षा की जिम्मेदारी भी होती थी। धीरे–धीरे कबीलों का विकास एक समाज के रूप में हुआ और इन समाजों में बहुआयामी संस्कृति और सभ्यता का भी निर्माण हुआ। कृषि युग से स्त्रियों के ऊपर कर्तव्यों और पारिवारिक जिम्मेवारियों का भार बढ़ता गया। स्त्रियाँ घर और कृषि का काम दोनों करती रहीं। धीरे–धीरे वह घर की चार दीवारी में कैद होती चली गई और यहीं से स्त्रियों की गुलामी का इतिहास प्रारंभ हुआ है। जैसे ही समाज कुछ विकसित हुआ तो वैदिक और उत्तर वैदिक युग आया।

प्राचीन भारत में मौर्य साम्राज्य, मगध साम्राज्य, महाजन दशक, कुषाण आदि का समय रहा है। वैदिक और उत्तर वैदिक युग में स्त्री जीवन का नया स्वरूप दिखाई देने लगा। उस समय वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों और आरण्यकों की रचना हुई। समाजिक व्यवस्था आर्यों द्वारा प्रारंभ की गई थी, उसका मूल ढाँचा पितृसत्तात्मक था। इस दौर में पितृसत्तात्मक परिवारों में प्रचलित परंपरा के अनुसार पुरुष ही परिवार का मुखिया बन गया। सामाजिक आर्थिक व्यवहारों के परिचालन की जिम्मेदारी भी उस पर हुआ करती थी। सिंधु संस्कृति के दौर में जो अधिकार स्त्रियों को प्राप्त थे, वे धीरे–धीरे उत्तर वैदिक काल में कम होते गए। वैदिक काल में पहले पहल स्त्रियों को अध्ययन–अध्यापन, शिक्षा, जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता, विवाह से संबंधित निर्णय आदि की स्वतंत्रता थी। उसे सामाजिक समारोहों अथवा विभिन्न कार्यक्रमों में सहभागिता दर्ज करने की खुली छूट, अस्त्र–शस्त्र चलाने की छूट तथा पिता की संपत्ति में भी हकदार माना जाता था। धार्मिक कार्यक्रमों, पूजापाठ में भी स्त्री को महत्त्व दिया जाता था। स्त्रियों को दर्शनशास्त्र का भी ज्ञान दिया जाता था। वे धार्मिक ग्रंथों का भी पाठ कर सकती थीं। इस युग में विधवा स्त्रियों को अपने मृत पति के भाई के साथ विवाह करने की भी अनुमति थी। यदि समग्र रूप में देखें तो कहा जा सकता है कि वैदिक युग और इससे पूर्व स्त्री काफी हद तक स्वतंत्र थी तथा समाज ने स्वतंत्रता के साथ एक व्यक्ति के रूप में उसे स्वीकार भी लिया था। पर, उत्तर वैदिक काल तक आते–आते स्त्रियों के जीवन में नित नए परिवर्तन आते गये। पूरे देश में स्त्री के लिए धार्मिक परंपरा और पुराणपंथी नियमों का निर्माण हुआ और उसके अनुपालन के लिए स्त्रियों पर कठोर दबाव डाले गए। यह प्रवृत्ति पूरे समाज में फैल गई।

उत्तर वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है। इस लंबे अंतराल में धर्मसूत्र, मनुस्मृति, नारदस्मृति जैसे ग्रंथों का निर्माण हुआ। इसके अलावा महाभारत और रामायण समय में द्रविड़ों पर आर्यों द्वारा पाई गई विजय के परिणामस्वरूप आर्यों द्वारा द्रविड़ों

को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। बदलते समाज के साथ–साथ स्त्रियों की स्थिति भी बदलती गई। वैदिक काल में महाकाव्य भी लिखे गये। इन ग्रंथों और महाकाव्यों में स्त्री जीवन से संबंधित अनेक कठोर नियम स्थापित किए गए जो कि एक परिवर्तनकामी स्त्री को बंधनों के समान लगता है। सामाजिक शोषण और आर्थिक गुलामी के इस तरह के बंधनों एवं नियमों को नकारने के लिए स्त्रियों के प्रयास अभी भी जारी हैं।

स्त्री की पराधीनता का प्रारंभ 'मनुस्मृति' के कारण हुआ है। 'मनुस्मृति' और अन्य धार्मिक ग्रंथों में स्त्रियों के लिए कई नियम बना दिए गये, जैसे–अविवाहित स्त्री का कुंवारापन, विवाहित स्त्री के शील की शुद्धता और स्त्री को लोभी और लालची कहने की मानसिकता आदि। मनुस्मृति में विवाह का धार्मिक महत्त्व इस तरह रखा गया है कि स्त्री को एक आदर्श के रूप में बताया जाता है। इस आदर्श के तहत पति को परमेश्वर की उपाधि देकर पत्नी को पति की पूजा करने का पाठ पढ़ाया जाता है। विधवाओं के लिए सती प्रथा का नियम बना दिया गया है। एक तरह से स्त्रियों को पुरुषों पर पूरी तरह से निर्भर बना दिया गया है। पति की मृत्यु के बाद पत्नी का जीवन निरर्थक मानने वाले समाज के विचारकों ने अपनी मान्यताओं और रिवाजों आदि को अपनी सुविधानुसार परिवर्तित किया है। जिस समाज में सतीत्व को इतना सम्मान दिया जाता था वहाँ पुनर्विवाह पर विचार करने का सवाल ही नहीं उठता है। विधवाओं के लिए जो नियम बने वे अति कठोर और संवेदनहीन थे।

प्राचीन काल के ऐतिहासिक संदर्भों को देखने पर पता चलता है कि स्त्रियों के व्यवहार और आचरण पर भी पाबंदियाँ लगा दी गई थीं। इस समूचे दौर में स्त्रियों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखा जाता था। कन्या हत्या का प्रचलन बढ़ता जा रहा था। यह भी मान्यता रही कि यदि किसी को पुत्र नहीं है तो उसकी पुत्री को उसकी संपत्ति का अधिकार होगा या फिर उसकी पत्नी उस संपत्ति की वारिस होगी, किन्तु सामाजिक रूप से इस तरह का अधिकार कभी मिलता ही नहीं था।

प्राचीन काल के समाज में ब्राह्मण–पुरोहितों का वर्चस्व सदैव विद्यमान रहा है। इस वर्चस्व की मानसिकता के खिलाफ सर्वप्रथम बौद्ध धर्मावलंबियों ने चुनौती दी। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान मानता था। इस बौद्ध धर्म के दर्शन और विचारों से पता चलता है कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, निम्न हो अथवा उच्च, अमीर हो अथवा गरीब वह अपने व्यवहार तथा संयम के बलबूते पर निर्वाण प्राप्त कर सकता था। बौद्ध धर्म में रुढ़िवादिता, परंपरा और निष्ठा के विरुद्ध एक परिवर्तनशील विचार ही नहीं था बल्कि ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष भी था। बौद्ध धर्म के अनुयायी चिंतकों ने सामाजिक जीवन में स्त्री की महत्ता को स्वीकृत करते हुए उसे श्रेष्ठ माना है। इस धर्म का दर्शन और विभिन्न ग्रंथों में कन्या की शिक्षा पर बल दिया गया है। 'थेरीगाथा' में रचित वचनों में यह स्पष्ट है कि, धम्मादिनी और भिक्खुणियों को धार्मिक प्रवचन देने का अधिकार था। बौद्ध संघों में स्त्रियों को प्रवेश की अनुमति थी। सम्राट अशोक की पुत्री संघमित्रा द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार करने के कई प्रमाण बौद्ध ग्रंथों में मिलते हैं। बौद्ध धर्म में विवाह का कोई विशेष आडंबर नहीं था। विवाह योग्य लड़की की आयु बीस वर्ष मानी गयी थी। वह माता–पिता की अनुमति के बिना विवाह कर सकती थी। उसे तलाक लेने का अधिकार था। पत्नी अपनी सुविधा और इच्छा से बच्चा गोद भी ले सकती थी। बौद्ध धर्म के नियमों के प्रचार और प्रसार एवं थेरीगाथा के अनुसार बयालिस स्त्रियों की सहभागिता यह दर्शाती है कि वेदोत्तरकालीन समाज में ब्राह्मणों की मान्यताओं और नियमों के दुष्प्रभाव

को देखते हुए बौद्ध धर्म का अविर्भाव एक नए किरण की तरह हुआ था। पूर्व मध्यकाल में चोल साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य, पाल साम्राज्य और राजपूत काल रहा है।

2.4.2 मध्य काल में स्त्री

भारत के इतिहास में मुस्लिम शासकों के आगमन और शासक के रूप में स्थापित होने का काल मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। मध्यकाल में दिल्ली सल्तनत में गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैय्यद वंश, लोदी वंश, मुगल साम्राज्य और दक्षिणी साम्राज्य में ककातिया, होयसल, विजयनगर आदि का शासनकाल था। इस दौर में भारतीय स्त्रियों की स्थिति बिगड़ती चली गई। इस मध्ययुग में प्रगतिमूलक विचारों का भी अभ्युदय हुआ था जिसमें भक्ति संप्रदाय ने स्त्रियों और दलितों के भीतर एक नई चेतना जगाई। भक्तों और संतों ने सीख दी कि स्त्री और पुरुष दोनों ही ईश्वर के सामने समान हैं। संतों ने सभी को त्याग और समर्पण की एक नयी राह दिखाई। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य भी इसी युग में हुए। मुगल शासकों के काल में ज्ञात होता है कि स्त्रियों के संदर्भ में विवाह आदि को लेकर जो प्रथाएँ आरंभ हुई थी, वह स्त्री विरोधी रही हैं। युद्ध के बाद औरतों को बंदी बनाकर उनके साथ जबरदस्ती विवाह करने का प्रचलन भी था। राजपूतों में तो मुस्लिम शासकों के आतंक से बचने के लिए स्त्रियों द्वारा जौहर और सती हो जाने की प्रथा का प्रचलन शुरू हो गया था। मुस्लिम समाज में पर्दा पद्धति भी थी जो एक सम्मान सूचक पद्धति बनती चली गई। लड़कियों का विवाह बहुत कम उम्र में करने का प्रचलन भी इसी दौर से प्रारंभ हुआ, जिससे बाल विवाह की कुप्रथा शुरू हुई। इन सभी परिस्थितियों के मद्देनजर हिन्दुओं और मुसलमानों में कन्या के जन्म को एक अभिशाप की तरह माना जाने लगा और परिणामस्वरूप भ्रूण हत्याएँ बढ़ने लगी। बहुविवाह की प्रथा को भी बढ़ावा दिया गया। विधवाओं पर अनेक पाबंदियाँ लगायी जाने लगीं। विधवाओं की स्थितियाँ इतनी दयनीय हो गई कि जिंदा रहने के बजाय वे सती हो जाना पसंद करने लगीं। स्त्रियों के लिए शिक्षा प्राप्त करना असंभव बना दिया गया, जबकि उच्चवर्णीय स्त्रियाँ कुछ हद तक पढ़ती थीं लेकिन वह भी मानसिक शांति और धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने हेतु। यदि इस काल में स्त्रियों की स्थिति दिन–प्रतिदिन गिरती चली गई। सती प्रथा, पर्दा प्रथा, कन्या भ्रूण हत्या, वेश्यावृत्ति, विधवा विवाह पर पाबंदी, अशिक्षा और बहुविवाह जैसी प्रथाएँ और कुरीतियाँ इसी काल से प्रारंभ हुईं। इन कड़ी परिस्थितियों के बावजूद कुछ महिलाओं ने राजनीतिक, साहित्यिक शिक्षा और धर्म के क्षेत्रों में सफलता हासिल की। इनमें प्रमुख रूप से रज़िया सुल्तान दिल्ली पर शासन करने वाली एक मात्र महिला साम्राज्ञी बनीं। गोंड की महारानी दुर्गावती ने सन् 1564 में मुगल सम्राट अकबर के सेनापति आसफ खान से लड़कर अपनी जान मंगवाने से पहले पंद्रह वर्षों तक शासन किया था। चाँद बीबी ने 1590 के दशक में अकबर की शक्तिशाली मुगल सेना के खिलाफ अहमद नगर की रक्षा की। जहाँगीर की पत्नी नूरजहाँ ने राजशाही शक्ति का प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल किया और मुगल राजगद्दी के पीछे वास्तविक शक्ति के रूप में पहचान हासिल की। मुगल राजकुमारी जहाँआरा और जेबुन्निसा सुप्रसिद्ध कवयित्रियाँ थीं और उन्होंने सत्ता रूढ़ प्रशासन को भी प्रभावित किया। शिवाजी की माँ जीजाबाई को एक योद्धा और एक प्रकाशक के रूप में उनकी क्षमता के कारण कीम रीजेंट के रूप में स्थापित किया। दक्षिण भारत में कई महिलाओं ने गाँवों, शहरों और जिलों पर शासन किया और सामाजिक एवं धार्मिक संस्थानों की शुरुआत की।

मध्यकाल में भारतीय समाज की रुढ़िवादिता पर आघात करने का कार्य भक्ति आंदोलन द्वारा किया गया। भक्तों ने समाज को नयी दृष्टि, ध्येय और कार्य दिए तथा सहन करने लायक वातावरण तैयार किया। भक्ति संप्रदाय के रामानुजाचार्य, ज्ञानदेव, तुलसीदास, नामदेव, रैदास और कबीर दास जैसे संतों ने सामाजिक बुराइयों के प्रति आवाज उठाई। इसके साथ ही संत महिलाओं ने भी अपना योगदान दिया। मीराबाई, जनाबाई, मुक्ताबाई, दयाबाई जैसी स्त्रियों ने रुढ़िवादी परंपराओं का त्यागकर, सत्य, समर्पण और पवित्रता को अपनाकर एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया।

भक्ति काल में स्त्रियाँ धार्मिक कार्य हेतु घर से बाहर निकलकर सार्वजनिक धार्मिक कार्यक्रमों में अन्य संतों के साथ कीर्तन मंडली और सत्संग में शामिल होकर गली–कूचों में घूमती थीं। मीराबाई तो राजकुल को त्यागकर साध्वी का वेश धारण कर गृहस्थाश्रम को पूरी तरह से छोड़ कर संत बन गई। उस समय भी पति की अनुमति से ही पत्नी संन्यास ले सकती थी। भक्तों ने इन स्त्रियों की भक्ति का अधिकार तो स्वीकार किया किंतु स्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से ग्रसित था। भक्तों और संतों ने भक्ति संप्रदाय के जरिए धार्मिक सुधार, धार्मिक क्षेत्र में समानता और भारतीय समाज के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को सुधारने का प्रयास किया परन्तु कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। यह दौर वैसे भारतीय स्त्रियों के लिए परिवर्तन नहीं ला सका और जैसा समाज और पुरुष वर्ग चाहता था स्त्रियाँ वैसी बनती चलीं गईं।

भारतीय स्त्री विमर्श का आधार क्षेत्रीय ठेठ हिन्दुस्तानी रहा है। 18वीं शताब्दी में स्त्री प्रेरणा और शक्ति की प्रेरक अहल्याबाई रहीं। इसी मध्यकालीन युग में स्त्री संघर्ष और स्त्री विमर्श की तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक उपक्रमों में रानी कर्णवती, रजिया सुल्तान, नूरजहाँ, मुमताज महल आदि स्त्रियों ने सामंती मानसिकता को तोड़ने का कार्य किया और अपने राज्य तथा वहाँ की औरतों के लिए संघर्ष किया।

स्त्री विमर्श को आगे बढ़ाने में भारतीय नवजागरण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस समय स्त्रियों की समस्याओं के विषय में गहराई से विचार किया गया और उसके लिए कानून भी बनाए गए। इस युग के समाजसुधारकों और क्षेत्रीय नेताओं ने राष्ट्र मुक्ति तथा स्त्री मुक्ति दोनों के लिए आंदोलन किए।

2.4.3 आधुनिक काल का प्रारंभिक दौर

आधुनिक भारत के इतिहास को हम दो भागों में देख सकते हैं– पहला भाग 1740 से 1856 तक, दूसरा भाग 1857 से 1947 तक।

आधुनिक काल जिस प्रकार यूरोपीय नवजागरण इटली से होते हुए फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, इंग्लैड आदि देशों में फैला ठीक उसी प्रकार भारतीय नवजागरण बंगाल से होते हुए महाराष्ट्र, गुजरात, दक्षिण भारत तथा हिंदी प्रदेश के अन्य क्षेत्रों तक फैला। भारत में आधुनिक भारत का आगमन 1740 से 1856 तक का माना गया है। यही आधुनिक भारत का प्रारंभिक दौर था।

भारत वर्ष पर मुसलमानों का शासन प्रारंभ हो गया। तुर्क और मुगल साम्राज्य स्थापित हो गया। इसके बाद भारत पर आक्रमण होने प्रारंभ हो गए। पल्लवों, हूणों और शकों ने घुसपैठ कर लिया। अनेकों युद्ध हुए और मुस्लिम विजेता हुए। धीरे–धीरे ये लोग भारतीय संस्कृति

के रंग में रंगते गए और प्रशासन के विकास में भी इन्होंने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। विदेशियों के आगमन के समय भारत में दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियाँ मुगल और मराठा की थीं। आगे मुगलों का वंश षडयंत्र करने और छोटे राज्यों को हड़पने की राजनीति में अधिक दिनों तक कामयाब नहीं हो सका और धीरे–धीरे उनका अंत हो गया। मराठा साम्राज्य युद्ध में विजयी होते गए और अपना विस्तार एवं विकास करते गए।

भारतीय विचारकों ने 18वीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर आधुनिक काल तक सामाजिक सांस्कृतिक, धार्मिक सुधार कार्य को नवजागरण का नाम दिया गया। भारतीय नवजागरण मूल रूप से भाषा, साहित्य, संस्कृति, राष्ट्र और स्वाधीनता आंदोलन के साथ जुड़ा हुआ था। यह नवजागरण स्त्रियों के लिए बहुत अधिक सार्थक सिद्ध हुआ, क्योंकि इसी समय स्त्रियों की समस्याओं पर और पारंपरिक रूढ़िवादी परंपराओं को जड़ से समाप्त करने के लिए विद्रोह और आंदोलन हुए। आइए आगे नवजागरण युग पर चर्चा करते हैं।

2.4.4 नवजागरण युग और स्त्रियों के लिए सुधार काल

यूरोप में मध्ययुग की समाप्ति और आधुनिक युग का प्रारंभ पुनर्जागरण के रूप में माना जाता है। पुनर्जागरण के आने से तत्कालीन व्यवस्था में मानव जीवन में भी सुधार होने लगे। परवर्ती मध्यकाल को 'पुनर्जागरण' का नाम दिया गया है, जिसे रेनेसां के नाम से भी जाना जाता है। पुनर्जागरण का अर्थ जो जागृत नहीं हुए हैं उन्हें फिर से जागृत करने से है। इसे हम पुनरूत्थान, पुनर्जन्म, प्रस्फुटन आदि अर्थों में भी समझ सकते हैं। इसका दूसरा अर्थ इतिहास के संदर्भ से जुड़ा हुआ है।

उन्नीसवीं सदी का स्त्री मुक्ति आंदोलन नवजागरण की चेतना से प्रभावित रहा है। इसमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, सत्यशोधक समाज जैसे संगठनों का प्रमुख योगदान रहा है। आधुनिक सोच रखने वाले विचारकों और समाज सुधारकों में प्रमुख रूप से राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, महात्मा ज्योतिबा फुले आदि का नाम उल्लेखनीय रहा है।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भारतीय समाज में स्त्रियों को सती प्रथा, बाल विवाह, बहुविवाह जैसी कई कुरीतियों के कारण सब कुछ सहन करना पड़ता था। धर्म और परंपराओं के आधार पर अन्याय और क्रूरता के कारण स्त्रियों पर हो रहे निरंतर शोषण को देखते हुए, राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए सबसे पहले आवाज उठाई। उन्होंने सती प्रथा का विरोध किया और बहुविवाह प्रथा पर प्रहार किया। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति को मजबूत करने के लिए संपत्ति के अधिकारों पर भी जोर देते हुए आवाज उठाई। राजा राममोहन राय ने सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की और उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध आंदोलन भी किया। उन्हीं के प्रयासों से 1829 में सती प्रथा को समाप्त करने के लिए सती प्रथा निषेध अधिनियम बनाया गया। ब्रह्म समाज अंतर्जातीय विवाह का समर्थन भी करता था। 1832 में ब्रह्म समाज की स्थापना के बाद कई संस्थाएँ भारत में महिलाओं की उन्नति के लिए स्थापित होती चली गईं। सन् 1848 में गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी की स्थापना हुई। ब्रह्म समाज संगठन के द्वारा महिलाओं के लिए बोधिनी पत्रिका की भी शुरुआत की गई थी। इस संगठन के प्रयासों से 1872 में नागरिक विवाह कानून पारित किया गया जिससे अंतर्जातीय विवाह एवं तलाक को कानूनी अधिकार दिया गया। शादी के लिए स्वीकृत आयु महिला एवं पुरुष के लिए क्रमशः 14 और 18 वर्ष निश्चित की गई।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने भी विधवाओं का जीवन सुधारने का कार्य किया और इनके प्रयासों से सन् 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने व्यक्तिगत स्तर पर ही महिलाओं की दशा सुधारने के लिए विधवा पुनर्विवाह और स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया, साथ ही साथ बहुपत्नी प्रथा का विरोध भी किया। इनके प्रयासों के परिणामस्वरूप सन् 1856 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ। सन् 1857 के विद्रोह के दौरान, भारतीय शासक वर्ग की स्त्रियाँ एक स्वतंत्र भारत की आकांक्षा को पूरा करने के लिए पुरुषों के साथ–साथ आगे बढ़ी और अंग्रेजों का सामना युद्ध करके किया। इनमें प्रमुख झांसी की रानी लक्ष्मी बाई, अहिल्या बाई होलकर और अवध की बेगम हजरत महल इत्यादि वीरांगनाओं ने साहस, वीरता और महान नेतृत्व की मिसाल प्रस्तुत की है।

केशव चंद्र सेन की प्रेरणा से सन् 1867 को बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की गई। सन् 1867 में ही एम.जी. राणाडे एवं भंडारकर के प्रयासों से प्रार्थना समाज की नींव पुणे में रखी गई। सामाजिक सुधार कार्यक्रमों में उनके दो अन्य सहयोगी थे, धोंडो केशव कर्वे तथा विष्णु शास्त्री। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करनी थी।

सन् 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना की गई। इसके द्वारा धार्मिक पाखंडों पर प्रहार किया गया और समाज में महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए अनेक तरह की सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। स्त्रियों के लिए शिक्षा का प्रचार किया, पर्दा प्रथा और बाल विवाह पर प्रतिबंध भी लगाया।

आधुनिक भारत के निर्माताओं में महात्मा ज्योतिबा फुले का विशेष योगदान रहा है। महात्मा ज्योतिबा फुले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई के सहयोग से पुणे में सामाजिक सुधार आंदोलन को अर्थवान बना दिया। फुले ने 1848 में महिलाओं के लिए पहली पाठशाला शुरू की। आगे चलकर सन् 1873 में ज्योतिबा फुले द्वारा सत्यशोधक समाज का गठन किया गया और स्त्री मुक्ति का आंदोलन आगे गतिशील हुआ। इन्होंने विधवा केशोपन, विधवा पुनर्विवाह, अछूतों के लिए पाठशाला और शैक्षिक सुधार के सार्थक प्रयास किये। महात्मा फुले ने गरीब लड़कियों और निम्न वर्ग की लड़कियों के लिए स्कूल खोलने का जो सुझाव दिया वह कारगर साबित हुआ। महात्मा फुले के प्रयासों से ही स्त्रियों की सामाजिक भागीदारी और आर्थिक अधिकारों की स्वतंत्रता निश्चित होने लगी थी। सामाजिक सुधार आंदोलन में केशवचंद्र सेन का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। वे स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, तकनीकी शिक्षा और सार्वजनिक शिक्षा के पक्षधर थे। वे जानते थे कि देश की प्रगति तभी संभव है जब आम जनता और स्त्री की स्थिति में सुधार हो।

आधुनिक भारत में महर्षि डॉ. धोड़ो केशव कर्वे ने विधवाओं के जरूरतमंद बच्चों की मदद की और विधवाओं के पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देने के लिए विधवा–विवाहोत्तेजक मंडली की स्थापना भी की। सन् 1896 में उन्होंने एक हिंदू विधवा होम एसोसिएशन की भी स्थापना की। सन् 1907 में कन्या पाठशाला और महिला महाविद्यालय की शुरुआत की, जो आगे चलकर पहला महिला विद्यापीठ भी बना।

स्वामी विवेकानंद ने सन 1897 में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। स्वामी जी ने विशेष रूप से भारत में महिलाओं की स्थिति में आई गिरावट को सुधारने का कार्य किया। पर्दा प्रथा तथा बहु पत्नीत्व प्रथा ने मुस्लिम महिलाओं को पतन के गर्त में धकेल दिया था। मुस्लिम समाज सुधारकों में सबसे पहला नाम सर सैयद अहमद खान का आता है।

उन्होंने स्त्रियों को शिक्षित करने पर बल दिया। इस प्रकार नवजागरण काल में स्त्रियों के लिए अनेकों सुधार कार्य हुए।

भारतीय स्त्रियों को ज्ञात हो गया कि पुरातन परंपराओं और रुढ़ियों की जकड़न से बाहर निकलने के लिए नयी शिक्षा पद्धति आवश्यक है। यह जरुरी है कि स्त्री सर्वप्रथम शिक्षित हो और अपने अधिकारों के बारे में जाने। इसी दौर में स्त्रियों को जागृत करने एवं उन पर हो रहे अत्याचारों को समाप्त करने के लिए शासन–प्रशासन के स्तर पर कानून बनाने के लिए भी अनेक महापुरुषों एवं सुधारकों ने अपना योगदान दिया है। इसी वजह से इसे नवजागरण युग या सुधार काल के नाम से भी जाना जाता है। आरंभ में भारतीय पुनर्जागरण एक बौद्धिक आंदोलन था और इस नवचेतना वाले बौद्धिक आंदोलन ने भारत के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया जिससे स्त्रियों की स्थिति में भी आमूलचूल परिवर्तन हुए।

2.4.5 आधुनिक काल

आधुनिक काल का दूसरा दौर सन् 1857 से 1947 तक माना जाता है। इसके बाद 15 अगस्त सन् 1947 को भारत देश आजाद हुआ और स्वतंत्र भारत के रूप में स्थापित हुआ। परन्तु इसके पीछे के ऐतिहासिक परिदृश्य को जानना आवश्यक है। जैसे भारत में उपनिवेश और ब्रिटिश राज का आगमन हो चुका था। मध्यकाल के 17वीं सदी में भारत से व्यापार करने पुर्तगाल, डच, फ्रांस, ब्रिटेन सहित अनेकों यूरोपीय देश आए थे। वे देश के स्थापित प्रदेशों और राज्यों से आपसी युद्ध करने में व्यस्त हो गए और अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाया। अंग्रेज धीरे–धीरे 1840 तक पूरे देश पर अपना शासन करने में सफल होते गए। 1857 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध असफल विद्रोह हुआ जो कि भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध के नाम से जाना जाता है।

सन् 1857 के युद्ध की असफलता के बाद भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन का अंत भी दिखाई देने लगा। भारत के प्रति ब्रिटिश शासन की नीतियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिसमें भारतीय राजाओं, सरदारों और जमींदारों को अपनी ओर मिलाकर ब्रिटिश शासन को सुदृढ़ करने के प्रयास किए गए। रानी विकटोरिया के सन् 1858 की घोषणा के अनुसार भारत का शासन ब्रिटिश राजाओं के द्वारा और उनके सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा चलाया गया।

1857 के संघर्ष के साथ ही भारत में मध्यकालीन दौर का भी अंत हुआ और नए युग की शुरुआत हुई जिसे आधुनिक काल कहा गया। मुगल साम्राज्य की लड़ाई ब्रिटिश सेना के साथ हुई। मुगलों के पास उस समय केवल 7 रियासतें थीं और ब्रिटिशों के पास भारत की 21 रियासतें थीं और देश पूरी तरह से गुलाम होता जा रहा था तब मेरठ से 1857 की क्रांति हुई थी। उसी दौर में झांसी को बचाने के लिए रानी लक्ष्मी बाई (1828–1858) ने अपने सैनिकों के साथ युद्ध किया। 1857 की क्रांति में अनेक वीरांगनाएँ शामिल रहीं, जिनका उल्लेख इतिहास में बहुत कम मिलता है। इन वीरांगनाओं में प्रमुख रूप से अहिल्या बाई होल्कर, रानी चेनम्मा, उम्दा देवी, रजिया सुल्तान, रानी झलकारी बाई, रहीमी, जमीला खान, मन कौर, राज कौर, शोभना देवी, आशा देवी आदि हैं। इन स्त्रियों ने युद्ध में अपने प्राणों की कुर्बानी दे दी। स्त्रियों को पहले योद्धाओं का दर्जा नहीं दिया जाता था, इसी कारण इनका नाम इतिहास में बहुत कम दिखाई देता है।

इस संघर्ष में दलित समुदायों और निम्न वर्ग की महिलाएँ भी शामिल थीं। कई भटियारिनें, सराय वालियाँ भी थीं। इनके सरायों में विद्रोही समूह योजनाएँ बनाते थे। कई तवायफें भी सहायता करती थीं। ये सभी महिलाएँ समाचार और सूचनाओं को पहुँचाने का काम करती थीं। उस समय औरतों को समाज के हाशिए पर रखा जाता था। इसी वजह से उनके बलिदानों को इतिहास में कहीं दर्ज नहीं किया गया। इनके साहस और वीरता की गाथा कहने और सुनाने वाला कोई भी नहीं था। इतिहास में इनकी अनुपस्थिति का मुख्य कारण पितृसत्तात्मक समाजों में औरतों के कार्यों को कोई महत्ता नहीं दी जाती थी और न ही उन्हें उनके कार्यों के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। केवल उनसे अपना मतलब निकाला जाता था।

भारतीय राज्य सहित भारत पर ब्रिटिश सर्वोच्चता सुदृढ़ रूप से स्थापित कर दी गई। भारत में अंग्रेजों का शासन और कानून बढ़ता गया। परिणाम स्वरूप भारतीय लोगों की ब्रिटिश शासन से घृणा बढ़ती गई, जिसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को जन्म दिया। असहयोग आंदोलन 1920 से 1922 के बीच महात्मा गांधी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चलाया, जिसके कारण भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को एक नई जागृति मिली। गांधीजी द्वारा 'भारत छोड़ो आंदोलन' अगस्त 1942 में प्रारंभ किया गया, जिसमें बड़ी संख्या में औरतों ने भाग लिया। आजादी की लड़ाई में भी औरतों ने अधिक से अधिक भाग लिया और अपनी कुर्बानी दी। आगे अनेक आंदोलन और क्रांति किये गए। परिणामस्वरूप अगस्त सन् 1947 में हमारा देश आजाद हुआ। आजादी के समय और आजादी के बाद के मुक्ति आंदोलन की चर्चा, अगले बिंदु 'स्त्री मुक्ति आंदोलन' के भारतीय संदर्भ में करके पढ़ने के लिए दिया जा रहा है।

2.5 स्त्री मुक्ति आंदोलन

स्त्री मुक्ति आंदोलन का प्रारंभ पश्चिम से माना जाता है। सदियों से पूरे विश्व में स्त्रियों पर जो शोषण होता रहा है उसी के खिलाफ यह आंदोलन अलग–अलग जगहों पर अपनी–अपनी समस्याओं को लेकर होता आया है। उसका इतिहास भी उतना ही पुराना है। स्त्री के अधिकारों के प्रति जागृति और चेतना का भाव सर्वप्रथम पश्चिम में दिखाई देता है। इस बिंदु के अंतर्गत हम स्त्री मुक्ति आंदोलन को दो भागों में देखेंगे। पहला पश्चिमी देशों में हुए स्त्रियों द्वारा आंदोलन और संघर्ष और दूसरा भारत में ऐतिहासिक रूप से स्त्री मुक्ति के लिए हुए संघर्ष और आंदोलन, दोनों की चर्चा संक्षिप्त में करेंगे।

2.5.1 पाश्चात्य संदर्भ में मुक्ति आंदोलन

पाश्चात्य स्त्री मुक्ति आंदोलन का इतिहास वर्षों पुराना रहा है। स्त्रीवादी आंदोलन अलग–अलग देशों में अलग–अलग स्तर पर किया जाता रहा है जिसमें प्रमुख रूप से फ्रांस, इंग्लैड और संयुक्त राज्य अमेरिका का आंदोलन रहा है। पूरे विश्व में अमेरिका के इतिहास का नारी मुक्ति आंदोलन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आज पाश्चात्य देशों में नारी की स्थिति सुदृढ़ और स्वतंत्र दिखाई देती है। परन्तु प्रारंभिक काल में पाश्चात्य देशों की स्त्रियाँ भी उतनी स्वतंत्र नहीं थी। स्त्री आदिकाल से मध्यकाल तक बंधनों में जकड़ी रही। पाश्चात्य स्त्रियों को अपने अधिकारों का ज्ञान, अस्तित्व, अस्मिता और मुक्ति का ख्याल मध्य काल में लगभग अठारहवीं (18वीं) शताब्दी आते–आते होने लगा था। इस युग की स्त्रियों ने मुक्ति पाने के लिए संघर्ष

करना प्रारंभ कर दिया था जिसके परिणामस्वरूप स्त्री मुक्ति आंदोलन की एक लंबी परंपरा आज पूरे विश्व में देखी जा सकती है।

पूरे विश्व में पुरुष सत्ता का ही आधिपत्य रहा है और नारी को सेविका, दासी या वस्तु के रूप में देखा और समझा गया है। यही भावना सर्वत्र व्याप्त रही है। पाश्चात्य देशों में भी नारी की लगभग वही स्थिति रही है, जैसे भारत में रही है। प्रारंभिक काल से ही पुरुष को नारी का आदर्श एवं नारी की नियति माना गया है। आर्थिक रूप से पुरुष पर आश्रित होने के कारण स्त्री को सदैव दासी या निराश्रित दृष्टि से देखा गया है। इसी वजह से स्त्रियाँ पुरुषों (पिता, पति या पुत्र) के समक्ष झुककर और सभी चीजों को सहन करते हुए चलती रही हैं। उन्हें इन्हीं कारणों की वजह से शारीरिक और मानसिक शोषण का शिकार भी बनाया जाता रहा है। इसी शोषण और अन्याय के खिलाफ स्त्रियों ने अपनी लड़ाई लड़नी प्रारंभ की।

फ्रांसीसी क्रांति के समय आजादी, समानता और भातृत्व का व्यवहार बिना किसी लिंग भेद के लागू करने के लिए महिला रिपब्लिकन क्लबों ने माँग की थी परन्तु उस समय नेपोलियन की संहिता आ जाने के कारण यह माँग शांत पड़ गई। उत्तरी अमेरिका के अबीजेल ऐडम्स (Abijail Adams) और मेरी ऑस्टीस वारेन ने जार्ज वाशिंगटन और टामस जैफरसन पर दबाव डाला था कि नारी मुक्ति के मामले को संविधान में शामिल किया जाए। इसके बाद नारीवादी आंदोलन सन् 1848 में प्रारंभ हुआ। उस समय एलिजाबेथ कैंडी स्टैण्टन, लुक्रेसिया कफिन मोर और कुछ अन्य महिलाओं ने न्यूयार्क में एक महिला सम्मेलन करके नारी स्वतंत्रता पर एक घोषणापत्र जारी किया, जिसमें पूर्ण कानूनी समानता, पूर्ण शैक्षिक और व्यावसायिक अवसर, समान मुआवजा और मजदूरी कमाने का अधिकार तथा वोट देने के अधिकार की माँग की गई थी। यह आंदोलन तीव्र गति से पूरे यूरोप में फैल गया। इसके बाद इसमें उच्च शिक्षा, सभी व्यापार और पेशों में प्रवेश, विवाहिता स्त्री की संपति और अन्य अधिकार को भी शामिल कर लिया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका में जब 1920 में नारी मताधिकार की जीत हुई तब तक महिलाओं में पुरुष के समकक्ष स्त्रियों की बराबरी के सवाल को लेकर दो दल बन गए। एक दल राष्ट्रीय महिला पार्टी का था, जो पुरुष के समकक्ष स्त्रियों की बराबरी की वकालत करता था जबकि दूसरा दल यह मानता था कि महिलाओं के लिए कुछ संरक्षणात्मक कानून बनाए जाएँ। तत्पश्चात् 19वीं सदी में संरक्षणात्मक कानून के विविध रूप अमल में लाये जा चुके थे जैसे स्त्रियों के लिए संभव साप्ताहिक कार्य घण्टों को सीमित करना तथा उन्हें कुछ खतरनाक कार्यों से दूर रखना।

पश्चिमी साहित्य ने स्त्री से संबंधित मिथक को बनाए रखने का प्रयास लगातार जारी रखा। नीत्से से प्रभावित एक फ्रेंच लेखक स्त्री के संदर्भ में मानते हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों को भिन्न–भिन्न शिक्षा मिलनी चाहिए। रूसो भी इस बात पर जोर देते हैं कि – मस्तिष्क से रहित एक युवा स्त्री की काया अधिक आकर्षक होती है। इस प्रकार की बातों से मेरी वॉल्सटन क्राफ्ट मानती है कि शिक्षा के संदर्भ में समाज के ये पक्षपातपूर्ण तर्क ही स्त्री को दमघोटू वातावरण में जीने के लिए प्रेरित करते हैं। इसी वजह से मेरी वॉल्सटन क्राफ्ट ने रूसों की इस आदर्श व्यवस्था का प्रतिवाद किया और सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली को बदलने पर बल दिया। उन्होंने इंग्लैंड में नारी के अधिकारों के लिए आवाज उठायी थी। स्त्रियों के लिए इस प्रकार की आवाज उठाने का साहस दिखाने के कारण आज वे भी स्त्री मुक्ति आंदोलन की सूत्रधार के रूप में मानी जाती हैं। इसके बाद फ्रांस में सन् 1844 में फ्लोरा ट्रिस्टन ने महिलाओं की माँगों को प्रस्तुत करने के लिए एक महिला संगठन की स्थापना की। इंग्लैड

की एक महिला ने महिलाओं को पुरुष के समान अधिकार दिए जाने की माँग को लेकर आंदोलन प्रारंभ किया परन्तु इस आंदोलन को दबाकर कुचल दिया गया। इंग्लैंड में जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'द सब्जेक्शन आफ विमेन' द्वारा नारी मुक्ति और उसके मताधिकारों के लिए आवाज उठाई।

न्यूयार्क की सड़कों पर 8 मार्च सन् 1857 में कपड़ा मिलों में काम करने वाली स्त्रियों ने अधिक वेतन और काम करने के घंटे को कम करने के लिए माँग की और प्रदर्शन भी किया जिसे उस दौर के ट्रेड युनियनों के व्यक्तियों ने पसंद नहीं किया। यह आंदोलन पुलिस द्वारा कुचल दिया गया परिणामस्वरूप प्रदर्शन और माँग असफल रहा किन्तु यह इतिहास में दर्ज हो गया और आज भी 8 मार्च का दिन अंतर्राष्ट्रीय महिला संघर्ष दिवस के रूप में मनाया जाता है।

अमेरिका में महिला आंदोलन की शुरुआत सन् 1865 में एलिजाबेथ मिलर और लुसी स्टोन ने प्रारंभ की थी। इसके बाद सन् 1869 में हेग में महिलाओं द्वारा एक युद्ध विरोधी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। सन् 1910 में समाजवादी महिलाओं द्वारा एक सम्मेलन में पहली बार 8 मार्च का दिन महिला संघर्ष दिवस के रूप में स्वीकृत किया गया। 8 मार्च 1930 में जार के रूस में महिलाओं ने सड़कों पर एक रैली निकाली और इस रैली में युद्ध विरोधी नारे लगाए। महिलाओं के युद्ध विरोधी नारों से सारा यूरोप गूँज उठा। सन् 1936 में स्पेनिकस स्त्रियों ने फासिज्म के विरोध में प्रदर्शन किये, क्योंकि जर्मनी में उस समय स्त्रियों को युद्ध हेतु अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रेरित किया जा रहा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों में आंदोलनों ने बहुत जोर पकड़ा। सन् 1945 में पेरिस में विमेन इंटरनेशनल डेमोक्रेटिक फेडरेशन की स्थापना की गई थी। सभी देशों की स्त्रियों द्वारा आंदोलन को विश्वस्तर पर संगठित रूप में चलाने का निश्चय किया गया। सन् 1946 से 1966 तक बीस वर्षों के मध्य महिला अधिकारों की लड़ाई के साथ निरस्त्रीकरण और शांति के पक्ष में जोरदार आवाज उठाई जाने लगी। इस लड़ाई को बल देने के लिए अनेक महिला संगठन सामने आए। इसी दौर में कुछ स्त्रीवादी महिलाएँ, परिवार, विवाह, एक तरफा प्रेम आदि को स्त्री उत्पीड़न की मूल जड़ मानकर उनका विरोध करने लगीं। सन् 1949 में सिमोन द बोउवार की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' के प्रकाशन ने स्त्री मुक्ति के सवाल को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक मानदंडों से निकालकर यौन मुक्ति के प्रांगण में ला खड़ा किया। इसके बाद से स्त्री विमर्श के नाम पर यौन विमर्श प्रमुखता से सामने आने लगी।

स्त्री मुक्ति आंदोलन के दौर में ऐलेन सोबोलटा जैसी स्त्रीवादी लेखिका ने अपनी किताब 'ए लिटरेचर ऑफ देअर ऑन में यह स्पष्ट किया कि स्त्री दमन का मुख्य कारण पितृसत्ता नहीं बल्कि पूंजीवाद है। इसके बाद स्त्री मुक्ति के लिए पूंजी को आवश्यक माना गया और यह भी विचार किया गया कि आर्थिक रूप से स्वावलंबी स्त्री ही पुरुष की बराबरी कर सकती है। इसके बाद अनेक संगठनों का गठन हुआ। स्त्री को पुरुष के समान दर्जा दिए जाने की माँग की जाने लगी। इस प्रकार 'विमेंस लिव मूव्हमेंट' का स्वरूप स्पष्ट होता गया। इसके परिणामस्वरूप स्त्री मुक्ति आंदोलन के उद्देश्य सामने आए। जैसे :

1. स्त्रियों में जागृति लाना
2. स्त्री अस्तित्व और अस्मिता के संबंध में चेतना लाना,

3. सभी क्षेत्रों में पुरुषों के जैसा समान अधिकार की माँग
4. बच्चों के लिए आंगनबाड़ी/झूला घर आदि योजना जहाँ बच्चों को रखा जा सके और माताएँ काम पर जा सकें,
5. गर्भपात से संबंधित अनुकूल कानून,
6. स्त्रियों को देखने का दृष्टिकोण सामाजिक रूप से बदला जाये।

अतः देखा जा सकता है कि पाश्चात्य देशों की स्त्रियों ने अपने जीवन को सरल बनाने और बराबरी के हक के लिए संघर्ष करते हुए मुक्ति आंदोलन चलाया ताकि उन्हें समाज और परिवार में बराबरी का अधिकार मिले, अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति उनकी चेतना जागृत हो, समाज में स्त्री–पुरुष के मध्य समानता हो ताकि दोनों को समान अवसर प्राप्त हो सके।

2.5.2 भारतीय संदर्भ में मुक्ति आंदोलन

स्त्री हो या पुरुष दोनों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए स्वतंत्र होना आवश्यक है। स्वतंत्रता और मुक्ति का अर्थ केवल आजादी नहीं है बल्कि एक जीवन मूल्य है। जब कभी भी कोई व्यक्ति किसी के शोषण या अत्याचार का शिकार होता है तो वह उससे मुक्त होना चाहता है और अपनी मुक्ति को प्राप्त करने के लिए उसे संघर्ष या आंदोलन करना पड़ता है। स्त्री मुक्ति आंदोलन व्यक्ति स्वातंत्र्य का अर्थ है। स्त्री मुक्ति आंदोलन पुरुष विरोधी आंदोलन नहीं है बल्कि उस व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन है जिसमें स्त्री का शोषण और दमन होता है।

उन्नीसवीं सदी के भारत में ताराबाई शिंदे का नाम विशेष महत्त्व रखता है। इन्होंने सन् 1882 में 'स्त्री–पुरुष तुलना' नामक किताब की रचना की। इसमें पितृसत्तात्मक व्यवस्था के तमाम शोषणात्मक कार्यों की आलोचना की गई है जो पुरुष वर्ग स्त्रियों के साथ अपने जीवन में करता है। यह किताब स्त्रीवादी विचारधारा का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ भी है।

पंडित रमाबाई ने भारत की स्त्रियों को शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ाने हेतु प्रयास किये हैं। पंडिता रमाबाई ने पहले महिला आर्य समाज का गठन महाराष्ट्र में 1882 में किया था। सिस्टर निवेदिता स्वामी विवेकानंद की शिष्या थीं। सिस्टर निवेदिता 1895 में लंदन में स्वामी जी से मुलाकात के बाद 1898 में कलकत्ता चली गईं। सिस्टर निवेदिता ने रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद के साथ मिलकर नवस्थापित रामकृष्ण मिशन में अपना सहयोग दिया है। उन्होंने विधवाओं, वयस्क महिलाओं के लिए नियमित पाठ्यक्रमों, स्वच्छता, नर्सिंग, सिलाई, सेवा, शिक्षा इत्यादि की व्यवस्था भी की थी।

सन् 1906 में मद्रास में तमिल माथार संगम और तमिल महिला संगठन अस्तित्व में आए। सन 1908 में गुजराती स्त्री मंडल, सन् 1909 में बंग महिला समाज, अगोरे कामिनी राय की नारी समिति, सन् 1917 में स्त्रियों का भारतीय संघ, 1925 में महिलाओं का राष्ट्रीय परिषद् और सन् 1927 में सरला देवी चौधरानी, मुथुलक्ष्मी रेड्डी, सुशीला नायर, अरूणा आसफ अली, विजय लक्ष्मी पंडित, स्वर्णकुमारी घोशाल, महिला उपन्यासकार कादंगरी गांगुली, सरोजनी नायडू इत्यादि संगठनों एवं स्त्रियों ने अपना योगदान देकर भारतीय समाज में सांस्कृतिक जागरण लाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रगतिशील महिला आंदोलन ने सन्

1929 में कुछ राष्ट्रीय नेताओं के सहयोग से शारदा एक्ट और बाल विवाह नियंत्रण अधिनियम पास करवाया और बाल विवाह के विरुद्ध कानून पास किए गए। महिलाओं के समर्थन में मुस्लिम पर्सनल लॉ, विनियोग अधिनियम सन् 1927 तथा मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम सन् 1929 आदि अन्य कानून भी पास किए गए।

भारत में सन् 1915 से 1947 तक का समय स्त्रियों के लिए जागृति भरा रहा है। स्त्रियों ने राष्ट्रवाद को समझा और वे स्वतंत्रता आंदोलन की लड़ाई में सम्मिलित हुईं। महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में ऑल इंडिया वूमेन कांफ्रेंस, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ी थी। इस आंदोलन में महिलाओं ने घर से बाहर निकलकर अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाया और अपनी महत्ता को सिद्ध किया।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान योगदान देनेवाली सरोजनी नायडू ने शिक्षा को नारी मुक्ति का द्वार बताया है। उन्होंने समाज में नारी के प्रति रखी जाने वाली दोहरी मानसिकता का खंडन किया, स्त्रियों पर होने वाले अन्याय और अत्याचारों का जमकर विरोध किया और स्त्रियों की समस्याओं के समाधान के लिए अखिल भारतीय महिला परिषद् से जुड़कर देश की स्त्रियों को उनके अधिकारों के लिए जागरूक करने के प्रयास किये हैं।

आयरिश महिला एनी बेसेंट को एक प्रमुख समाजसेवी, लेखक और प्रभावी वक्ता के रूप में जाना जाता है। भारत में इन्होंने थियोसोफिकल सोसाइटी के माध्यम से भौतिक तथा बौद्धिक अवरोधों को दूर किया। सन् 1914 में वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का हिस्सा बनीं। होम रूल आंदोलन में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कमला नेहरू का नाम एक साहसी और दृढ़ संकल्प वाली महिला के रूप में लिया जाता है। इसी प्रकार अन्य महिलाओं में दीदी सुब्बुलक्ष्मी, अरूणा आसफ अली, कमला देवी, विजया लक्ष्मी पंडित आदि के नाम भी उल्लेखनीय है।

स्वाधीनता आंदोलन जिन दिनों तेजी पर था उन्हीं दिनों बाबा साहेब आंबेडकर का स्त्री मुक्ति के संदर्भ में विशेष योगदान रहा। उन्होंने दलित और स्त्री वर्ग के उद्धार के लिए ही नहीं बल्कि पूरे देश के उत्थान और उन्नति के लिए सार्थक कार्य किये। उन्होंने स्त्री मुक्ति के संदर्भ में अनेक भाषण दिए। 28 जुलाई 1928 को मुम्बई विधान परिषद में डॉ. आंबेडकर ने मील, फैक्टरी, कारखाने तथा अन्य संस्थाओं में मजदूर महिलाओं को प्रसूति अवकाश की सुविधा उपलब्ध कराने के लिए अधिनियम पास करवाने के प्रयास किये।

सन् 1928 में साइमन कमीशन के समक्ष दिए गए अपने साक्ष्य में डॉ. आंबेडकर ने वयस्क मताधिकार की जोरदार वकालत की है और कहा कि 21 वर्ष के ऊपर के सभी भारतीय स्त्री और पुरुष को मतदान का अधिकार मिलना चाहिए। उनके सामाजिक संघर्षों और आंदोलनों से महिलाओं में भी जागृति आती गई और वे जागृत महिलाएँ विभिन्न आंदोलनों में सक्रिय भी रही हैं। बाबा साहेब आंबेडकर द्वारा महाड़ के चवदार तालाब का सत्याग्रह और नासिक के कालाराम मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह किये गये हैं। इन सत्याग्रह आंदोलनों में बड़ी संख्या में महिलाएँ शामिल रही हैं। सन् 1942 में डॉ. आम्बेडकर को गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में श्रम सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया था। उन्होंने इस पद पर कार्य करते हुए पहली बार महिलाओं के लिए प्रसूति अवकाश की व्यवस्था की। उन्होंने संविधान प्रारूप समिति के अनुच्छेद 14 में ऐसा प्रावधान रखा कि लिंग के आधार पर महिलाओं के साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। आजादी के बाद बनी केन्द्रीय सरकार में

डॉ. आम्बेडकर जब कानून मंत्री के रूप में कार्य कर रहे थे, तब उन्होंने 'हिंदू कोड बिल' संसद में पेश किया लेकिन यह 'हिंदू कोड बिल' तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की सरकार ने पास नहीं किया। यह 'हिंदू कोड बिल' अगर पास हो जाता तो समाज में शोषित–प्रताड़ित होने वाली स्त्रियाँ कानून के आधार पर अन्याय–अत्याचारों से पीछा छुड़ा सकती थीं। पति द्वारा होने वाले शोषण से मुक्ति पाकर किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह भी कर सकती थीं।

बाबा साहेब आंबेडकर ने जनवरी 1928 में मुंबई में महिला मंडल की स्थापना भी की थी। डॉ. आम्बेडकर की पत्नी रमाबाई आम्बेडकर उसकी अध्यक्षा थीं। सन् 1920 में नागपुर में डिप्रेस्ड क्लासेस सम्मेलन के समय महिलाओं की ओर से उन्होंने एक अलग सम्मेलन भी कराया था, जिसमें सैकड़ों महिलाएँ आई थीं। बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर ने वेश्यावृत्ति में संलग्न महिलाओं की मुक्ति के लिए भी प्रयास किये। उनके द्वारा 'कामठी' सम्मेलन में वेश्यावृत्ति उन्मूलन के नाम से एक संगठन की स्थापना की गई थी।

गांधीजी ने दृढ़ता से सती प्रथा, बाल विवाह, दहेज प्रथा, छुआछूत और हिंदू विधवाओं के उत्पीड़न का विरोध किया। वे सदैव महिला मुक्ति और महिला विकास के कार्यों में अग्रसर रहे। गांधीजी के साथ विभिन्न आंदोलनों में अनेक महिलाओं ने साथ दिया है। उन्होंने नमक आंदोलन, अस्पृश्यता विरोधी अभियान, किसान एवं श्रमिक आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गांधीजी ने महिलाओं के गुणों में ज्ञान, विनम्रता, सहनशीलता, त्याग, विश्वास और अहिंसा आदि को स्वतंत्रता संग्राम के लिए बिल्कुल उपयुक्त हथियार बताया।

भारतीय महिलाओं की राजनीतिक जागरूकता और सहभागिता का श्रेय गांधीजी द्वारा शुरू किए आंदोलनों को जाता है। सन् 1920 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के बाद उभरे संघर्ष में महिलाओं के अनेक संगठनों का निर्माण हुआ था, जिसमें महत्त्वपूर्ण संगठन हैं– देश सेविका संघ, नारी सत्याग्रह समिति, महिला राष्ट्रीय संघ, स्त्री स्वराज संघ और स्वयं सेविका आदि। सन् 1926 में 'ऑल इंडिया वीमेंस कांफ्रेंस' की स्थापना महिलाओं में शिक्षा प्रसार तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए की गई थी। इसके बाद इसका नाम बदलकर 'ऑल इंडिया वीमेंस कांफ्रेंस फॉर एजुकेशनल एंड सोशल रिफॉर्म्स' कर दिया गया था। सन् 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन में हजारों की संख्या में महिलाओं ने भाग लिया।

अखिल भारतीय लोकतांत्रिक जनवादी महिला संगठन एक महिला उन्मुख संगठन है जो लोकतंत्र, समानता, और महिलाओं के उद्धार के लिए प्रतिबद्ध है। यह समाज से वर्ग, जाति समुदाय के भेदभाव की परवाह किए बिना समाज के सभी वर्गों से संबंधित है। इन संगठनों में दो तिहाई गरीब महिलाएँ और शहरी महिलाएँ सम्मिलित हैं। अखिल भारतीय लोकतांत्रिक महिला संगठन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की महिला शाखा है। यह संगठन महिलाओं के अधिकारों, उनकी शिक्षा, रोजगार को सशक्त बनाने के लिए कार्य करता है। इसके साथ ही यह संगठन जातिवाद, सांप्रदायिकता, बाल अधिकार और आपदा सहायता के लिए भी प्रयासरत है। इस संदर्भ में आशारानी व्होरा कहती हैं कि ''बीसवीं सदी के प्रथम 45–50 वर्षों को 'नारी–जागरण का युग' और स्वतंत्रता के पश्चात् जो युग प्रारंभ हुआ, उसे 'नारी–प्रगति' का युग कहा जा सकता है। पहली अवधि में नारी ने सामाजिक पराधीनता और देशी राजनीतिक पराधीनता की बेड़ियाँ काट फेंकने के लिए एक साथ संघर्ष किया और अपने लिए एक लक्ष्य, एक मार्ग निर्धारित किया। दूसरी अवधि में उस लक्ष्य को पाने के लिए उस मार्ग पर चलने का अभ्यास शुरु हुआ।'' (औरत : कल, आज और कल, आशारानी व्होरा, पृ.16)

स्वतंत्रता के पश्चात् प्रमुख महिला आंदोलन– महिलाओं के द्वारा कार्यरत एक ट्रेड यूनियन के रूप में 'Self employed women"s Association' सन् 1972 में उभर कर सामने आया। इस यूनियन का इतिहास टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन से जुड़ा था जो सन् 1920 में सबसे बड़ा यूनियन अनुसूया साराभाई द्वारा शुरू किया गया था, इस आंदोलन के द्वारा परिवार में काम करने वाली घरेलू महिलाओं की मदद की जाती थी। घर में काम करने वाली महिलाओं को विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण जैसे सिलाई, कढ़ाई, कटाई, प्रेस, रचना, टंकण, आशुलिपि आदि की सुविधा दी जाती है। यह एक प्रकार से पंजीकृत और महिला स्वरोजगार श्रमिकों का एक संगठन है। इस सेवा के प्रमुख उद्देश्य में पूर्ण रोजगार मजदूरों के काम की सुरक्षा, आय सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा और महिला आत्मनिर्भरता आदि सम्मिलित है। यह संगठन महिलाओं के नेतृत्व, उनके आत्मविश्वास और उनके अस्तित्व की एक पहचान है।

भारत को सन् 1947 में आजादी मिली। आजादी के बाद स्त्रीवादी धारा का एक नया ही रूप सामने आया। सन् 1948 में तेलंगाना में महिलाओं ने जमींदारों, महाजनों और निजामों द्वारा किए जाने वाले शोषण का आक्रामक रूप से विरोध किया। आंध्रप्रदेश में महिला संगठनों जैसे आंध्र महिला सभा, आंध्र युवती मंडल और महिला संगठन का निर्माण भी किया। वह प्रमुख रूप से सैन्य शक्ति के विरोध में, लिंग समानता, घरेलू हिंसा रोकने, बाल विवाह और बहु विवाह रोकने हेतु सक्रिय हुई। सन् 1950 के गांधीजी द्वारा चलाए गए भूदान आंदोलन में भी महिलाओं ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इसके बाद 1970 में महिलाओं ने महाराष्ट्र में ग्रामीण क्षेत्रों में मूल्यवृद्धि के खिलाफ आंदोलन के रूप में ''यूनाइटेड वीमेंस एँटी प्राइस राइज फ्रंट'' की स्थापना की क्योंकि मूल्य वृद्धि का सीधा असर महिलाओं पर हो रहा था। थाली और बेलन लेकर वे आंदोलन में उतरी थीं। इसका प्रभाव यह हुआ कि हजारों घरों की गृहिणियाँ भी सड़कों पर उतर आईं। यह आंदोलन पूरे देश में सामाजिक परिवर्तन के लिए सक्रिय आंदोलन बना। आदिवासी, भूमिहीन मजदूर, गैर आदिवासी, स्थानीय जमींदार, साहूकारों के अत्याचार इन सभी मुद्दों में महिलाओं ने अपनी विशेष भूमिका निभाई। उन्होंने शराब विरोधी आंदोलन, शारीरिक हिंसा इत्यादि के विरोध में रैलियाँ निकालीं और विरोध प्रदर्शन भी किए। इन सभी आंदोलनों में महिला मजदूरों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सन् 1972–73 में शराब विरोधी आंदोलन हुए। इसी समय सन् 1972–73 में विकसित 'चिपको आंदोलन' एक पर्यावरणीय आंदोलन था जिसका उद्देश्य वृक्षों के संरक्षण से था। चिपको आंदोलन में ग्रामीण महिलाओं के लिए अपने पर्यावरण को बचाना, अपनी आजीविका को बचाने जैसा था, जिसमें प्राथमिक भोजन, ईंधन, पानी, मरुस्थलीकरण इत्यादि महिलाओं के विशेष हित में शामिल थे। सन् 1974 में गुजरात में नव निर्माण आंदोलन की शुरुआत हुई। यह एक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन था। यह आंदोलन असंतुष्ट छात्रों और मध्यम वर्गीय लोगों द्वारा बढ़ते दाम, कालाबाजारी और भ्रष्टाचार के खिलाफ चलाया गया था।

सन् 1975 में मार्क्सवादी लेनिनवादी समूह जैसे स्त्री जागृति समिति अथवा स्वचेतन नारीवादियों जैसे महिला केन्द्रों द्वारा अपनाए गए तरीकों से एक भिन्न रूप में कामकाजी महिलाओं एवं परिवारों को सक्रिय करने के लिए बंबई में ''अन्नपूर्णा महिला मंडल'' का उदय हुआ। अन्नपूर्णा महिला मंडल ने खनन करने वाली महिलाओं को एक कोष संग्रह स्थापित करने में मदद की। इस संगठन का उद्देश्य महिलाओं को आर्थिक, सामाजिक और पारिवारिक सुरक्षा प्रदान करना था। इसी वर्ष सन् 1975 को अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया गया।

नर्मदा बचाओ आंदोलन भी सन् 1985 में महिलाओं द्वारा चलाया गया आंदोलन था। यह आंदोलन मेधा पाटेकर ने भारत में गुजरात की नर्मदा नदी के किनारे सरदार सरोवर बांध के विरुद्ध जनजातीय लोगों, आदिवासियों, किसानों, पर्यावरणवेत्ताओं और मानव अधिकार के सक्रिय कार्यकर्ताओं की सहायता से चलाया था। सन् 1980 में कुछ नारीवादी कार्यकर्ताओं ने समूहों में संरचित होकर अभियान जारी रखे। जैसे बॉम्बे में स्त्री संघर्ष, दिल्ली में सहेली, हैदराबाद में स्त्री शक्ति और बैंग्लुरू में विमोचना। हैदराबाद में दहेज के विरोध में प्रगतिशील महिला संगठन ने संगठनात्मक विरोध प्रदर्शन किया। इसके बाद महिलाओं के विकास से जुड़ा महिला विकास अध्ययन केन्द्र 19 अप्रैल सन् 1980 को स्थापित हुआ। इसके पश्चात् धीरे–धीरे इसकी शाखाएँ दिल्ली, मुंबई, कोलकाता आदि में भी स्थापित की गई। सन् 1980 के दशक में हिंसा और यौन उत्पीड़न की बढ़ती घटनाओं के कारण विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ जैसे स्त्री संघर्ष, दहेज विरोधी चेतना मंच में कर्मिका, मानुषी, जनवादी महिला समिति और शक्तिशालिनी आदि की स्थापना की गई।

भारतीय नारी के संघर्ष और उत्थान की दृष्टि से बीसवीं सदी के आखिरी पाँच दशक विशेष महत्त्व रखते हैं। शिक्षा के प्रसार के साथ ही व्यापक साक्षरता आंदोलन, सूचना प्रौद्योगिकी और संचार माध्यमों में आई क्रांति के तहत भारतीय स्त्रियों में सजगता आई है। महिलाओं की इतनी उपलब्धियों के बावजूद हमारे देश में महिलाओं की भागीदारी का प्रतिशत ज्यादा नहीं है। भूमण्डलीकरण के कारण उच्च वर्ग तथा उच्च मध्य वर्ग में मौजूद स्त्रियों की आवश्यकताएँ समाज की बहुसंख्यक आम औरतों से नितांत भिन्न है। ये बहुसंख्यक महिलाएँ आज भी अशिक्षा, अज्ञान और गरीबी से मुक्त नहीं हुई हैं उपभोक्तावाद के कारण वर्तमान समय भी शोषण का ही है। भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद के कारण स्त्री को देह और दहलीज तक सीमित होना पड़ रहा है। जहाँ स्त्री देह एक तरफ बिकाऊ हो चुका है, वहीं दूसरी तरफ स्त्री को मात्र एक वस्तु बनाने की होड़ लगी हुई है। भारत की आम महिलाओं का बहुत बड़ा हिस्सा आज भी पुरुष सत्ता के शोषण का शिकार है। पितृसत्तात्मक समाज के माहौल में पलने के दौरान लड़कियों और महिलाओं को मानसिक रूप से पीड़ित होना पड़ रहा है जिससे मुक्त होना स्त्री समाज के लिए एक नई राह पर चलने जैसा है। आज भी स्त्रियों को शोषण से मुक्त कराने के लिए और उसे वस्तु मात्र न बनने की स्थिति से बचाने के लिए संघर्ष जारी है।

अतः स्वतंत्र भारत में सन् 1960 से नारी मुक्ति आंदोलन की शुरुआत हुई और तभी से स्त्री की स्वतंत्रता और मुक्ति पर विचार करते हुए तीव्र गति से आह्वान किया जाने लगा। स्त्री मुक्ति से क्या तात्पर्य है? यदि विचार करें तो हम पाते हैं कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शारीरिक और मानसिक स्वतंत्रता से मुक्ति को ही हम स्त्री मुक्ति कहते हैं। अलग–अलग स्थितियोँ और वर्गों के अनुसार स्त्री को अपनी स्वतंत्रता और मुक्ति चाहिए। स्त्री की स्वतंत्रता और स्वच्छंदता दोनों ही भिन्न भिन्न शब्द हैं और अपने व्यापक अर्थ से समझे जा सकते हैं। दोनों में बहुत अंतर है।

इक्कीसवीं सदी में स्त्रियों ने जो आंदोलन किए उनका असर सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। नवंबर, 2000 में मणिपुर की राजधानी इंफाल में आर्म्ड फोर्सस स्पेशल पावर एक्ट के नाम पर जो अत्याचार हुए उसके खिलाफ वहाँ की महिलाओं ने अपना तीव्र आक्रोश जताया जिससे पूरे देश में काफ़ी हंगामा हुआ। मणिपुर की सशक्त महिला ईरोम शर्मिला ने सामाजिक कार्य के लिए अपने को समर्पित कर दिया। सन् 2004 में असम

राइफल्स के इलाकोई मुख्यालय के सामने राज्य की कुछ प्रतिष्ठित और बुजुर्ग महिलाओं ने बाकायदा निर्वस्त्र होकर प्रदर्शन किया। उन्होंने जो बैनर तैयार किया था उसमें लिखा था–'भारतीय सेना आओ, हम सबसे बलात्कार करो। भारतीय सैनिकों आओ हमारा माँस नोचो।'

इक्कीसवीं सदी के पहले और दूसरे दशक में स्त्रियों पर हुए गैंग रेप की खबर बहुत सुनने को मिली। बलात्कार का मामला दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। इसके खिलाफ अनेक समाज सेवी संगठनों के साथ महिलाएँ आवाज उठाती आई हैं। वे मुजरिमों को मृत्युदंड दिलाने और इंसाफ की माँग करते आए हैं। उनकी माँग है कि इस समाज में व्याप्त पुरुष वर्चस्ववादी सोच रखने वाले पुरुषों से मुक्ति चाहिए, ताकि किसी भी बच्ची, लड़की या स्त्री के साथ ऐसा हादसा न हो। समाज में महिलाओं के प्रति सम्मान की भावना को विकसित करना अति आवश्यक है। स्त्रियों को एक वस्तु के रूप में समझने वाले पुरुषों की सोच को नष्ट करना आवश्यक हो चुका है। इसके लिए भी देश में अलग-अलग स्तर पर कार्य हो रहे हैं।

एक स्त्री के जीवन में असली स्वतंत्रता तब सार्थक सिद्ध होगी जब पुरुष समाज उसके साथ हो, उसके कार्य में उसका हाथ बँटाए, सहयोग करे, आगे बढ़ाने के लिए मार्गदर्शन दे और सम्मान के साथ व्यवहार करे। उसका जो अधिकार है वह उसे प्रदान करे। घर–परिवार के कार्यों में निर्णय करने का हक दे। उसे केवल एक स्त्री, वस्तु, या काम करने वाली औरत न समझे बल्कि उसे भी अपनी तरह एक मनुष्य समझा जाए।

2.6 स्त्री विमर्श : समकालीन हिंदी साहित्य

भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और नियति की व्याख्या करना आज के दौर में और कठिन हो गया है। स्त्री विमर्श उत्तर आधुनिक युग में एक सशक्त विमर्श के रूप में सामने आया है जिसने सदियों से शोषित हो रही स्त्री को चर्चा के केन्द्र में ला खड़ा किया है। स्त्री विमर्श की गहराई से पड़ताल करें तो नारी मुक्ति के साथ–साथ इसमें नारी की अस्मिता, चेतना व स्वाभिमान आदि भी शामिल है। साहित्य में स्त्री विमर्श को लेकर अनेक लेखक, लेखिकाओं और आलोचकों ने अलग अलग तरह से अपने विचारों को स्त्री विमर्श के रूप में अपनी पुस्तकों में अभिव्यक्त किया है। साहित्य में स्त्री विमर्श को लेकर विवाद भी रहा है। इस संदर्भ में सभी विद्वानों और विचारकों का मत एक समान नहीं है। स्त्रीवादी चिंतन की दृष्टि से पितृसत्तात्मक व्यवस्था, लिंग–भेद, स्त्री–पुरुष के मध्य संरचनात्मक असमानता इसका मूल आधार है।

साहित्य में स्त्री विमर्श का अर्थ मात्र स्त्री या पुरुष द्वारा स्त्री के ही विषय में स्त्री विषयक मुद्दों में लिखा गया साहित्य नहीं है, बल्कि स्त्री जीवन की सामाजिक, पारिवारिक समस्याओं, विडंबनाओं को अभिव्यक्त करना और उस पर विचार स्त्री विमर्श है। साहित्य में स्त्री विमर्श को स्त्री विषयक आघात या स्त्री–पुरुष टकराव या स्त्रीवाद तक सीमित करना गलत समझदारी है। कुछ आलोचक स्त्री लेखन को पुरुष लेखन के समानान्तर चलने वाली धारा मानते हैं।

प्रसिद्ध कथाकार चित्रा मुद्गल कहती हैं– "स्त्री विमर्श संपूर्ण अभिव्यक्ति का दायित्व है। यदि वह बाबा नागार्जुन का स्त्री विमर्श है तो हमें मंजूर है। मैं नहीं मानती कि जो महिलाएँ

लिखेंगी, वही स्त्री विमर्श का हिस्सा होगा। लेकिन इसके साथ मेरी कुछ शर्त भी है। मेरा स्पष्ट मानना है कि कुछ पुरुष स्त्री विमर्श को गलत दिशा दे रहे हैं। वे स्वच्छंदता को स्त्री विमर्श का नाम देना चाहते हैं। विडंबना यह है कि कुछ लेखिकाएँ भी उनके बहकावें में आ रही हैं। 'स्त्री विमर्श' की दिशा हम लेखिकाएँ तय करेंगी"। (हिन्दुस्तान पत्र, 8 मार्च 2016 के साक्षात्कार में से)

मनीषा कुलश्रेष्ठ (समकालीन कथा लेखिका)के अनुसार – "स्त्री मुक्ति का सवाल स्त्रियों को अपने खुद के लिए निर्णय लेने से लेकर एक मनुष्य के रूप में आजादी से जुड़ा प्रश्न है। स्त्री मुक्ति सड़े–गले विरोधी पितृसत्तात्मक ब्राह्मणवादी व सामंती मूल्यों के प्रति विद्रोह भी है"।

विजय बहादुर जी के अनुसार – "मैं मानता हूँ स्त्री विमर्श परिवार विरोधी विमर्श नहीं है, बल्कि परिवार में स्त्री को उसका नैतिक और सामाजिक हक दिलाने वाला वैचारिक संघर्ष है। परिवार के विरूद्ध न तो 'आवां' की चित्रा मुद्गल है न 'चाक' और गुड़िया भीतर गुड़िया' की मैत्रेयी। एक ऐसा परिवार जिसमें स्त्री भी मनुष्य होकर रह सके। गीतांजलि श्री के 'माई' की बेजान 'माई' होकर नहीं। स्त्रियाँ परिवार में रहकर प्रसन्नता अनुभव करती हैं, तो उनका परिवार में रहना व सम्मान का हक पाना उचित जान पड़ता है।"

कुछ आलोचक मानते हैं कि स्त्री विमर्श आज पुरुष की सत्ता के खिलाफ एक आंदोलन है और इनका संघर्ष बदले की भावना से ग्रसित है। स्त्रियों के इस आक्रामक प्रतिशोध की भावना के संदर्भ में प्रो. नामवर सिंह कहते हैं–''कुछ लेखिकाएँ और कवयित्रियाँ स्त्री अधिकारों को लेकर बहुत उग्र दिखाई देती हैं। उनकी उग्रता से प्रतीत होता है कि वे सभी पुरुषों के खिलाफ हैं। इसका कोई अर्थ नहीं है। मैं मानता हूँ कि औरत ही पुरुष को मुक्त कर सकती है पर ऐसा वह उसमें भय पैदा करके नहीं कर सकती। स्त्री आज आक्रामक मुद्रा में है।''(स्त्री मुक्ति का सपना, संपादक अरविंद जैन, पृ. 512)

स्त्री विमर्श को एक चिंतनधारा के रूप में 20वीं शताब्दी में स्थान मिला। स्त्री विमर्श और स्त्रियों के विषय में सोचने वाले लेखकों में जॉन स्टुअर्ट मिल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यूरोप में स्त्री मुक्ति की लड़ाई लड़ने के लिए सीमोन द बोउवार सामने आईं। उन्होंने अपनी पुस्तक The Second sex से पूरे विश्व में क्रांति ला दी। सीमोन द बोउवार का यह विचार था कि पुरुष वर्चस्व के सामंती सोच के कारण ही धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़ियों ने स्त्री को समाज में दोयम दर्जा दिया है। स्त्री को अपने हक और अधिकारों की लड़ाई के लिए धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति प्राप्त करनी ही होगी। सीमोन दी बोउवार की पुस्तक The Second sex का हिन्दी अनुवाद 'स्त्री उपेक्षिता' के नाम से प्रभा खेतान ने सन् 1999 में किया था।

समकालीन दौर में लेखिकाओं ने स्त्री की अस्मिता, स्वतंत्रता और समानता के प्रश्न को प्रभावशाली ढंग से साहित्य में प्रस्तुत किया है। महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में परिवार से लेकर राष्ट्र निर्माण तक स्त्री के अर्थ, स्वातंत्र्य, सामाजिक समानता और शिक्षा आदि को सर्वोपरि माना है और इसी आधार पर प्रश्न भी उठाए हैं। स्त्री विमर्श की भारतीय दृष्टि साहित्य में प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा से लेकर मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, प्रभा खेतान, अनामिका, मृदुला गर्ग आदि लेखिकाओं की रचनाओं में देखने को मिलता है।

19 वीं शताब्दी से बीसवीं और इक्कीसवीं सदी में आते आते यदि नजर डाले तो पूरे हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श, स्त्री मुक्ति, स्त्री अस्मिता, पुरुष वर्चस्ववादी समाज और पितृसत्तात्मक व्यवस्था आदि शब्दों और इनसे जुड़े साहित्य की भरमार दिखाई देती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों को दबाने, कुचलने, मारने, अत्याचार, घृणा, उपेक्षा, शोषण आदि को झेलती हुई स्त्री ने आज परंपरा से चली आ रही समस्याओं को कथा–कहानी, कविता और अन्य गद्य विधाओं के माध्यम से लिखा है।

समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में लेखिकाओं ने अनुभवों और आस–पास की परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर प्रत्येक वर्ग(निम्न–मध्य–उच्च वर्ग), समुदाय, ब्राह्मण–क्षत्रिय, पूंजीपति वर्ग, अमीर–गरीब, गोरे–काले रंग, ग्रामीण–शहरी–महानगरी–पाश्चात्य जीवन शैली, दलित–आदिवासी, अनपढ़–शिक्षित, नौकरीपेशा–गृहिणी, विवाह की समस्या, कुंवारी माँ की समस्या, विधवाओं की समस्या, अनमेल विवाह, तलाक, विवाह–प्रेम, विवाहेतर संबंध, परंपरा–आधुनिकता, दो पीढ़ियों का द्वंद्व आदि समस्याओं और विडंबनाओं को अपने कथा साहित्य का विषय बनाया है।

आज साहित्य में लेखिकाएँ समाज में घटित होने वाली विभिन्न प्रकार की विडंबनाओं को अपने उपन्यास, कहानी और कविता में पिरोती जा रही हैं। आज समाज के भीतर जिस परिवार में आपसी संबंधों में विषमता आ गई है, जहाँ संबंध वर्चस्व और अधीनता पर आधारित होते दिखाई देते हैं, वहीं विद्रोह और बगावत की स्थिति पैदा होती है। वर्चस्वशाली वर्ग चाहे वह स्त्री हो या पुरुष अपने अधीनस्थों का शोषण और उत्पीड़न करता है। वहाँ उत्पीड़ित व्यक्ति की ओर से विद्रोह और बगावत के रूप में उस अन्याय का स्वतः प्रतिकार होता है। जब पीड़ित के लिए स्थितियाँ असहनीय हो जाती हैं तब वह कोई न कोई कदम अवश्य उठाता है। कई बार तो वह पलायनवादी या आक्रामक हो जाती हैं। स्त्री का भरोसा जब किसी व्यक्ति या सामाजिक मूल्यों से हट जाता है, तब भी वह हार नहीं मानती और वह अकेली अपने जीवन को आगे बढ़ाते हुए अपने लिए एक नये अस्तित्व की तलाश करती है। अक्सर साहित्य से हमें प्रेरणा और साहस मिलता है। स्त्री संघर्ष के संदर्भ में स्त्रीवाद और स्त्री विमर्श प्रतिरोध को वैचारिक बल प्रदान करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाता है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक महिला कथाकारों में मन्नू भंडारी, उशा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, कृष्णा सोबती, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, चित्रा मुद्‍गल, मैत्रेयी पुष्पा, सूर्यबाला, गीताजंलि श्री, मनीषा कुलश्रेष्ठ, अल्पना मिश्र, गीता श्री, वंदना राग आदि अनेक लेखिकाओं की रचनाओं में उनके जीवनानुभवों से उभरे स्वर साहित्य में दिखाई देते हैं। आज स्त्री विमर्श साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में किया जाने लगा है जिससे आत्मकथा, कहानी और कविता भी अछूती नहीं है। स्त्री विमर्श मुख्य धारा के साहित्य से लेकर दलित स्त्री विमर्श, आदिवासी स्त्री विमर्श, मुस्लिम स्त्री विमर्श आदि के रूप में अनेक तरह से साहित्य में पढ़ा और समझा जा रहा है।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा के क्षेत्र में लेखिकाओं द्वारा अधिक स्त्री विमर्श देखने को मिलता है। स्त्री विमर्श से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण लेखिकाओं के उपन्यास इस प्रकार है– कृष्णा सोबती (मित्रो मरजानी, ऐ लड़की, सूरजमुखी अंधेरे के, दिलो दानिश), प्रभा खेतान (छिन्नमस्ता, पीली आंधी, आओ पेपे घर चलें), मैत्रेयी पुष्पा (अल्मा कबूतरी, इदन्नमम, चाक), मृदुला गर्ग(चित्तकोबरा, कठगुलाब, अनित्य), चित्रा मुद्‍गल(आवां, एक जमीन अपनी),

अनामिका (दस द्वारे का पिंजरा, तिनका तिनके पास), मंजुल भगत (अनारो) गीतांजलि श्री (तिरोहित, खाली जगह, माई), ममता कालिया (बेघर, एक पत्नी के नोट्स, नरक दर नरक) आदि अनेक उपन्यास हैं।

समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श से संबंधित आत्मकथाओं में प्रमुख लेखिकाओं में कुसुम अंसल (जो कहा नहीं गया), मैत्रेयी पुष्पा (कस्तूरी कुंडल बसै, गुड़िया भीतर गुड़िया), रमणिका गुप्ता(हादसे, आपहुदरी), प्रभा खेतान (अन्या से अनन्या), चंद्र किरण सौनरेक्सा (पिंजरे की मैना), कौशल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप), सुशीला टाकभौरे (शिकंजे का दर्द) आदि प्रमुख हैं। इसी तरह से कविता और कहानी के क्षेत्र में अनेक स्त्री विमर्श से संबंधित रचनाएँ उपलब्ध हैं।

आज स्त्री विमर्श पहले की तरह नहीं रहा बल्कि आज यह भूमंडलीकरण और संचार क्रांति से उत्पन्न हुई नई–नई समस्याओं को लेकर चलता है। स्त्रीवादी लेखन का अर्थ केवल स्त्री के संबंध में या स्त्री द्वारा लिखा गया लेखन तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह उन तमाम मुद्दों पर भी बहस करती है जिन पर स्त्री अपनी बातों को प्रकट करती है। स्त्री की भावना, इच्छा, आकांक्षा जो पुरुषों द्वारा दबाई जा रही हैं उन स्थितियों के खिलाफ स्त्रियों द्वारा संघर्ष भी स्त्रीवादी लेखन के अंतर्गत आता है।

समकालीन स्त्री विमर्श का मुद्दा केवल स्त्री जीवन और उस जीवन की समस्याएँ हैं। स्त्री विमर्श का मूल उद्देश्य स्त्री की मुक्ति से है। स्त्री पुरुष से मुक्ति नहीं चाहती वह तो केवल उस व्याख्या और मानसिकता से मुक्ति चाहती है जो उसे प्रताड़ित करती है।

बोध प्रश्न

1. विश्व में किस देश से सर्वप्रथम स्त्री आंदोलन की शुरुआत हुई?

   (क) फ्रांस (ख) भारत (ग) न्यूयार्क (घ) ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका

2. राजा राममोहन राय ने किस समाज की स्थापना की?

   (क) ब्रह्म समाज (ख) प्रार्थना समाज (ग) आर्य समाज (घ) स्त्री मुक्ति समाज

3. प्रार्थना समाज के संस्थापक कौन हैं?

   (क) स्वामी दयानंद सरस्वती (ख) रामकृष्ण परहंस (ग) ज्योतिबा फुले (घ) केशव चंद्र सेन

4. 'शृंखला की कड़ियाँ' किताब किसने लिखी?

   (क) राधा कुमार (ख) प्रभा खेतान (ग) अनामिका (घ) महादेवी वर्मा

5. 'स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।' किसका कथन है?

   (क) मीराबाई (ख) मेरी वोल्सन क्राफ्ट (ग) सीमोन द बोउवार (घ) अनामिका

6. 'स्त्री उपेक्षिता' पुस्तक की अनुवादक कौन है?

   (क) मैत्रेयी पुष्पा (ख) प्रभा खेतान (ग) मीनाक्षी (घ) सीमोन द बोउवार

7. किन्हीं चार समाज सुधारकों के नाम लिखिए।

....

....

8. नवजागरण काल में कौन–कौन से स्त्री संबंधी सुधार कार्य हुए?

....

....

9. पाश्चात्य स्त्रीवादी प्रमुख महिलाओं के नाम लिखिए?

....

....

10. देश के लिए बलिदान देने वाली भारतीय वीरांगनाओं के नाम लिखिए।

....

....

11. स्त्री विमर्श से संबंधित चार समकालीन महिला लेखिकाओं के नाम लिखिए।

....

....

12. स्त्री विमर्श से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

....

13. स्त्री विमर्श के उद्देश्य लिखिए।

....

....

....

....

....

....

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

14. स्त्री विमर्श के स्वरूप को 100 शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

15. भारतीय स्त्री मुक्ति आंदोलन को 300 शब्दों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत 'स्त्री विमर्श : अवधारणा और मुक्ति आंदोलन' के पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ को संक्षिप्त में समझाया गया है। इस इकाई को मुख्य रूप से 6 बिंदुओं के आधार पर तैयार किया गया है। सर्वप्रथम प्रस्तावना में स्त्री विमर्श के आधारभूत कारणों को बताया गया है। आगे इस क्रम में स्त्री विमर्श की अवधारणा, उसका अर्थ, स्वरूप और स्त्री विमर्श की परिभाषा तथा स्त्री विमर्श के उद्देश्य को समझाया गया है। अगले बिंदु के अंतर्गत स्त्री विमर्श के ऐतिहासिक कारणों से रूबरू करवाने के लिए स्त्री विमर्श के पाश्चात्य संदर्भों को चार चरणों में समझाया गया है। पहले चरण में अमेरिका और यूरोप की महिलाओं ने मताधिकार, उच्च शिक्षा का अधिकार, रोजगार का अधिकार, विवाहित महिला की सम्पत्ति का

अधिकार, प्रजनन नियंत्रण और समान वैवाहिक कानून की माँग को लेकर आंदोलन किए। दूसरे चरण में प्रजनन के अधिकार, घरेलू हिंसा, बलात्कार, स्वतंत्रता, कार्यस्थल पर सुरक्षा आदि मुद्दों पर आवाज़ उठाई गई और आंदोलन भी किए गए। तीसरे चरण में स्त्रियों पर हो रहे शोषण, बलात्कार, भेदभाव और स्त्री सशक्तीकरण आदि विषयों पर चर्चा की गई। और इन्हीं कारणों से स्त्री आंदोलन तीव्र गति से आगे बढ़ने लगा। तीसरे चरण में संचार क्रांति के परिणामस्वरूप कम्प्यूटर एवं इंटरनेट के कारण पूरा विश्व एक ग्लोबल विलेज बन गया। संचार क्रांति के आ जाने से पूरे विश्व की औरतें अपनी बातों को एक देश से दूसरे देश तक पहुँचाने लगीं। स्त्रियों और समाज सुधारकों को एक दूसरे देश की समस्याओं, उनकी माँगे और आंदोलनों के बारे में जानकारी भी मिलने लगी, जिससे स्त्रियों में चेतना का स्तर और आंदोलन का स्तर तीव्र गति से बढ़ा और अंतिम चौथा चरण आज का युग है जिसे हम भली भांति जानते हैं। इस चौथे चरण में होने वाली वर्तमान समय की समस्याओं को भी उजागर किया गया है। इंटरनेट की वजह से आज साइबर क्राइम बढ़ा है। इसमें भी लड़कियाँ और स्त्रियाँ ही इसकी शिकार अधिक हुई हैं। यह भी स्त्री विमर्श का एक नया दौर है।

इस इकाई के चौथे बिंदु के अंतर्गत स्त्री विमर्श के भारतीय संदर्भ को समझाया गया है। हमारे देश में स्त्री का जो इतिहास रहा है और उस प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक के लम्बे इतिहास को पाँच बिंदुओं के आधार पर संक्षिप्त में बताया गया है। प्राचीन काल, मध्यकाल, नवजागरण काल और आधुनिक काल में विभक्त कर बताया गया है। प्राचीनकाल में स्त्री का वर्चस्व रहा, उस समय मातृसत्ता चलती थी। वैदिक युग में स्त्री की स्थिति सुदृढ़ रही। इस युग में वेदों की शिक्षा, यज्ञ, उपासना, विवाह के लिए वर चुनने की स्वतंत्रता स्त्रियों को थी किन्तु उत्तर वैदिक काल में आते–आते स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आने लगे और पुरुष सत्ता शक्तिसम्पन्न होने लगी। इस युग में लिखे गए धर्मग्रंथों और मनुस्मृति के कठोर धार्मिक नियमों, अनेकों रूढ़िवादी प्रथाओं और परंपराओं का निर्माण किया गया और इसकी शिकार स्त्री होती चली गई। मध्यकाल में इन रूढ़िवादी प्रथाओं और परंपराओं से मुक्त होने के लिए धार्मिक विचारों का सहारा लिया जाने लगा, किन्तु उसका भी कोई असर नहीं हुआ। परिणामस्वरूप कुछ स्त्रियाँ पुरुष सत्ता का विरोध करती हुई विद्रोही बनकर अपने गृहस्थ आश्रम का त्याग कर संन्यासी बनने लगीं। आगे बौद्ध धर्म आया और उन्होंने भी स्त्रियों के भीतर चेतना जगाने का कार्य किया। आगे मुसलमानों का शासन काल आया और स्त्रियाँ और अधिक गुलाम बन गईं। इसी युग में बाल विवाह, बहुपत्नी विवाह, सती प्रथा जैसी कुप्रथाओं का निर्माण हुआ और स्त्रियों का जीवन कष्टप्रद बनता चला गया। आगे अंग्रेजों ने देश पर कब्जा कर लिया और उसके बाद नवजागरण काल आया। इस समय स्त्रियों की समस्याओं और स्थितियों को सुधारने के लिए अनेक महापुरुषों ने अपना योगदान दिया। अनेक समाज सुधारकों ने नये–नये समाज की स्थापना की। जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि। इन सभी समाजों के प्रमुख समाज सुधारकों ने बाल विवाह, सती प्रथा, बहु पत्नी प्रथा को समाप्त करने और विधवा पुर्नविवाह करने, स्त्री शिक्षा आदि पर जोर देने का कार्य किया। नवजागरण काल में अनेक सुधार कार्य हुए और स्त्रियों में जागृति भी आई। इकाई के पाँचवे बिंदु के अंतर्गत स्त्री मुक्ति आंदोलन के पाश्चात्य और भारतीय संदर्भों को समझाया गया है। किस प्रकार स्त्रियों ने अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाई और अपने स्त्री समुदाय के लिए आंदोलनों के माध्यम से संघर्ष किया इसकी जानकारी इस बिंदु में दी गई है।

इकाई के अंतिम बिंदु में स्त्री विमर्श को समकालीन हिन्दी साहित्य के अंतर्गत बताया गया है। हिन्दी साहित्य में बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों और इक्कीसवी सदी के प्रथम दशक में स्त्री विमर्श बहुत अधिक चर्चा का विषय बना हुआ था। अभी भी सामान्य रूप से यह चर्चा का विषय बना हुआ है। यहाँ पर स्त्री विमर्श से संबंधित कुछ महिला रचनाकारों के नाम दिए जा रहे हैं जिनकी रचनाओं में स्त्री विमर्श बहुत हुए हैं जिससे इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में किस प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं।

अतः इस इकाई के माध्यम से आप स्त्री विमर्श और स्त्री मुक्ति आंदोलन को पाश्चात्य और भारतीय संदर्भ में जान गए होंगे। अधिक अध्ययन के लिए सहायक पाठ्य सामग्री की सूची में से आप और अधिक अध्ययन कर जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. स्त्री विमर्श से आप क्या समझते हैं? लिखिए।
2. स्त्री विमर्श की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. स्त्री विमर्श की दृष्टि से नवजागरण काल का क्या योगदान रहा है? लिखिए।
4. स्त्री विमर्श के भारतीय संदर्भ पर प्रकाश डालिए।
5. स्त्री विमर्श के पाश्चात्य संदर्भ में किन बातों पर विशेष जोर दिया गया है? लिखिए।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

1. स्त्री विमर्श की उत्तर गाथा, अनामिका सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।
2. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।
3. स्त्री उपेक्षिता, अनुवाद–प्रभा खेतान, हिन्दी पाकेट बुक्स, नई दिल्ली।
4. शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा
5. स्त्री पुरुष तुलना, तारा बाई शिंदे
6. स्त्री, परंपरा और आधुनिकता, राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।
7. नारीवाद के विविध परिप्रेक्ष्य, गीता चावड़ा, अनुवाद रामगोपाल सिंह, शांति प्रकाशन, अहमदाबाद।
8. स्त्री–अधिकारों का औचित्य–साधन, अनुवाद–मीनाक्षी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कास्तवार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. बाजार के बीच बाजार के खिलाफ– प्रभा खेतान
11. स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका
12. परिधि पर स्त्री– मृणाल पाण्डे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (घ) ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका
2. (क) ब्रह्म समाज
3. (घ) केशव चंद्र सेन
4. (घ) महादेवी वर्मा
5. (ग) सीमोन द बोउवार
6. (ख) प्रभा खेतान
7. राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब आंबेडकर।
8. सती प्रथा का अंत, बाल विवाह के प्रति विद्रोह, स्त्री शिक्षा को बढ़ावा, विधवा पुर्नविवाह आदि।
9. मेरी वोल्सन क्राफ्ट, वर्जिनिया वुल्फ, सीमोन द बोउवार।
10. रानी लक्ष्मीबाई, झलकारी बाई, जीजाबाई, हजरत महल।
11. नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग।
12. 2.3 देखिए।
13. 2.3.3 देखिए।
14. 2.3.1 देखिए।
15. 2.5.2 देखिए।

इकाई 3 आदिवासी विमर्श : अवधारणा और आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 अस्मितामूलक विमर्श और आदिवासी

3.3 आदिवासी साहित्य की अवधारणा

3.4 आदिवासी चिंतकों का नजरिया

3.5 आदिवासी विमर्श की परंपरा

3.5.1 पुरखा साहित्य

3.5.2 आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य की परंपरा

3.5.3 समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन

3.6 आदिवासी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

3.7 आदिवासी साहित्य की वैचारिकी

3.8 आदिवासी साहित्य की भाषा और शिल्प

3.9 सारांश

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- अस्मितामूलक विमर्शों में आदिवासी विमर्श के स्थान को समझ सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य विमर्श की परंपरा से परिचित हो सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य की अवधारणा को समझ सकेंगे;
- आदिवासी लेखन की प्रवृत्तियों से परिचित हो सकेंगे;
- आदिवासी लेखन के महत्त्व से रूबरू हो सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य की वैचारिकी को जान सकेंगे;
- आदिवासी साहित्य की भाषा के स्वरूप को विश्लेषित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

हिंदी में पिछले दो–तीन दशकों से अस्मितावादी लेखन चर्चा का विषय बना हुआ है। यही दौर है जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी आदि उत्पीड़ित अस्मिताओं ने साहित्य में बढ़–चढ़कर

हिस्सेदारी की व साहित्यिक आंदोलन चलाए। आदिवासी विमर्श और आंदोलन इनमें नवीनतम है। इन आंदोलनों ने साहित्य को नई धारा दी और समाज को नई दिशा प्रदान की। आदिवासी साहित्य आने से पहले बाहरी समाज आदिवासी दुनिया के बारे में बहुत कम जानता था। आदिवासी लेखन ने साहित्य जगत को एक नई विश्वदृष्टि दी, नए आयाम दिये। इस इकाई में हम आदिवासी विमर्श की अवधारणा और आंदोलन को आपको समझाने का प्रयास कर रहे हैं।

3.2 अस्मितामूलक विमर्श और आदिवासी

पिछले दशकों में मुक्तिकामी साहित्य ने पाठकों, शोधार्थियों और आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया है। इसी प्रक्रिया में आदिवासी साहित्य ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। अकादमिक दुनिया में स्त्रीवादी लेखन और दलित लेखन के बाद आने से जहाँ एक तरफ आदिवासी लेखन की राह थोड़ी आसान हुई, वहीं इसके बारे में कुछ सरलीकरणों और भ्रमों का निर्माण भी हुआ। आदिवासी लेखन और साहित्य के बारे में सही समझ बनाने के लिए इसकी स्रोत सामग्री और उसके आधार पर बनने वाली आदिवासी साहित्य की परंपरा की पड़ताल करनी बहुत जरूरी है। साथ ही आदिवासी साहित्य की विचारधारा पर भी बात करनी आवश्यक है। जब हम आदिवासी साहित्य की परंपरा और विचारधारा का व्यवस्थित अध्ययन करेंगे तो उसकी प्रवृत्तियों को भी समझ पायेंगे। जाहिर है मुक्तिकामी विमर्शों के दौर में इन विमर्शों और अस्मिताओं से संबंधित साहित्य की सही परंपरा और प्रवृत्तियों के अध्ययन के माध्यम से ही हम मूल्यांकन की सही प्रविधि निर्मित कर पायेंगे।

3.3 आदिवासी साहित्य की अवधारणा

आदिवासी साहित्य के अध्येता प्रो. वीर भारत तलवार ने तद्भव–34 में छपे अपने लेख में आदिवासी संबंधी साहित्य की चार श्रेणियाँ बनाई हैं– '1. कुछ ऐसे लेखक हैं जो आदिवासी समाज के बारे में बहुत कम और सतही जानकारी रखते हैं और साथ ही अपने सवर्ण हिंदू संस्कारों से ग्रस्त हैं, अपने सामाजिक–सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं और उसी दृष्टि से आदिवासी समाज को चित्रित करते हैं। 2. दूसरी श्रेणी उन लेखकों की है जो लंबे समय से आदिवासियों के करीब रहते आए हैं और उनसे पूरी सहानुभूति रखते हैं, उनके समाज से थोड़ा–बहुत वाकिफ भी हैं। इनकी मुख्य प्रवृत्ति आदिवासियों के दमन, शोषण और उत्पीड़न को चित्रित करने और उनकी आर्थिक राजनीतिक समस्याओं को उठाने की है। 3. उन लेखकों का साहित्य जो आदिवासियों के बीच लंबे समय तक रहे हैं, जिन्होंने उनका अच्छा और बुरा देखा है और उनकी प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास किया है। और 4. चौथी श्रेणी खुद आदिवासियों द्वारा लिखे साहित्य की है। वह उन्होंने अपनी मूल भाषाओं में लिखा हो या हिंदी, बांग्ला या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में, इससे फर्क नहीं पड़ता।' इन चार श्रेणियों में से वीर भारत तलवार चौथी श्रेणी को ही प्रामाणिक आदिवासी साहित्य मानते हैं और शेष तीन श्रेणियों को आदिवासी संबंधी साहित्य। चौथी श्रेणी, यानी स्वयं आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य के बारे में वे लिखते हैं, ''इसकी गुणवत्ता बिल्कुल अलग किस्म की है। आदिवासियों के जीवन और समाज के सच्चे चित्र यहीं मिलते हैं।''

आदिवासी साहित्य के नाम पर मुख्यतः तीन तरह का साहित्य हमारे सामने है :

- आदिवासियों के बारे में लिखा गया साहित्य।
- आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य।
- आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य।

आदिवासियों के बारे में लिखे गए साहित्य का आदिवासी साहित्य के रूप में दावा करना सहज है इसीलिए शोधार्थी अक्सर रेणु के 'मैला आंचल' के संथाल प्रसंग या योगेन्द्रनाथ सिन्हा के 'वनलक्ष्मी' से आदिवासी साहित्य की शुरुआत मान लेते हैं। कुछ लोग तो तुलसीदास के रामचरितमानस में आए वन के प्रसंगों को भी आदिवासी साहित्य में मान लेते हैं और इसी दृष्टि से विश्लेषण करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि जहाँ भी वन, जंगल या किसी आदिवासी समुदाय का जिक्र आ जाता है, उसे ही आदिवासी साहित्य मान लिया जाता है और इससे 20वीं सदी के आखिरी दशक में प्रमुखता से उभरे आदिवासी साहित्य के आंदोलन के बारे में भ्रमों का निर्माण होता चला जाता है। आदिवासी चिंतक हिंदी साहित्य में आए वन या आदिवासी प्रसंगों को आदिवासी साहित्य मानने से इनकार करते हैं।

इस तरह आदिवासी साहित्य के बारे में दूसरा विचार सामने आता है– आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। यह विचार स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य के प्रभाव में निर्मित हुआ है। जाहिर है इस तर्क की अपनी सीमाएँ हैं। अनुभूति की प्रामाणिकता किसी साहित्य का एकमात्र आधार नहीं हो सकती। आज जब आदिवासी समाज गहरे सांस्कृतिक हमलों से गुजर रहा है, ऐसे में आदिवासी समाज का सच लिखने के लिए केवल किसी समुदाय में पैदा हो जाना काफी नहीं है। आदिवासी समुदायों का बड़ी संख्या में हिंदूकरण और ईसाईकरण हुआ है। इसने उनकी मौलिक समझ और दर्शन को बहुत प्रभावित किया है।

इस प्रक्रिया में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर तीसरा विचार सामने आता है कि आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य माना जाए। जाहिर है आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। यह आदिवासी जीवन का मूल है और जिस पर चौतरफा हमले हो रहे हैं इसलिए जहाँ आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय है। निष्कर्षतः आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर आधारित साहित्यिक आंदोलन है जो आदिवासी परंपरा से अपने तत्व लेता है और 21वीं सदी के पहले दशक में अकादमिक जगत में अपना अलग साहित्यिक आंदोलन होने का दावा प्रस्तुत करता है। समकालीन आदिवासी लेखन की शुरुआत हमें उदारवाद, बाजारवाद और भूमंडलीकरण के उभार से माननी चाहिए। भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण–उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए इसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक उर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा का नाम ही समकालीन आदिवासी साहित्य आंदोलन है। आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किये गए और किये जा

रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्‌घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।

आदिवासियों ने किसी कौम पर राज करने के लिए नहीं, लेकिन अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार–बार विद्रोह किया है। पिछली दो सदियाँ आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज में हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखौती कहा जाता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेढ़ सौ साल पहले और संताली आदि मध्य भारतीय आदिवासी भाषाओं में 1950 के आसपास से आदिवासी कलम ने अपने स्वरों को शब्दों में ढालना शुरू किया। आजादी के बाद जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से साहित्य तक में आदिवासी चेतना की गूंज सुनाई देने लगी। बाद के आदिवासी लेखन को उसी के विकास के रूप में देखा जा सकता है। पुरखौती रूप में मौजूद आदिवासी साहित्य जहाँ प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है, वहीं समकालीन आदिवासी लेखन अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किये गए और किये जा रहे शोषण के विविध रूपों के उद्‌घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य है।

आदिवासी साहित्य विविधताओं से भरा हुआ है। समृद्ध मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ आदिवासी साहित्यकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केन्द्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन केन्द्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' में नहीं, समूह में विश्वास करता है। अधिकांश आदिवासी समुदायों में काफी समय बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएँ घर नहीं कर पाईं। परंपरा, संस्कृति, इतिहास, कला से लेकर विद्रोह तक, सब कुछ सामूहिक है और समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है। आदिवासी साहित्य बिरसा, सिदो–कान्हू, सिनगी दई, फूलो झानो, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और तमाम आदिवासी पुरखों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा लेकर आगे बढ़ रहा है।

3.4 आदिवासी चिंतकों का नजरिया

आदिवासी साहित्य के नाम पर किये जा रहे शोधों में से काफी मात्रा में ऐसे भी हैं जिनका आदिवासी समाज और साहित्य से कोई सीधा संबंध ही नहीं बनता। वस्तुस्थिति यह है कि आदिवासी जीवन और समाज पर गैर–आदिवासी रचनाकारों के कहानी–उपन्यास प्रशंसा, पाठ्यक्रम और पुरस्कार पा रहे हैं तथा दो–एक आदिवासी रचनाकारों को छोड़कर सैंकड़ों की संख्या में सक्रिय आदिवासी कवि–लेखक उपेक्षा के शिकार हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा और बुनियादी सवालों को उठाने की दृष्टि से पिछले वर्षों में हुई दो गोष्ठियाँ बड़ी

महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से एक दिल्ली में हुई और दूसरी रांची में। जुलाई 2013 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आदिवासी साहित्य पर हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में संभवतः पहली बार खुले तौर पर झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा (रांची) की संयोजक और आदिवासी रचनाकार वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य की अवधारणा के सवाल को मुखरता से उठाया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कुछ समय के साथ या सुनी–सुनाई बातों से आदिवासी जीवन का सच प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मुख्यधारा की सोच, भाषा और दृष्टिकोण से आदिवासी जीवन पर किया लेखन रिसर्च हो सकता है, लेकिन आदिवासी साहित्य नहीं। आदिवासी ही अपनी पीड़ा को सही ढंग से बयान कर सकता है। उसकी समस्याएँ प्रधानतः आर्थिक नहीं हैं, जैसा कि अधिकांश रचनाकारों ने चित्रित किया है। इसके बाद वाले सत्र में वंदना टेटे द्वारा उठाये गए सवालों पर कथाकार संजीव सहित आदिवासी जीवन पर लिखने वाले कई गैर–आदिवासी रचनाकारों द्वारा असहमति जताते हुए प्रतिक्रिया दी गई।

वंदना टेटे ने आदिवासी साहित्य संबंधी अपने चिंतन को व्यवस्थित रूप से अपनी पुस्तक 'आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन' में रखा है। आदिवासी साहित्य के संवर्द्धन के लिए निजी प्रयासों से संचालित प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन से प्रकाशित यह पुस्तक आदिवासी जीवन, भाषा, कला, संस्कृति और साहित्य के बारे में फैलाये जा रहे भ्रमों को तोड़ते आदिवासी नजरिए से आदिवासी साहित्य और आदिवासी विश्वदृष्टि के बारे में सही समझ विकसित करने की दिशा में सार्थक हस्तक्षेप है। इसमें वंदना टेटे आदिवासी साहित्य संबंधी प्रचलित तीन धारणाओं– उसके लोक साहित्य होने, अनगढ़ होने और प्रतिरोध का साहित्य होने का खंडन करती हैं तथा आदिवासी संस्कृति, जीवन–दर्शन व उनके विश्वदृष्टिकोण के प्रति एक नई अंतरंग दृष्टि की माँग करती हैं। वे लोक का संबंध हिंदू मिथक और संस्कृति से बताते हुए कहती हैं, ''प्रकृति–पूजक और बोंगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिंदू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बांध कर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है।''

वे लोक और शिष्ट के विभाजन से भी अपनी असहमति दर्ज कराती हैं। इसी तरह आदिवासी साहित्य और कलाओं को हिंदी आलोचकों द्वारा अनगढ़ बताने को सीधे–सीधे आदिवासी सामूहिकता, सहजीविता और सहअस्तित्व के दर्शन को वैचारिक रूप से नकारना मानती हैं। पुस्तक में वंदना टेटे की सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि आदिवासी साहित्य अन्य शोषितों के साहित्य की तरह वेदना और प्रतिरोध का साहित्य नहीं है। वे लिखती हैं, ''आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़–चेतन, सभी कुछ सुंदर है।... वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।'' वंदना टेटे कहती हैं कि प्रतिरोध का साहित्य वर्तमान सत्ता के खिलाफ लड़ने वालों की सत्ता स्थापित करना चाहता है लेकिन आदिवासी साहित्य में ऐसी कोई कामना दूर–दूर तक नहीं है।

इन स्थापनाओं के आलोक में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को ठीक से समझने की आवश्यकता है। हमें स्पष्ट रखना होगा कि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है इसलिए हमें इस आग्रह को छोड़ना होगा कि हिंदी में लिखे साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानेंगे, आदिवासी भाषाओं में लिखे साहित्य को आदिवासी साहित्य नहीं मानेंगे। आदिवासी साहित्य की परंपरा में हमें विभिन्न आदिवासी भाषाओं में बिखरे लाखों आदिवासी गीतों के रूप में उपलब्ध पुरखौती को शामिल करना होगा जिसका कुछ हिस्सा डब्ल्यू. सी.

आर्चर जैसे विद्वानों द्वारा संकलित भी किया गया है। यह आदिवासी साहित्य का मूलाधार है। इसलिए आदिवासी साहित्य का इतिहास लिखते वक्त, उसकी प्रवृत्तियाँ बताते वक्त हमें संताली, मुंडारी, खड़िया, कुडुख, हो आदि भाषाओं की साहित्य परंपरा को सामने रखना होगा।

बोध प्रश्न 1

1. आदिवासी साहित्य के नाम पर मुख्यतः किस तरह का साहित्य हमारे सामने हैं?

   (क) आदिवासियों के बारे में लिखा गया साहित्य

   (ख) आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य

   (ग) आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिया गया साहित्य

   (घ) उपर्युक्त सभी

2. पुरखौती रूप में मौजूद आदिवासी साहित्य है?

   (क) प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचान और बचान का साहित्य।

   (ख) आदिवासी अस्मिता की खोज और आस्तित्व के संकटों के खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य

   (ग) दिकुओं द्वारा किये गये और किये जा रहे शोषण के विधि रूपों के उद्‌घाटन का साहित्य

   (घ) उपर्युक्त सभी

3.5 आदिवासी विमर्श की परंपरा

आदिवासी साहित्य की परंपरा की पड़ताल करने के लिए आदिवासी साहित्य के स्रोतों का अध्ययन जरूरी है। सबसे पहले यह रेखांकित करना जरूरी है कि हमें साहित्य के पूर्व निर्धारित प्रतिमानों और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इस विषय पर विचार करना चाहिए। हमारी परंपरागत समझ यह है कि किसी महानगर के किसी वर्चस्वशाली भाषा के ज्ञात प्रकाशक के यहाँ से मुद्रित–प्रकाशित, पुरस्कृत, प्रशंसित, पाठ्यक्रम में शामिल हो चुकी किताब ही श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य की किताबें अक्सर इसी प्रक्रिया में चर्चित हुआ करती हैं। आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर विचार करते वक्त हमें इस परिपाटी को छोड़ना होगा। तभी हम आदिवासी साहित्य की सही स्रोत सामग्री का चयन कर पायेंगे और इसकी परंपरा की पड़ताल कर पायेंगे। आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य और मौखिक परंपरा आदिवासी साहित्य का मूल स्रोत है। सिर्फ हिंदी में लिखित–मुद्रित आदिवासी संबंधी लेखन को आदिवासी साहित्य कहना उचित नहीं है। मौखिक साहित्य इसका मूलाधार है। आदिवासी साहित्य की परंपरा को तीन भागों में बाँटकर समझा जा सकता है :

1. पुरखा साहित्य
2. आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य की परंपरा।
3. समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन।

3.5.1 पुरखा साहित्य

आदिवासी दर्शन व साहित्य का मूलाधार पुरखा साहित्य ही है। पुरखा साहित्य आदिवासी समाज में हजारों वर्षों से जारी मौखिक साहित्य की परंपरा है। 20वीं सदी में इसके संकलन, संपादन और प्रकाशन के कार्य भी हुए हैं। आदिवासी चिंतक इस मौखिक परंपरा को मौखिक साहित्य या लोक–साहित्य कहने के बजाय पुरखा साहित्य कहते हैं। इसके पीछे महत्त्वपूर्ण तर्क हैं। पहली बात तो यह कि मौखिक साहित्य कहने से कुछ पता नहीं चलता कि किसका मौखिक साहित्य, कैसा मौखिक साहित्य? दुनिया के तमाम समाजों में लिखित से पहले मौखिक साहित्य की परंपरा रही है। उससे अलगाने के लिए आदिवासी चिंतक आदिवासी मौखिक परंपरा को पुरखा साहित्य कहते हैं। इस प्रक्रिया में वे इसे लोक साहित्य से भी अलग बताते हैं। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक वंदना टेटे लिखती हैं कि चूंकि आदिवासी समाज में बाहरी समाज की तरह लोक और शास्त्र का भेद नहीं है, इसलिए साहित्य को भी नहीं बाँटा जा सकता। चूंकि आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्त्व है और मौखिक परंपरा में मिलने वाले गीत, कथाएँ आदि भी पुरखों ने ही रची हैं, इसलिए इस मौखिक परंपरा को सम्मिलित रूप में पुरखा साहित्य कहना चाहिए।

तमाम आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की समृद्ध परंपरा मौजूद है। इसी के माध्यम से हम उनके जीवन–दर्शन, ज्ञान परंपरा, मूल्यों–विश्वासों आदि को जान सकते हैं इसलिए आदिवासी जीवन को जानने के लिए पुरखा साहित्य को संकलित करना और सहेजना बहुत जरूरी है। इस दिशा में अध्येताओं ने थोड़ा बहुत कार्य किया है लेकिन काफी काम किया जाना बाकी है। देश में 300 से अधिक आदिवासी भाषाओं में पुरखा साहित्य की परंपरा बिखरी पड़ी है। इसके संकलन और संपादन में बहुत सावधानी की जरूरत है। अक्सर हम अपने पूर्वाग्रहों के साथ संकलन शुरू करते हैं और हमारे पूर्वाग्रह पाठ संशोधन के बीच में घुस जाते हैं। संकलन के लिए आदिवासी दर्शन और संबंधित भाषा का ज्ञान जरूरी है।

उपलब्ध पुरखा साहित्य में दो–तीन विशेषताएँ कॉमन हैं– पुरखों के प्रति कृतज्ञता का भाव, प्रकृति और प्रेम के प्रति गहरी संवेदनशीलता, बाहरी समाज के हमलों के प्रति सजगता, अपनी परंपरा और संस्कृति को बचाने का भाव आदि। आदिवासियों पर बाहरी समाजों के हमलों का इतिहास काफी पुराना है और उतनी ही पुरानी है उसके प्रति आदिवासी पुरखों की सजगता। उदाहरण स्वरूप एक गीत देखिए :

''रास्ते में एक जोड़ा जो लूदम फूल है
उस फूल को ऐ बेटी, किसने तोड़ लिया?
रास्ते में अटल फूल की जो कतार है
हे बेटी, किसने छिनगा लिया?
चमचमाते हुए शिकारी
शिकारियों ने फूल तोड़ लिया
झलकते हुए अहेरी
अहेरियों ने डाल को छिनगा दिया
शिकारियों ने जो फूल को तोड़ा

हे बेटी, चोटी से ही तोड़ लिया।
अहेरियों ने जो डाल को छिनगा दिया
सो हे बेटी, नीचे से ही छिनगा दिया!
शिकारियों ने जो फूल को तोड़ा
हे बेटी, उसकी फुनगी मुरझा गई
अहेरियों ने जो छिनगा दिया,
हे बेटी, उसका तना कुम्हला गया!''
बांसुरी बज रही है

(मुंडारी गीतों का संकलन)– जगदीश त्रिगुणायत

उपर्युक्त गीत एक मुंडारी पुरखा गीत का हिंदी अनुवाद है। तमाम आदिवासी भाषाओं में इस तरह की सामग्री बिखरी पड़ी है। जरूरत है उसके प्रति सही दृष्टिकोण विकसित करने और उसे सहेजने की ताकि आदिवासी दर्शन और साहित्य की सही परंपरा से वाकिफ हो सकें।

3.5.2 आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य की परंपरा

आदिवासी भाषाओं में लिपियाँ विकसित होने की शुरुआत अब से लगभग डेढ़ सौ साल पहले हो गई। अब तक एक दर्जन से अधिक आदिवासी भाषाओं की लिपियाँ तैयार हो चुकी हैं। कई आदिवासी भाषाओं ने पड़ोस की किसी बड़ी भाषा की लिपि को स्वीकार कर लिया है। निष्कर्षतः आदिवासी भाषाओं में लेखन और मुद्रण की परंपरा भी सौ साल से अधिक पुरानी है। इस परंपरा की और पड़ताल किये जाने की जरूरत है। मौजूदा स्रोत सामग्री के अनुसार मेन्नस ओड़ेय का 'मतुराअ कहनि' नामक मुंडारी उपन्यास पहला आदिवासी उपन्यास है। यह 20वीं सदी के दूसरे दशक में लिखा गया। इसके एक भाग का अनुवाद हिंदी में 'चलो चाय बागान' शीर्षक से किया गया।

आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य का महत्त्व यह है कि इसमें विधाएँ भले ही बाहरी समाजों और भाषाओं से ली गई हैं लेकिन चूंकि रचनाकार अपनी मातृभाषा में लिख रहा है इसलिए अभिव्यक्त विचार और दर्शन में मौलिकता बनी रहती है। पूर्वोत्तर की खासी, गारो आदि भाषाओं में शौर्यगाथाओं की लंबी परंपरा है। धीरे–धीरे हिंदी आदि अन्य भाषाओं में भी इनके अनुवाद होने लगे हैं। ढेरों आदिवासी भाषाओं के लेखन में गए बिना सिर्फ गैर–आदिवासी भाषाओं में प्राप्त सामग्री के आधार पर आदिवासी साहित्य के बारे में बनाई गई राय अधूरी और भ्रामक होगी। अब भी हर साल आदिवासी भाषाओं में सैंकड़ों किताबें प्रकाशित हो रही हैं। हालांकि स्पष्ट समझदारी के अभाव में कहीं उसे आदिवासी लोक साहित्य कहा जा रहा है तो कहीं लोक कथाएँ।

3.5.3 समकालीन हिंदी आदिवासी लेखन

पुरखा साहित्य और आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर बाहरी साहित्य के प्रभाव में हिंदी, बांग्ला, तमिल, मलयालम, उड़िया आदि बड़ी भाषाओं में भी लेखन शुरू किया। हर भाषा में इसकी शुरुआत के समय में थोड़ा–बहुत फर्क है। हिंदी में इसकी शुरुआत तीन दशक पहले से मानी जा सकती है। हिंदी के लेखकों के प्रभाव में आदिवासियों

ने मुंडारी, संताली, खड़िया आदि भाषाएँ छोड़कर हिंदी में लिखना शुरू किया। हालांकि इनकी ज्यादातर रचनाएँ छोटे प्रकाशनों से छपी हैं या अप्रकाशित ही रही हैं लेकिन इसके बावजूद पिछले तीन दशकों में हिंदी में सक्रिय आदिवासी रचनाकारों की संख्या कई दर्जन है। इन्होंने कविताओं के अलावा कहानियाँ और उपन्यास तो लिखे ही हैं, कुछ ने तो व्यंग्य, संस्मरण, यात्रा–वृत्तांत आदि विधाओं में भी हाथ आजमाया है। हिंदी आदिवासी कविता में पहला नाम सुशीला सामद का है लेकिन उसके बाद एक निरंतरता का अभाव दिखाई देता है। इसलिए समकालीन हिंदी आदिवासी कविता की शुरुआत हम रामदयाल मुंडा की कविताओं से मान सकते हैं जिन्होंने मुंडारी के साथ हिंदी में भी कविताएँ लिखी हैं। उनके बाद ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, वंदना टेटे, विजय सिंह मीणा, ज्योति लकड़ा, अनुज लुगुन, जसिंता केरकेट्टा आदि का नाम उल्लेखनीय है। कथा लेखन के क्षेत्र में वाल्टर भेंगरा 'तरुण', पीटर पौल एक्का, रोज केरकेट्टा, मुंगल सिंह मुंडा, विजय सिंह मीणा आदि प्रमुख हैं। इन्होंने आदिवासी साहित्य को सैंकड़ों कहानियाँ और लगभग आधा दर्जन उपन्यास दिये हैं। शंकरलाल मीणा व्यंग्य और कहानी– दोनों क्षेत्रों में सक्रिय हैं। हरिराम मीणा ने यात्रा–वृत्तांत व संस्मरण भी लिखे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिवासी साहित्य न केवल हिंदी आदि गैर–आदिवासी भाषाओं की एक उभरती प्रवृत्ति और साहित्यँदोलन है, बल्कि आदिवासी भाषाओं में इसकी गहरी जड़ें और लंबी परंपरा मौजूद है। इसके बारे में राय बनाने के लिए पूरी परंपरा का अध्ययन आवश्यक है।

3.6 आदिवासी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

कई दशक से आदिवासी रचनाकार लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं। सवाल उठता है कि वे क्यों लिख रहे हैं और उनके साहित्य की विशेषताएँ क्या हैं? समकालीन आदिवासी हिंदी लेखन सोद्देश्य है। यह मुख्यतः बाहरी समाज को आदिवासी संस्कृति व परंपराओं से परिचित कराने व आदिवासी जीवन की समस्याओं से रूबरू कराने के लिए लिखा जा रहा है। साथ ही इसमें अपने समाज को जाग्रत करने का प्रयोजन भी शामिल है। आदिवासी समाज की नई पीढ़ी, जो अपने इतिहास, परंपरा और मूल्यों से कटती जा रही है, उसे समाज से जोड़े रखने के उद्देश्य से भी आदिवासी साहित्य रच रहे हैं।

आदिवासी साहित्य की प्रधान प्रवृत्ति आदिवासी दर्शन की अभिव्यक्ति और विस्तार है इसलिए आइए सबसे पहले आदिवासी दर्शन और आदिवासी साहित्य के संबंध को समझते हैं।

हिंदी में आदिवासी कलम के बढ़ते दखल के बीच वर्ष 2014 में 14–15 जून को रांची में 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी साहित्य सृजन' विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया जो आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ विकसित करने, उसका मूल्यांकन करने और उसके बुनियादी तत्वों की पहचान करने की दृष्टि से खास रहा। रांची सेमिनार में इन्हीं तत्वों की पहचान की गई और सेमिनार के अंत में घोषणा–पत्र जारी किया गया। इसमें विचार किया गया कि आदिवासी साहित्य की पहचान के लिए यह जानना भी जरूरी है कि इसकी विचारधारा क्या है? आदिवासी दर्शन क्या है? रांची घोषणा–पत्र के अनुसार आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन का होना है। झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा नामक संगठन द्वारा आयोजित इस सेमिनार में देशभर के आदिवासी रचनाकारों ने हिस्सा लिया और आदिवासी दर्शन सारी बातचीत के केन्द्र में था।

आदिवासी दर्शन और साहित्य की कुछ बुनियादी विशेषताएँ हैं जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है :

पंद्रह सूत्रीय रांची घोषणा–पत्र में आदिवासी साहित्य के लिए अनिवार्य आदिवासी दर्शन का पहला तत्व है उसका प्रकृति की लय–ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला–माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता। वहाँ कलाकार एक साथ गीतकार भी है, संगीतकार भी है और नर्तक भी। आदिवासी साहित्य की लंबी परंपरा के रूप में मौजूद मौखिक साहित्य या पुरखौती में कौन सा गीत किसने रचा, ये बताना मुश्किल है क्योंकि अधिकांश गीतों की रचना सामूहिक रूप से हुई। पुरखौती किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं, पूरे समाज की धरोहर मानी जाती है। तमाम भाषाओं में मौजूद आदिवासी साहित्य में प्रकृति की लय–तान और संगीत भरा पड़ा है। समकालीन आदिवासी लेखन पर भी इसका असर देखा जा सकता है। बिना संगीत के आदिवासी कविताओं की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। पुरखों के कला–कौशल, ज्ञान–विज्ञान और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आदिवासी रचनाकार कृतज्ञता व्यक्त करता है क्योंकि उसी से पृथक आदिवासी परंपरा और संस्कृति के निर्माण द्वारा आदिवासी अस्मिता का स्वरूप बना। आदिवासी दर्शन परलोक के बजाय समूचे जीव–जगत को महत्त्वपूर्ण मानता है और मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणी और उसका जीवन बराबर महत्त्वपूर्ण है। इसलिए उन सब को बचाया जाना जरूरी है। साथ ही नदी, नाले, पहाड़, जंगल आदि को भी बचाया जाना जरूरी है। आदिवासी दर्शन पूरी दुनिया में फैल रही बाजारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है। बाहरी समाज ने हमेशा आदिवासी इलाकों को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का केन्द्र माना है। आदिवासी जिस प्रकृति को माँ मानते आए हैं, उसे बाहरी लोगों ने मुनाफे का साधन मात्र माना है। देश के तमाम आदिवासी इलाके संसाधनों के दोहन के लिए बर्बाद कर दिए गए और अब भी किये जा रहे हैं। आदिवासी उन जंगलों, नदियों, पहाड़ों से जरूरतभर चीजें लेता आया है और बदले में उनकी रक्षा करता आया है। वे उसके जीवनाधार हैं। आज भी अधिकांश इलाकों में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। कल्पना करें कि किसी आदिवासी बस्ती के समीपवर्ती जंगल में किसी फल का पेड़ है तो वहाँ के आदिवासी उस पेड़ से जरूरतभर फल चुनेंगे, वे भी सबसे पहले पककर झड़े हुए। यह 'संतोषं परं सुखं' का विचार नहीं, रचाव और बचाव का दर्शन है यानी जरूरत भर उपयोग के बाद दूसरों के लिए चीजों को बचाना।

आदिवासी दर्शन की एक और खास बात है– जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा। आज जब चारों ओर निराशा और कुंठा का माहौल है, आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नजरिए से देखने और जीने की वकालत करता है। आदिवासी जीवन में सांस्कृतिक वैविध्य के साथ सहजता और सरलता का अनूठा मेल देखने को मिलता है, जो जीवन को आनंदमयी बनाए रखता है। वहाँ न पैसे का लालच है और न मुनाफे की अंधी दौड़। बल्कि वह अपने सुखमय जीवन के लिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञ महसूस करता है। नियमगिरि के मामले में पूरी दुनिया ने देखा कि नियमगिरि के डोंगरिया कौंध आदिवासियों के लिए वह उनका पूर्वज है, उनका भगवान है और वही नियमगिरि वेदांता के लिए मुनाफे के स्रोत प्राकृतिक संसाधनों का ढेर मात्र। जाहिर है किसी पहाड़ को प्राकृतिक संसाधनों और लाभ

से जोड़कर देखा जाएगा तो उसका अधिक से अधिक दोहन किया जाएगा, वहीं अगर उसे अपना पूर्वज माना जाएगा तो उसके बचाव और रचाव के प्रयास किये जाएँगे। आदिवासी समाज खुद को तमाम नदियों, पहाड़ों और जंगलों का संरक्षक मानता है और उन्हें बचाना अपना कर्त्तव्य समझता है। यह बात आदिवासी दर्शन की प्रमुख विशेषताओं में से एक है।

गैर–आदिवासी लेखन रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि के पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है जबकि आदिवासी साहित्य और दर्शन में इनके प्रति कोई आग्रह नहीं है। आदिवासी सौंदर्यबोध के अनुसार दुनिया में कुछ भी असुंदर नहीं है। साथ ही आदिवासी साहित्य हर तरह की गैर–बराबरी के खिलाफ है। जब पूरी दुनिया एक सांस्कृतिक और एक भाषा की ओर बढ़ती चली जा रही है, आदिवासी दर्शन मानव समाज की भाषाई और सांस्कृतिक विविधता के साथ खड़ा है। आदिवासियों का पारंपरिक ज्ञान और साहित्य उनकी अपनी भाषाओं में संरक्षित है। संयुक्त राष्ट्र संघ दुनियाभर के देशज लोगों के हक में उनके आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करता है। आदिवासी साहित्य भी आदिवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में है।

तथाकथित मुख्यधारा की साहित्यिक विरासत सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, मिथकों, प्रतीकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से भरी पड़ी है। तमाम प्रगतिशील और अस्मितावादी साहित्य भी इससे पूरी तरह मुक्त नहीं है। आदिवासी साहित्य और दर्शन इससे अपनी असहमति जताता है। आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव में यकीन करता है इसीलिए इसमें स्वानुभूति या सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर–संगीत सुना जा सकता है। यहाँ एक और बात गौर करने की है। आदिवासियों का साहित्य उनकी मातृभाषाओं की मौखिक (और अब लिखित भी) परंपरा में मौजूद है। इसलिए आदिवासी दर्शन या आदिवासी विश्वदृष्टिकोण को समझने के लिए आदिवासियों के केवल हिंदी लेखन से काम नहीं चलेगा। उनकी मातृभाषाओं तक पहुँचना होगा।

यह भी सच है कि आदिवासी जीवन और साहित्य के बारे में बात करते वक्त हमें आदिवासी समाज के अंदर की विविधताओं को समझना और संबोधित करना होगा। आदिवासी समाज कोई जड़ समाज नहीं है, खासतौर पर इन दिनों वह गहरे बदलावों के दौर से गुजर रहा है। इन बदलावों को भी रेखांकित करना होगा। कुल मिलाकर आदिवासी जीवन और उसकी समस्याओं को संपूर्णता में समझना होगा और आदिवासी जीवन–दृष्टि को समझने में आदिवासी साहित्य से बेहतर पथ–प्रदर्शक कोई नहीं हो सकता इसलिए हमारा फोकस आदिवासियों की उस पूरी मौखिक और लिखित साहित्य पंरपरा पर होना चाहिए। उसी से संवाद करके हम समझ पायेंगे कि आदिवासी दर्शन रचाव और बसाव का दर्शन है। विकास की अलग–अलग परिभाषाओं की अंधी दौड़ में फंसे विश्व को यही दर्शन बचा सकता है।

आदिवासी साहित्य हिंदू मिथकों के डीकोडीकरण का कार्य कर रहा है। हिंदू मिथकों में वर्णित आदिवासियों के खलनायकत्व की छवि पर सवाल उठता है। आदिवासी साहित्य आदिवासी आंदोलनों की परंपरा और राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में आदिवासियों की भागीदारी से जुड़ी कहानियों को सामने लाता है और बताता है कि किस प्रकार आदिवासी आंदोलन साम्राज्यवाद के साथ सामंतवाद से भी लड़ने के कारण ज्यादा महत्त्वपूर्ण थे। इसके साथ ही आदिवासी साहित्य की पंरपरा संस्कृतिकरण और आदिवासी समाज पर इसके

कुप्रभावों के प्रति सचेत है। आदिवासी साहित्य आदिवासी स्वायत्तता और स्वशासन के सवाल को पुरजोर तरीके से उठाता है। इन सबके साथ आदिवासी साहित्य वर्तमान में आदिवासियों के समक्ष उपस्थित समस्याओं से भी रूबरू कराता है, जैसे विस्थापन की समस्या, आर्थिक शोषण की समस्या, बाहरी दखल से उत्पन्न समस्या, आदिवासी स्त्रियों के सवाल आदि।

आदिवासी साहित्य में स्त्री रचनाकारों और उनके मुद्दों की उपस्थिति शेष हिंदी साहित्य से काफी अच्छी है। श्रम में बराबर की भागीदारी की वजह से स्त्री आदिवासी समाज में तुलनात्मक रूप में मजबूत स्थिति में रही है। साहित्य लेखन में भी उसने बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया है। पहली हिंदी कविता सुशीला सामद की मिलती है तो कहानी एलिस एक्का की। आलोचना के क्षेत्र में वंदना टेटे अग्रणी हैं ही। निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी स्त्री की समस्याएँ बहुत बारीकी से अभिव्यक्त हुई हैं और रोज केरकेट्टा की कहानियों में आदिवासी स्त्री के शोषण और प्रतिरोध का चित्रण हुआ है।

आदिवासी साहित्य की एक विशेषता इसकी द्विभाषी प्रस्तुति है। चूंकि हिंदी आदिवासी लेखकों की मातृभाषा नहीं है और जाहिर है कोई भी लेखक मूलतः अपनी मातृभाषा में सोचता है तथा अपनी भाषा में ही बेहतर लिख सकता है इसलिए ज्यादातर आदिवासी लेखकों ने अपनी रचनाएँ प्रधानतः अपनी भाषाओं में लिखी हैं और उनका हिंदी रूपांतरण भी साथ ही प्रस्तुत किया है। यह कार्य कविता के क्षेत्र में सर्वाधिक हुआ है। इसकी वजह कविता का छोटा कलेवर है। दर्जनों आदिवासी रचनाकारों ने अपने कविता–संग्रह द्विभाषिक प्रस्तुत किये हैं, जिसमें एक उनकी मातृभाषा है और दूसरी हिंदी। जसिंता केरकेट्टा ने तो अंग्रेजी और जर्मन में भी अपनी कविताएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ रचनाकारों ने कहानियाँ भी दो भाषाओं में साथ में प्रस्तुत की हैं। जाहिर है उपन्यास के क्षेत्र में यह व्यावहारिक नहीं है इसलिए उपन्यासों की द्विभाषिक प्रस्तुति नहीं दिखाई पड़ती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन आदिवासी लेखन अपनी पुरखा परंपरा और बाहरी समाज और साहित्य से संवाद कर सृजन के क्षेत्र में नए प्रयोग करता हुआ आदिवासी जीवन और दर्शन की अभिव्यक्ति कर अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करा रहा है।

बोध प्रश्न 2

1. मौलिक साहित्य किस साहित्य का मूल आधार है?

   (क) आदिवासी साहित्य (ख) दलित साहित्य

   (ग) प्रवासी साहित्य (घ) स्त्री विमर्शपरक साहित्य

2. मेन्नस ओड़ेय का 'मतुराअ कहनि' जिसे पहला आदिवासी उपन्यास माना जाता है। किस भाषा में लिखा गया है?

   (क) खासी (ख) गारो

   (ग) मुंडारी (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. समकालीन हिंदी आदिवासी कविताओं की शुरुआत हम किसकी कविताओं से मान सकते हैं?

   (क) निर्मला पुतुल (ख) राम दयाल मुंडा

   (ग) महादेव टोप्पो (घ) रोज केकेट्टा

4. किस आदिवासी लेखक ने यात्रा-वृत्तांत व संस्मरण भी लिखे हैं?

(क) शंकर लाल मीणा (ख) हरिराम मीणा

(ग) पीटर पौंल एक्का (घ) ग्रेस कुजूर

3.7 आदिवासी साहित्य की वैचारिकी

किसी भी मुक्तिकामी साहित्य के मूल्यांकन के लिए उसकी वैचारिकी की समझ होना बहुत जरूरी है। चूंकि आदिवासी समाज और साहित्य बाहरी समाज से काफी अलग है इसलिए उनका मूल्यांकन करते वक्त हमें बाहरी प्रतिमानों को किनारे रखना होगा। अक्सर साहित्य की राजनीति से प्रभावित आलोचना साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान निर्धारित करती है। ऐसे में आलोचक के समक्ष जो ज्ञान–परंपरा होती है, जिन मूल्यों में वह या उसकी भाषा के लोग विश्वास करते हैं और जो उसका सच होता है, उसी के आधार पर वह साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान बनाता है। उदाहरण के लिए एक हिंदी भाषी आलोचक के लिए निराला और उनकी 'राम की शक्ति पूजा' श्रेष्ठ कविता का मानक है, वह स्वयं संस्कृत ग्रंथों, हिंदू मिथकों और तत्समप्रधान शब्दावली को पसंद करता है तो मुमकिन है कि उसके द्वारा निर्धारित प्रतिमानों के अनुसार किसी समसामयिक विषय पर तद्भव व देशज प्रधान हिंदी में लिखी कविता (चाहे वह नागार्जुन की ही क्यों न हो) अच्छी नहीं होगी। और जब बात आदिवासी कविता की आएगी तो फिर और भी मुश्किल होगी। आदिवासी साहित्य की शब्दावली आदिवासी दर्शन से आई है। जंगल, पहाड़ और पुरखों से संबंधित बड़ी संख्या में ऐसे शब्द आदिवासी लेखन में भरे पड़े हैं, जिसके गहरे सांस्कृतिक संदर्भ हैं। उस सांस्कृतिक संदर्भ की वजह से हिंदी आदि बाहरी भाषाओं में न उनके समानांतर शब्द खोजे जा सकते हैं और न अनुवाद किया जा सकता है। ऐसे में आदिवासी साहित्य को समझना और उसका मूल्यांकन करना बेहद चुनौतीपूर्ण कार्य है।

आदिवासियों के बारे में बाहरी समाज द्वारा हुए लेखन में वे या तो बेचारे हैं या हिंसात्मक क्रांतिकारी। इस पर टिप्पणी करते हुए वंदना टेटे लिखती हैं, 'वे समझ ही नहीं पाते कि उनका नकार 'क्रांति (सत्ता) के लिए किया जाने वाला प्रतिकार नहीं' बल्कि समष्टि के बचाव और सहअस्तित्व के लिए है।'

मूल्यांकन की चुनौती किस प्रकार उपस्थित होती है, इस पर कविता के संदर्भ में वंदना टेटे लिखती हैं, 'अपनी विशेष परख–दृष्टि पर आदिवासी रचनाओं को कसते हुए वैसी तमाम कृतियों को भारत के वृहत्तर साहित्य समाज ने कविता मानने से इनकार कर दिया, जो आदिवासीपन के साथ लिखी गई थी।' वंदना टेटे उदाहरण देकर बताती हैं कि कैसे आदिवासीपन वाली रचनाओं की उपेक्षा हुई और कैसे कुछ रचनाकरों की जाति, धर्म, लैंगिक उत्पीड़न, घरेलू हिंसा आदि लोकप्रिय विषयों पर लिखी गई रचनाएँ जनरुचि के अनुकूल होने के कारण महत्त्वपूर्ण मानी गईं! यानी आदिवासी लेखन का मूल्यांकन करने के लिए पहले मूल्यांकनकर्ता को आदिवासी समाज और साहित्य की परंपरा व मूल्यों से परिचित होना होगा।

सवाल उठता है कि जिस तरह से डॉ. भीमराव आंबेडकर का दर्शन दलित साहित्य के मूल में है क्या उसी तरह से आदिवासी साहित्य के भी कोई विचार पुरुष हैं? वैसे तो आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर केन्द्रित है लेकिन आदिवासी दर्शन को समझने के लिए सुविधा

की दृष्टि से आंबेडकर के बरक्स किसी को खड़ा किया जा सकता है तो वे हैं जयपाल सिंह मुंडा। इनके बारे में अभी काफी कम काम हुआ। इन पर हिंदी में केवल अश्विनी कुमार पंकज और बलबीर दत्त की एक–एक किताब आई है। जयपाल सिंह के चिंतन का मूल भी आदिवासी दर्शन ही है। जयपाल सिंह एक खिलाड़ी, संपादक, लेखक, राजनीतिज्ञ और प्रशासक रहे हैं। संविधान सभा में वे देश के आदिवासियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। देश के आदिवासियों की ओर से बोलते हुए वे कहते हैं, ''मैं सभा से कहना चाहूँगा कि अगर देश में कोई सबसे ज्यादा दुर्व्यवहार का शिकार हुआ है तो वह हमारे लोग हैं। पिछले छह हजार सालों से उनकी उपेक्षा हुई है और उनके साथ अपमानजनक व्यवहार किया गया है। मैं सिंधुघाटी सभ्यता का वंशज हूँ, उसका इतिहास बताता है कि आपमें से अधिकांश लोग, जो यहाँ बैठे हैं, बाहरी हैं, घुसपैठिए हैं।'' जयपाल सिंह का यह तेवर उनके तमाम भाषणों में देखा जा सकता है। यह दुखद है कि उनके भाषणों का न कोई मुकम्मल संकलन आया है और न छिटपुट को छोड़कर अनुवाद ही हुआ है। उनके लेखों को तो अभी खोजा जाना शेष है।

जयपाल सिंह के बारे में जितनी सामग्री मिलती है, उसमें सबसे प्रमुख उनकी अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक 'लो बिर सेंदरा' है। इसी को आधार बनाकर अश्विनी कुमार पंकज और बलवीर दत्त ने उनके ऊपर किताबें लिखी हैं। इन किताबों में उनके राजनीतिक जीवन के विविध पहलुओं और आदिवासी आंदोलनों से उनके रिश्तों के बारे में विस्तार से लिखा गया है। जयपाल सिंह ने लंबे समय तक 'आदिवासी महासभा' का नेतृत्व किया और वे झारखंड आंदोलन का सूत्रपात करने वाली झारखंड पार्टी के भी संस्थापक सदस्य थे। संविधान सभा में उन्होंने 'अनुसूचित जनजाति' की जगह 'आदिवासी' पद सुझाया लेकिन उनकी बात मानी नहीं गई। इसी प्रकार उन्होंने 5वीं और छठी अनुसूची का सवाल भी उठाया। हालांकि वे ऑक्सफोर्ड से पढ़कर आए थे लेकिन अपने बाद के जमीनी अनुभवों के कारण आदिवासियों के वास्तविक मुद्दों से वे लगातार देश को परिचित कराते रहे। आदिवासी भी उन्हें अपना नेता मानते थे। उन्होंने आदिवासियों के खानपान और संस्कृति पर भी संविधान सभा में लंबे भाषण दिये।

बाद के चिंतकों में रामदयाल मुंडा का नाम प्रमुख है। यह दिलचस्प है कि उनका चिंतन भी आदिवासी दर्शन पर टिका है। डॉ. रामदयाल मुंडा ने आदिवासियों की आस्थाओं को हिंदुओं की आस्था से पृथक करने के लिए 'आदि धरम' नाम से किताब लिखी है। उन्होंने जनगणना में आदिवासियों के लिए अलग धर्म कोड की भी माँग की। ''डॉ. मुंडा का यह प्रयास धार्मिक सोच या पूजा–पाठ तक ही सीमित नहीं था। चूंकि धर्म जुड़ा है संस्कृति से, आर्थिक चक्र से, मातृभाषा से, जंगल से, जमीन से– आदि धरम का मजबूत होना इन सबको मजबूत करेगा।''

आदिवासी चिंतकों में हैराल्ड एस. तोपनो का काम भी महत्त्वपूर्ण है। ये एक सजग पत्रकार और एक्टिविस्ट थे। इनके लेखों का संकलन अश्विनी कुमार पंकज ने 'उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष' शीर्षक से संपादित किया है। पंकज ने इन्हें 'हिंदी का पहला आदिवासी विमर्शकार' कहा है। वे लिखते हैं, ''वह हिंदी का पहला आदिवासी सिद्धांतकार है जिसने आदिवासियत के आलोक में, आदिवासी विश्वदृष्टि के नजरिये से पूंजीलोलुप समाज–सत्ता के दर्शन पर चोट की। उसने बताया कि विकास का यह शासकवर्गीय नजरिया देश के मूल निवासियों और आदिवासियों के लिए सिवाय मिथ्या के कुछ नहीं। यह व्यवस्था लुटेरी और हत्यारी है तथा यह आदिवासी क्या, किसी भी आम नागरिक को कोई बुनियादी सुविधा और

मौलिक अधिकारों के उपभोग का स्वतंत्र अवसर नहीं देने जा रही क्योंकि विकास की उनकी अवधारणा उसी नस्ली, धार्मिक और सांस्कृतिक सोच की देन है, जिसमें आदिवासियों, स्त्रियों, दलितों और समाज के पिछड़े तबकों के लिए कभी कोई जगह नहीं रही है।''

आदिवासी दर्शन व्यक्ति केन्द्रित विचार और विचार–पद्धति में विश्वास नहीं करता इसलिए वहाँ कोई 'वाद' जैसा कुछ नहीं है। हां, पुरखे हैं और उनका चिंतन है, जिसके प्रति आदिवासी समाज और उसके साहित्यकारों का कृतज्ञता का भाव है। उपर्युक्त तमाम चिंतकों के लेखन और चिंतन भी आदिवासी दर्शन पर केन्द्रित है। यानी आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य के मूल में है।

3.8 आदिवासी साहित्य की भाषा और शिल्प

जब दलित साहित्य आया था तो उसकी भाषा को लेकर सवाल उठे थे। आक्रोश की तीव्रता की वजह से मुख्यधारा के साहित्यकारों और आलोचकों ने उसे साहित्य मानने से ही इनकार कर दिया था। आदिवासी साहित्य के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ। चूंकि आदिवासियों का अधिकांश लेखन उनकी मातृभाषाओं में है, इसलिए उस या उसके अनुवाद तक हिंदी शोधार्थी पहुँच ही नहीं पाये और वे गैर–आदिवासियों की रचनाओं को ही आदिवासी साहित्य मानकर शोध करते रहे। बाद में आदिवासी लेखकों ने भी हिंदी में लिखना शुरू किया। हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं है। वह आदिवासियों के लिए वैसे ही पराई भाषा है जैसे तमाम भारतीयों के लिए अंग्रेजी। आदिवासियों ने हिंदी सायास सीखी है इसलिए आदिवासी लेखन में भाषा का वैसा छद्म नहीं है जैसा कि अक्सर हिंदी लेखन में देखने को मिलता है। आदिवासी लेखन में दलित साहित्य जैसा आक्रोश भी नहीं है और न ही किसी प्रकार का गाली–गलौज। इसके बावजूद विशिष्ट है आदिवासी लेखन की भाषा। आदिवासी साहित्य की भाषा को हम निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझ सकते हैं :

1. आदिवासी लेखन की भाषा सहज है। इससे जहाँ वह एक तरफ आदिवासी दर्शन के अनुकूल बन पड़ी है, वहीं दूसरी तरफ पाठक के लिए भी आसान है। हालांकि हिंदी साहित्य की नकल करते हुए लिखने वाले आदिवासी साहित्यकारों की भाषा में तत्सम प्रधानता और एक तरह की कृत्रिमता है। मंगल सिंह मुंडा का उपन्यास 'छैला संदु' इस संदर्भ में देखा जा सकता है।

2. चूंकि हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं है इसलिए उनकी हिंदी में स्थानीय प्रभाव खूब देखने को मिलते हैं। जैसे झारखंड के साहित्यकार अपने गद्य और पद्य में लिंग संबंधी गलतियाँ करते हैं। इसी तरह स्थानीयता के प्रभाव में वे क्रिया का स्थानीय बोलचाल वाला रूप प्रयुक्त करते हैं।

3. आदिवासी साहित्य की भाषा का वैशिष्ट्य उसमें आई आदिवासी जीवन संबंधी शब्दावली है। जाहिर है वे आदिवासी भाषा–संस्कृति से आई है इसलिए उसका हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत करना या समानांतर शब्द खोजना लगभग असंभव है। उदाहरण के लिए 'अखड़ा' को लीजिए। हिंदी का पाठक जब कहीं 'अखड़ा' लिखा पढ़ता है तो वह अपने सीमित ज्ञान संसार की वजह से यह समझ लेता है कि यह शब्द शायद 'अखाड़ा' है, गलती से 'अखड़ा' छप गया है। जबकि 'अखड़ा' शब्द का 'अखाड़ा' से कोई संबंध नहीं। 'अखड़ा' आदिवासी संस्कृति का केन्द्र है। वह

आदिवासी गाँव की तमाम गतिविधियों का केन्द्र है लेकिन वह चौपाल नहीं है। इस तरह की शब्दावली आदिवासी कविता में भरी पड़ी है जिसके प्रसंग आदिवासी समाज, संस्कृति, इतिहास या मूल्यों में बिखरे पड़े हैं। आदिवासी समाज से एकदम अपरिचित व्यक्ति के लिए इन शब्दों को समझ पाना बहुत बड़ी चुनौती है।

4. रचनाओं की द्विभाषी प्रस्तुति आदिवासी साहित्य के शिल्प की एक प्रमुख विशेषता है। ज्यादातर कविता–संग्रह कवियों की अपनी मातृभाषा और हिंदी में प्रस्तुत किये गए हैं।

आदिवासी रचनाओं का कलेवर बहुत छोटा है। न लंबी कविताओं की परंपरा और न लंबे उपन्यासों का। पीटर पौल एक्का के उपन्यासों की औसत पृष्ठ संख्या 70 से भी कम है। दरअसल आदिवासी अपनी बात सहजता से सहज शब्दों में कहने को प्राथमिकता देते हैं। आदिवासी स्वभाव से संकोची होते हैं, इसलिए थोड़ा कहने में यकीन रखते हैं।

आत्मकथात्मक लेखन और आदिवासी साहित्य

यह दिलचस्प और विचारणीय तथ्य है कि आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की कोई खास प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। यह तथ्य स्त्री, दलित आदि अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के मुक्तिकामी साहित्य आंदोलनों से आदिवासी साहित्य के पार्थक्य और विशिष्टता का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु भी है।

पहला सवाल यह है कि आत्मकथात्मक लेखन का इतिहास व स्वरूप क्या है? आत्मकथात्मक लेखन मूलतः पूंजीवादी समाज की प्रवृत्ति है। वैसे तो तमाम विधाओं में रचनाकार किसी न किसी रूप में खुद को अभिव्यक्त कर रहा होता है लेकिन फिर भी आत्मकथात्मक लेखन को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जाता है– जीवनी और आत्मकथा। तमाम साहित्यिक विधाओं में अधिकांशतः लेखक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आत्म या उसके इर्द–गिर्द के बारे में लिखता है। यानी आत्मकथात्मकता गैर–आदिवासी साहित्य की एक प्रधान विशेषता है। कम से कम आधुनिक साहित्य के बारे में तो ऐसा कहा ही जा सकता है। तमाम भारतीय भाषाओं में जीवनी और आत्मकथा लेखन की समृद्ध परंपरा है। जब रामस्वरूप चतुर्वेदी अपनी साहित्येतिहास की पुस्तक 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में लिखते हैं कि 'आधुनिक काल में मनुष्य सारे चिंतन के केन्द्र में आ गया' या जब सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' उद्घोष करते हैं, 'मैंने मैं शैली अपनाई', या जब नामवर सिंह अपनी पुस्तक छायावाद में इस उद्घोष को क्रांतिकारी और ऐतिहासिक बता रहे हैं और जब आत्मकथा की संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण शोध करने वाले पंकज चतुर्वेदी आत्मकथा को 'परिवर्तनकारी विधा' बताते हैं तो वस्तुतः ये सब हिंदी साहित्य में आत्म को अभिव्यक्त करने के महत्त्व को ही रेखांकित कर रहे हैं। यह हिंदी साहित्य का एक बहुत बड़ा अंतर्विरोध है कि आत्म को महत्त्व देते हुए भी ये हिंदी के तमाम रचनाकार स्वयं को समाज का कवि/लेखक घोषित करते हैं। आलोचक उनके साहित्य के सामाजिक सरोकारों पर पुस्तकें लिखते हैं। इस प्रक्रिया में वे 'आत्म' के क्रांतिकारी चरित्र की विशेषताएँ खोजकर पाठकों के समक्ष रखते हैं। यह ठीक वैसे ही है जैसे पूंजीवाद के 'मानवीय पहलुओं' को महिमामंडित करना। दरअसल सामंतवाद की जकड़नों के विरुद्ध पूंजीवाद के व्यक्ति स्वातंत्र्य के छद्म दावे के हुए मुक्ति के क्षणिक अहसास के कारण ऐसा हुआ।

मुक्तिकामी साहित्य आंदोलनों के दौर में आत्मकथात्मक लेखन की यह प्रवृत्ति केन्द्रीयता प्राप्त करती है। आत्मकथा स्त्री लेखन और दलित लेखन की प्रधान विधा बन जाती है। ये आत्मकथाएँ बाहरी समाज–व्यवस्था के प्रतिमानों के अनुसार सफल (सामान्यतः नौकरीपेशा या आर्थिक रूप से मजबूत हो चुके) लेखक या लेखिका के जीवन–संघर्ष की कथाएँ हैं। इनमें जाति, वर्ण और पितृसत्ता के खिलाफ लेखक या लेखिका का संघर्ष दर्ज हुआ है इसलिए संबंधित समुदाय के लिए प्रेरणास्पद मानी जाती हैं और यही इनकी लोकप्रियता का कारण भी है। ये स्त्री शोषण या दलित शोषण की प्रामाणिक दस्तावेज मानी गईं और स्वानुभूति का सशक्त माध्यम भी। इस दृष्टि से दोहरा शोषण झेलने वाली दलित स्त्रियों की आत्मकथाएँ (दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, शिकंजे का दर्द – सुशीला टाकभौरे) ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। निश्चित तौर पर अगर कोई रचना (भले ही वह किसी भी विधा में हो) गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में सहायक साबित होती है और बराबरी की चेतना का प्रसार करती है तो उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। सवाल यह है कि अकादमिक जगत में स्त्री और दलित लेखन के बाद जगह बनाने वाले आदिवासी लेखन में यह प्रवृत्ति क्यों नहीं दिखाई पड़ती?

आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति पर जोर न होने के कारण आदिवासी दर्शन में मौजूद हैं। आदिवासी साहित्य के अनिवार्य तत्व आदिवासी दर्शन को स्पष्ट करने की दृष्टि से 'आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा–पत्र' प्रासंगिक है। आदिवासी दर्शन की सबसे प्रधान विशेषता उसकी सामूहिकता है। वहाँ व्यक्तिवाद के लिए कोई जगह नहीं है। व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है ही नहीं। आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव में यकीन करता है इसीलिए इसमें स्वानुभूति या सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर–संगीत सुना जा सकता है। सामूहिक अनुभूति आत्मकथा में नहीं गीतों में ही संभव है। मुंडारी पुरखा साहित्य के अध्ययन के दौरान एक दिलचस्प तथ्य सामने आता है कि वहाँ अपने प्रेमी या प्रेमिका को पाने के लिए प्रेमीपात्र के समाज से टकराने की स्थितियाँ नहीं दिखाई पड़तीं। इसका एक कारण तो यह है कि आदिवासी समाज में साथी चुनने का अधिकार भी पहले से मौजूद रहा है, घोटुल, धुमकुरिया आदि की समृद्ध परंपरा इसका साक्ष्य है। वेरियर एल्विन ने इस पर अच्छा अध्ययन किया है। प्रेमी पात्र को पाने के लिए किसी टकराव के न होने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण बताते हुए प्रो. वीर भारत तलवार अपनी पुस्तक 'झारखंड के आदिवासियों के बीच' में लिखते हैं, 'मुंडाओं का सामाजिक संगठन बहुत शक्तिशाली रहा है और उसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता नहीं के बराबर रही है'। जाहिर है जहाँ सामूहिकता का स्वरूप सामंती नहीं, बराबरी पर आधारित होगा और वैयक्तिकता की जरूरत व उपस्थिति ही नहीं होगी, वहाँ आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति न पनपना स्वाभाविक ही है।

आदिवासी दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण तत्व है उसका प्रकृति की लय–ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला–माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता। वहाँ कलाकार एक साथ गीतकार भी है, संगीतकार भी है और नर्तक भी। आदिवासी साहित्य की लंबी परंपरा के रूप में मौजूद मौखिक साहित्य या पुरखौती में कौन सा गीत किसने रचा, बताना मुश्किल है क्योंकि अधिकांश गीतों की रचना सामूहिक रूप से हुई। पुरखौती किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं, पूरे समाज की धरोहर मानी जाती है। सामूहिकता की ऐसी सुदृढ परंपरा में आत्मकथात्मक लेखन की जरूरत क्यों पड़ेगी?

आदिवासी दर्शन में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। पुरखों के कला–कौशल, ज्ञान–विज्ञान और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आदिवासी रचनाकार कृतज्ञता व्यक्त करता है लेकिन व्यक्ति विशेष की महिमा और गुणगान का विरोध करता है। आदिवासी दर्शन मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणी और उसका जीवन बराबर महत्त्वपूर्ण है इसलिए उन सब को बचाया जाना जरूरी है। साथ ही नदी, नाले, पहाड़, जंगल आदि को भी बचाया जाना जरूरी है। सही अर्थों में व्यष्टि का निषेध और समष्टि का स्वीकार, जाहिर है उसे अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम गीत हो सकते हैं, आत्मकथात्मक लेखन नहीं।

चूंकि तमाम आत्मकथाएँ सफल लोगों द्वारा सफलता के लिए किये गए संघर्ष की कहानी कहती हैं और आदिवासी दर्शन सफलता और विकास के उन पूंजीवादी प्रतिमानों को ही खारिज करता है। बाहरी समाज और साहित्य के प्रतिमानों, विधाओं के विभाजन आदि के आधार पर आदिवासी समाज और साहित्य का मूल्यांकन करना स्वयं उचित नहीं जान पड़ता। पिछले 50–60 सालों में आदिवासियों के बीच बहुत तेजी से फैलती संस्कृतिकरण की प्रक्रिया देखी जा सकती है। इसका असर आदिवासी भाषा, संस्कृति और साहित्य पर स्पष्ट देखा जा सकता है। उनके जीवन में आदिवासियत का लगातार ह्रास होता जा रहा है। मुमकिन है आने वाले समय में आदिवासियों में भी बाहरी समाज के प्रतिमानों के हिसाब से 'सफल' लोग आत्मकथाएँ लिखें। लेकिन इतना तय है कि आत्मकथात्मक लेखन आदिवासी दर्शन के अनुकूल नहीं है इसलिए आदिवासी साहित्य की मूल प्रवृत्ति भी नहीं बन पाई है। जब तक आदिवासी साहित्य में आदिवासियत और उसकी प्रधान विशेषता सामूहिकता का महत्त्व रहेगा, आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति के पनपने की संभावनाएँ कम ही हैं।

बोध प्रश्न 3

1. आदिवासी दर्शन को समझने के लिए सुविधा की दृष्टि से आंबेडकर के समकक्ष किसे रखा जा सकता है?

   (क) जयपाल सिंह मुंडा (ख) राम दयाल मुंडा

   (ग) सुशीला सामद (ग) वंदना टेटे

2. आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की प्रवृत्ति पर जोर न होने का कारण मौजूद है?

   (क) आदिवासी साहित्य के राँची घोषणा-पत्र में

   (ख) आदिवासी समाज के प्रतिबंधों में

   (ग) आदिवासी दर्शन में

   (घ) आदिवासी राजनीति में

3.9 सारांश

आदिवासी विमर्श की अवधारणा और आंदोलन पर केंद्रित इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात अब आपः

- अस्मितामूलक विमर्शों में आदिवासी विमर्श का स्थान निर्धारित कर सकते हैं।

- आदिवासी साहित्य विमर्श की परंपरा का परिचय दे सकते हैं।
- आदिवासी लेखन की प्रवृत्तियों का निर्धारण कर सकते हैं।
- आदिवासी लेखन का महत्त्व प्रतिपादित कर सकते हैं।
- आदिवासी साहित्य के भाषा-शिल्प का विश्लेषण कर सकते हैं।

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन – वंदना टेटे, नोशन प्रेस
2. आदिवासी दर्शन और साहित्य – वंदना टेटे (सं.), नोशन प्रेस
3. आदिवासी : समाज, साहित्य और राजनीति – केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. (घ) 2. (घ)

बोध प्रश्न 2

1. (क) 2. (ग) 3. (ख) 4. (ख)

बोध प्रश्न 3

1. (क) 2. (ग)

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 4 सलाम (ओमप्रकाश वाल्मीकि) : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 समकालीन कथा साहित्य लेखन परंपरा में दलित हस्तक्षेप

4.3 ओमप्रकाश वाल्मीकि का रचना संसार

4.4 सलाम : कथ्य के विविध आयाम

4.4.1 कथावस्तु के केंद्र में दलित जीवन

4.4.2 कहानी की मूल संवेदना

4.4.3 गाँव में दलितों की सामाजिक स्थिति

4.4.4 वर्णव्यवस्था, जातिवाद, छुआछूत और बहिष्कार

4.5 कथ्य के अन्य आयाम

4.5.1 दलितों की आर्थिक स्थिति

4.5.2 आधुनिक शिक्षा और दलित

4.5.3 सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश और दलित

4.5.4 परिवर्तन के प्रस्थान बिन्दु और व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह

4.6 सलाम : संरचनागत विशिष्टता

4.6.1 संप्रेषणीय भाषा

4.6.2 चरित्र-योजना और संवाद-कौशल

4.6.3 शैली की विविधता

4.7 सारांश

4.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

1990 ई. के बाद हिंदी साहित्य मध्यवर्गीय संवेदनाओं से ऊपर उठकर समाज के हाशिये के जीवन की ओर उन्मुख हुआ और पहली बार साहित्य में स्त्री, दलित और आदिवासी अस्मिताओं को न केवल अभिव्यक्ति मिलने लगी, बल्कि उसे केन्द्रीय विमर्श की जगह मिल गई। साहित्य की विविध विधाओं में अस्मितामूक लेखन की बाढ़–सी आ गई। दलित अस्मिता की सबसे ज्यादा अभिव्यक्ति कथा साहित्य में हुई। दलित रचनाकारों ने अपने जीवन के भोगे हुए अनुभव को व्यक्त करने के लिए कथा साहित्य का चयन किया। उन्होंने आत्मकथा, कहानी और उपन्यास में अपने जीवन संघर्षों को प्रस्तुत किया। दलित कहानी आंदोलन के पटल पर प्रारंभिक कहानीकार के रूप में ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम उभरता है। वाल्मीकि ने दलित जीवन के दाहक अनुभवों को अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है। इस इकाई

में हम ओमप्रकाश वाल्मीकि की बहुचर्चित कहानी 'सलाम' का विवेचन करने जा रहे हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भारतीय समाज व्यवस्था की जड़ता, जटिलता और रूढ़िवादी मानसिकता से परिचित हो सकेंगे;
- गाँव के उत्पीड़न के समाजशास्त्र से साक्षात्कार कर सकेंगे;
- दलित जीवन के यथार्थ, जिजीविषा और संघर्ष से साक्षात्कार कर सकेंगे;
- दलितों के आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक परिवेश को जान सकेंगे;
- दलित समाज की चेतना, जागरण और परिवर्तन की भूमिका से रूबरू हो सकेंगे;
- सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा, प्रस्थान और प्रयास से जुड़ सकेंगें,
- दलित साहित्य में भाषा की संप्रेषणीयता और शैली की नवीनता से अवगत हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना के आधारस्तंभ रहे हैं। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में दलित समाज के जागरण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और अपनी कलम चलाकर समाज का मानसिक परिवर्तन करने का प्रयास किया है। आपके पाठ्यक्रम में उनकी लोकप्रिय कहानी 'सलाम' रखी गई है। यह कहानी कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टि से ध्यान आकर्षित करती है। इसमें दलित साहित्य की बुनियादी विशेषताएँ—वेदना, विद्रोह और नकार हैं तो समकालीन ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश को भी इस कहानी में शिद्दत से उभारा गया है। गाँव में दलित को छोटी—मोटी जरूरतों से केवल इसीलिए वंचित रखा जाता है, क्योंकि वह निम्नजाति में पैदा हुआ। ग्रामीण परिवेश में छुआछूत का पालन इस हद तक किया जाता है कि कहानी का चरित्र कमल उपाध्याय भले ही ब्राह्मण बिरादरी से ताल्लुक रखता हो लेकिन वह चाय से भी वंचित रह जाता है क्योंकि वह चूहड़ों की बारात में शामिल हुआ था। आप इस इकाई में 'सलाम' कहानी के कथ्य के विभिन्न पहलुओं का साक्षात्कार कर सकेंगे।

4.2 समकालीन कथा साहित्य लेखन परंपरा में दलित हस्तक्षेप

हिंदी साहित्य में दलित लेखन का आविर्भाव 1990 ई. के आसपास हुआ है। साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्ति प्रथमतः आत्मकथा विधा में हुई है। दलित रचनाकारों ने अपने भोगे हुए अनुभवों को व्यक्त करने के लिए आत्मकथा विधा का चयन किया और दलित समाज के यथार्थ को पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त किया। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने—अपने पिंजरे' को हिंदी की पहली दलित आत्मकथा माना जाता है। इसका प्रकाशन 1995 ई. में हुआ था। दरअसल, इससे पहले भगवानदास की 'मैं भंगी हूँ' का प्रकाशन हुआ था, लेकिन स्वयं रचनाकार इसे आत्मकथा नहीं मानते हैं इसीलिए नैमिशराय जी को हिंदी की पहली आत्मकथा लिखने का बहुमान मिलता है। इसके उपरांत हिंदी की बहुचर्चित आत्मकथा 'जुठन' का प्रकाशन 1997 ई. में हुआ, जिसके रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। यह वंचित,

शोषित और प्रताड़ित दलित जीवन का प्रमाणिक दस्तावेज है। यहाँ से आगे शृंखलाबद्ध दलित आत्मकथाएँ प्रकाशित होने लगीं, जिनमें सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी', श्यौराजसिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' आदि आत्मकथाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

आत्मकथा विधा के बाद दलित चेतना की सबसे ज्यादा अभिव्यक्ति कहानी विधा में हुई है। दलित साहित्यकारों ने अपने जीवन के दाहक प्रसंगों को कहानियों में भी अभिव्यक्त किया है। दलित अस्मिता की अब तक अनेक कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं। दलित कहानी लेखन परंपरा में सर्वप्रथम नाम आता है– ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी का। यह हिंदी की सबसे चर्चित कहानी है। इस इकाई में हम इस कहानी की विस्तार से चर्चा करनेवाले हैं। वाल्मीकि जी का प्रथम कहानी संग्रह इसी कहानी के शीर्षक' सलाम' से प्रकाशित हुआ, जिसमें चौदह कहानियाँ संकलित हैं। इसके उपरांत सूरजपाल चौहान का कहानी संग्रह 'हैरी कब आएगा' प्रकाशित हुआ। इसी अनुक्रम में मोहनदास नैमिशराय के 'आवाजें', 'हमारा जवाब', जयप्रकाश कर्दम का 'तलाश', रमणिका गुप्ता का 'बहू जुठाई', शरणकुमार निम्बाले का 'दलित ब्राह्मण' आदि कहानी संग्रह विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास विधा में भी दलित विमर्श की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। दलित उपन्यासों में जयप्रकाश कर्दम कृत 'छप्पर', प्रेम कपाड़िया का 'मिट्टी की सौगंध', सत्यप्रकाश का 'जस–तस भई सवेर', मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्तिपर्व', अजय नावरिया का 'उधर के लोग', भगवानदास मोरवाल का 'रेत', रूपनारायण सोनकर का 'डंक' आदि विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं।

अतः कहा जा सकता है कि समकालीन कथा साहित्य में दलित रचनाकारों ने दमदार हस्तक्षेप किया है। उन्होंने दलित संवेदना को साहित्य के केंद्र में लाकर 'दलित साहित्य' को मुख्यधारा से जोड़ दिया है और दलित लेखन की सुदीर्घ परंपरा का आगाज किया है।

4.3 ओमप्रकाश वाल्मीकि का रचना संसार

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर रहे हैं। हिंदी दलित साहित्य का बीजारोपण, संपोषण और संवर्धन करने में वाल्मीकि जी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आज जो दलित साहित्य विकसित होकर विशालकाय महावृक्ष बन गया है, उसकी जड़ें जमाने में वाल्मीकि ने अपना अभूतपूर्व योगदान दिया है। सदियों से वंचित, उपेक्षित, शोषित और उत्पीड़ित दलित जीवन की वेदना को वाणी देने का सर्वप्रथम साहस वाल्मीकि ने अपनी रचनाओं में किया है। उनकी रचनाएँ दलित जीवन के भोगे हुए यथार्थ के विविध पहलुओं से भरी पड़ी है। वे अपनी रचनाओं में न केवल यथार्थ का रेखांकन करते हैं, अपितु सामजिक न्याय की प्राप्ति के लिए आंदोलन भी खड़ा करते हैं इसीलिए उनकी पहचान एक रचनाकार के साथ–साथ एक आंदोलनकर्मी की भी रही है। यहाँ हम उनका व्यक्तिगत एवं साहित्यिक परिचय दे रहे है :

ओमप्रकाश जी का जन्म 30 जून,1950 ई.को उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले के बरला गाँव में हुआ। उनकी माता का नाम मुकुंदी और पिता का नाम छोटनलाल था। ओमप्रकाश के चार भाई और दो बहनें थी। उनका परिवार सवर्णों के घर में साफ–सफाई या मजदूरी करके अपना गुजारा करता था। उनका जन्म अछूत वाल्मीकि परिवार में होने के कारण उन्हें बचपन से ही अभावग्रस्त जीवन यापन करना पड़ा था और अनेक सामजिक, आर्थिक और

मानसिक यातनाओं का सामना करना पड़ा था। उनकी शिक्षा ग्रहण का सफर भी काफी चुनौतियों से भरा रहा है। स्कूल में नाम दर्ज करने के लिए उन्हें और काफी संघर्ष करना पड़ा था। वे बारहवीं की परीक्षा में फेल हुए थे, फिर भी उन्होंने उम्मीद नहीं छोड़ी और विपरीत परिस्थितियों के बावजूद एम.ए तक की शिक्षा संपन्न की है। शिक्षा के दौरान उन्हें उपजीविका चलाने के लिए तरह–तरह के काम और नौकरियाँ करनी पड़ी थी। सबसे पहले उन्हें अप्रेंटिस के रूप में देहरादून स्थित रायुर ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में काम करना पड़ा था। इस काम के लिए शिक्षा से दूर जाना पड़ा था। इसके बाद उन्हें महाराष्ट्र में ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में नौकरी मिल गई। महाराष्ट्र में रहते हुए वे यहाँ के दलित चिंतक के संपर्क में आये और उन्होंने डॉ. अंबेडकर के पुस्तकों का गहरा अध्ययन किया। डॉ. भीमराव आंबेडकर से प्रेरणा लेकर वे दलित साहित्य लेखन से जुड़ गए। ओमप्रकाश जी का 17 नवंबर, 2013 ई. को देहरादून में कैंसर से निधन हो गया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि बहुमुखी प्रतिभा के धनी कलाकार थे। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में कलम चलाकर दलित विमर्श को सशक्त और मजबूत किया है। वे एक सुपरिचित दलित कवि है। उनके चार कविता संग्रह प्रसिद्ध हुए हैं। उनका पहला कविता संग्रह 'सदियों का संताप' 1989 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त 1997 ई.में 'बस्स! बहुत हो चुका', 2009 ई. में 'अब और नहीं' 'शब्द झूठ नहीं बोलते' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी सबसे लोकप्रिय रचना 'जूठन' है। यह एक आत्मकथा है और इसका प्रकाशन 1997 ई. में हुआ। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कहानी विधा में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'सलाम' उनका प्रथम कहानी संग्रह है। इसका प्रकाशन 2000 ई. में राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ। इसमें लगभग 14 कहानियाँ संकलित हैं। 'घुसपैठिये' यह इनका दूसरा कहानी संग्रह है। इसका प्रकाशन 2003 ई. में राधाकृष्ण प्रकाशन से हुआ। इसके अलावा इनके 'अम्मा एंड अदर स्टोरीज' और 'छतरी' यह कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। वाल्मीकि की आलोचना कृतियों में 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', मुख्यधारा और दलित साहित्य', सफाई देवता, 'दलित साहित्यः अनुभव, संघर्ष और यथार्थ' आदि प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके दो नाटक भी प्रकाशित हो चुके हैं– 'दो चेहरे', 'उसे वीर चक्र मिला था'। अनुवाद के क्षेत्र में भी वाल्मीकि जी ने उल्लेखनीय कार्य किया है। 'सायरन का शहर' शीर्षक से अरुण काले की मराठी कविताओं का इन्होंने हिंदी में अनुवाद किया है, यशवंत की मराठी कविताओं का हिंदी अनुवाद किया है, 'मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ' कांचा इलैया की अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद किया है। अतः उनका रचना संसार बृहद और समृद्ध रहा है।

संक्षेप में, ओमप्रकाश वाल्मीकि न केवल दलित साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं, बल्कि समस्त हिंदी साहित्य के विशिष्ट रचनाकार हैं। उनका लेखन हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

बोध प्रश्न 1

1) समकालीन कथा साहित्य में दलित चेतना का हस्तक्षेप कब हुआ? दो–तीन वाक्यों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

2) दलित आत्मकथा लेखन के विकासक्रम पर संक्षेप में चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

3) दलित कहानी लेखन की परंपरा को प्रकाशित कीजिए ।

....

....

....

....

4) ओमप्रकाश वाल्मीकि के कृतित्व का परिचय दीजिए।

....

....

....

....

4.4 सलाम : कथ्य के विविध आयाम

ओमप्रकाश वाल्मीकि के आगमन से समकालीन कथा साहित्य को एक नई दिशा, आयाम, आधार और चेतना मिली। उन्होंने हाशिये के जीवन को अपनी कथा की अंतर्वस्तु बनाकर कथा साहित्य को नई ताजगी प्रदान की। उन्होंने दलित चेतना को अपनी कथाओं का केंद्र बनाया। इस दृष्टि से उनकी 'सलाम' कहानी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस कहानी में उन्होंने समकालीन दलित जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। 'सलाम' कहानी के कथ्य के विविध आयाम हैं

4.4.1 कथावस्तु के केंद्र में दलित जीवन

'सलाम' कहानी दलित जीवन को केंद्र बनाकर लिखी गई है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रस्तुत कहानी में दलित समाज की स्थिति-परिस्थिति का संवेदनशील चित्रण किया है। आजादी के इतने सालों बाद भी गाँव में दलित समाज को छुआछूत की समस्या का सामना करना पड़ता है और उन्हें अछूत समझकर छोटी–छोटी चीजों से वंचित रखा जाता है। इस कहानी में दलित जीवन की करुण स्थिति का मार्मिक चित्रण मिलता है। कहानी में 'हरीश' एक दलित युवक है, जो पढ़ा–लिखा है और शादी कर रहा है। वह अपनी शादी के लिए गाँव आता है। इस शादी में उसका अजीज दोस्त 'कमल उपाध्याय' भी आ जाता है। कमल उपाध्याय सवर्ण ब्राह्मण है और परिवर्तनवादी विचारधारा से जुड़ा हुआ है। वह छुआछूत जैसी रूढ़िवादी

मानसिकता से ऊपर उठकर दलित–सवर्ण भेदभाव को मिटाने में विश्वास रखता है। कहानीकार वाल्मीकि जी ने सम्पूर्ण कहानी इन दो चरित्रों के इर्दगिर्द बुनी है। कहानी में ये दोनों चरित्र दलित जीवन के यथार्थ को उजागर करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

कहानी की शुरुआत में ही गाँव में दलितों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। हरीश की शादी में जो बाराती आये हैं, उनके रात में रुकने के लिए स्कूल के कमरे के दरवाजे न खोलना और हेडमास्टर का ताले की चाबी लेकर दूसरे गाँव चले जाना यही दर्शाता है कि गाँव में दलितों को किसी भी तरह का सहयोग नहीं मिलता है। बारातियों को स्कूल के बरामदे में सोने के लिए मजबूर होना पड़ता है। बरामदे में इतनी कम जगह है कि दूल्हा हरीश और उसका घनिष्ट मित्र कमल पैर फैलाकर भी नहीं बैठ सकता है। गाँव में दलितों के इन हालातों पर टिप्पणी करते हुए कमल कहता है कि, "गाँव के बारे में सिर्फ पढ़ा था। देखा आज ही है। हालत दयनीय है कितना धैर्य है लोगों में।" बेशक, गाँव में दलितों की स्थिति सोचनीय है। आज भी उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है। गाँव में दलितों के साथ होनेवाले भेदभावपूर्ण व्यवहार से कमल को सवर्ण होकर भी गुजरना पड़ता है। कहानी में इस प्रसंग की सटीक अभिव्यक्ति हुई है। कमल सुबह उठकर चाय की तलाश में गाँव का चक्कर लगाता है। रात में उसे एक स्थान पर छप्परनुमा दुकान मिल गई। वहाँ एक बूढ़ा आदमी बैठा बीड़ी पी रहा था। कमल ने उस बूढ़े से चाय के बारे में पूछा तो उसने जबाव दिया कि थोड़े समय में मिलेगी लेकिन बातों–बातों में जब बूढ़े को पता चलता है कि कमल 'चूहड़े' की बारात में आया है, तब वह उसे दलित समझकर चाय देने से साफ इनकार कर देता है। वह यह कहता है कि, "यहाँ चूहड़े–चमारों को मेरी दुकान में चाय ना मिलती ....कहीं और जाके पियो।" उसका यह कहना गाँव के लोगों की भेदभावपूर्ण कुत्सित मानसिकता को दर्शाता है।

ये सारे संदर्भ गाँव में दलित जीवन की स्थितियों को रेखांकित करते हुए भारतीय समाज व्यवस्था की जड़ता, रूढ़िवादिता और अमानवीयता को भी उजागर करते हैं।

4.4.2 कहानी की मूल संवेदना

प्रस्तुत कहानी में प्रारंभ से लेकर अंत तक दलित समुदाय की व्यथा सुनाई देती है। कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कहानी के आरंभ में ही दलित समाज की बारात में शामिल लोगों को जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, उसका संवेदनशील चित्रण किया है। इन बारातियों को न पानी की आवश्यक सुविधा उपलब्ध है, न ही बिजली की। उन्हें तो रात गुजारने के लिए जरूरी छह फीट जमीन भी नसीब नहीं हुई। इन सभी के पीछे केवल एक ही वजह रही है– बारातियों का दलित होना। बारातियों से बदतर दशा दूल्हे हरीश और उसके दोस्त कमल की हुई है। बहुत ज्यादा थके हुए होने के बावजूद उन्हें आराम से बैठकर पैर फैलाने एवं पीठ टिकाने भर के लिए जगह नहीं मिल रही है। दलितों की इस व्यथा को व्यक्त करने लिए कमल की यह अभिव्यक्ति ही काफी है–"रात भर की ही तो बात है किसी तरह गुजर जाएगी।" इस एक वाक्य में दलित जीवन की सम्पूर्ण वेदना व्यक्त हुई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दलितों की व्यथा यहीं समाप्त हो जाती है। यह तो बस शुरुआत है। यहाँ से व्यथा का सिलसिला शुरू होता है जो थमने का नाम ही नहीं लेता। सुबह होते ही कमल को चाय की खोज में भटकना पड़ता है। गाँव में एक जगह चाय की दुकान तो मिल जाती है, लेकिन वह दलितों का बाराती होने के कारण चाय से वंचित रह जाता है। यह

दलित जीवन की पीड़ा है कि उन्हें अछूत समझकर बुनियादी आवश्यकताओं से वंचित रखा जाता है और जाति–पाँति के बहाने अपमानित किया जाता है। कहानी के नायक हरीश को भी जातिगत भेदभाव के दुःखद अनुभव से गुजरकर अपमानित होना पड़ता है। हरीश के इस करुण अनुभव से पाठकों को कमल ही परिचित कराता है। इस घटना का स्थान कमल का अपना घर ही है। इसके बाद कहानी का सबसे बड़ा प्रसंग आता है, जिसमें दलित जीवन की मूल संवेदना अभिव्यक्त होती है। वह प्रसंग है– दलितों को शादी के बाद सवर्णों के दरवाजे पर 'सलाम' करने के रिवाज का सख्ती से पालन करने की मजबूरी। यह रिवाज दलितों के सम्मान एवं स्वाभिमान पर चोट करता है और उनके आत्मविश्वास को कमजोर करता है। ''हरीश ने जब–जब भी किसी दूल्हे या दुल्हन को इस तरह दरवाजे–दरवाजे घूमते देखा, उसे लगता था जैसे स्वाभिमान को चिंदी–चिंदी करके बिखेरा जा रहा है। गाजे–बाजे के साथ घूमता दूल्हा निरीह जीव दिखाई पड़ता था।'' कहानी के इस प्रसंग में दलित जीवन की केन्द्रीय संवेदना प्रकट हुई है।

4.4.3 गाँव में दलितों की सामाजिक स्थिति

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी ग्रामीण परिवेश पर आधारित है। इसमें ग्रामीण जीवन का सटीक चित्रण मिलता है। इस कहानी में वह गाँव है जो पुरानी मान्यताओं, रुढ़ियों और प्रथाओं में फँसा हुआ है। वह आजादी के कई सालों बाद भी वर्णव्यवस्था की जड़वादी मानसिकता से उबर नहीं पाया है। इसके कई संदर्भ प्रस्तुत कहानी में मिलते हैं। गाँव की कुत्सित मानसिकता का पहला उदाहरण चायवाले बूढ़े आदमी के रूप में सामने आता है। पहले तो वह बूढ़ा कमल को चाय देने के लिए राजी हो जाता है, लेकिन जब उसे पता चलता है कि कमल जुम्मन चुहड़ों का बाराती है यानी दलित है तब वह चाय देने से साफ इनकार कर देता है। असलियत यह है कि कमल ब्राह्मण है और अपने दलित मित्र हरीश की शादी में आया है, लेकिन बूढ़ा उसकी किसी बात पर यकीन नहीं करता है और अपनी जिद पर अड़ा रहता है और अपने जातीय घमंड में कहता है, "ये पैसे सहर में जाके दिखाना। दो पैसे हो गए जेब में तो सारी दुनिया को सिर पर उठाये घूमो...यह सहर नहीं गाँव है...यहाँ चूहड़े–चमारों को मेरी दुकान में चाय ना मिलती...कहीं और जाकर पियो।" यह बूढ़ा गाँव के लोगों की दूषित मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। मसला यहीं खत्म नहीं होता है और इसमें अन्य लोग भी जुड़ जाते हैं, जिसमें 'रामपाल' नामक पहलवान है जो गाँव के बल्लू रांघड का आदमी है। वह बूढ़े का पक्षधर बनकर खड़ा होता है और कमल को धमकाता है। रामपाल की अश्लील और हिंसक भाषा का नमूना देखिये–"ओ सहरी जनखे हम तेरे भाई हैं?–साले जबान सिभाल के बोल, जाके जुम्मन चूहड़े से रिश्ता बना। इतनी जोरदार लौंडिया लेके जा रहे सहर वाले, जुम्मन के तो सींग लिकड़ आये है। अरे लौंडिया को किसी गाँव में ब्याह बना देता तो म्हारे जैसे का भी कुछ भला हो जाता...जा चुपचाप चला जा...वरना एक भी जिंदा वापस जा नहीं सकेगा, ना बो लौंडिया भी जा पायेगी।" स्पष्ट है कि इस तरह की भाषा सवर्णों की दमित वासनाओं को व्यक्त करती है। यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि सदियों से दलित उत्पीड़न की घटनाएँ होती है। आज भी गाँव में दलित स्त्री और पुरुष दोनों भयभीत, उत्पीड़ित और असुरक्षित हैं। दलितों को हिंसा का शिकार बनाया जाता है। प्रस्तुत कहानी में भी हिंसा से आक्रान्त दलित जीवन के संदर्भ मिलते हैं और कहानीकार वाल्मीकि लिखते हैं, "कमल को लगा जैसे अपमान का घना बियाबान जंगल उग आया है। उसका रोम–रोम काँपने लगा। उसने आसपास खड़े लोगों पर निगाहें डाली। हिंसक शिकारी तेज नाखूनों से उस पर हमला करने की तैयारी कर रहे थे। उसने पहली बार अखबारों में

छपी उन खबरों को बड़ी शिद्दत से महसूस किया, जिस पर विश्वास नहीं कर पाता था वह। फलाँ जगह दलित युवक को पीट–पीटकर मारा डाला, फलाँ जगह आग में भून दिया।" जाहिर है कि वर्तमान समय में भी दलित सुरक्षित नहीं है। उन्हें आंतकित रहकर जीवन-यापन करना पड़ता है।

कहा जा सकता है कि गाँव की सामाजिक संरचना में दलितों की स्थिति सोचनीय और चिंताजनक है। गाँव में दलितों को कदम–कदम पर अपमानित और उत्पीड़ित होना पड़ता है।

4.4.4 वर्णव्यवस्था, जातिवाद, छुआछूत और बहिष्कार

भारतीय समाज की रचना वर्णव्यवस्था पर आधारित है और वर्णव्यवस्था में दलितों का स्थान अंतिम पायदान पर पाया जाता है। वर्णव्यवस्था में व्यक्ति के जन्म से ही उसका कर्म निर्धारित होता है और उसमें किसी तरह के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं होती है। वर्णव्यवस्था ने जन्म के आधार पर ही दलितों का कर्म सुनिश्चित किया है। उन्हें अपने ऊपर विराजमान तीनों वर्णों की सेवा, सुविधा और दासता करने का काम दिया गया है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि उन्हें विकास के सुअवसरों से वंचित रखा गया है। आजादी के कई सालों बाद भी दलितों की हालत में कोई अपेक्षित परिवर्तन नहीं आया है। आज भी दलितों को ही गंदगी साफ करने का काम करना पड़ता है। इसका प्रमाण प्रस्तुत कहानी में भी मिलता है। कहानी के नायक हरीश के पिता नगरपालिका में सफाई कर्मचारी हैं। उसकी सासू माँ गाँव में कई परिवारों में साफ–सफाई का काम करती थी। यह दलित जीवन की वास्तविकता है। बात केवल दलितों के जन्म आधारित व्यवसाय तक ही सीमित नहीं है। वह जाति-व्यवस्था पर आकर दलितों को निरुत्साहित करती है। उन्हें वर्णव्यवस्था के अंतिम पायदान पर रखकर अनेक जातियों–उपजातियों में विभाजित किया गया है। परिणाम स्वरूप चौथे पायदान के दलित लोग अपने आप में भी निम्न–उच्च का भेदभाव करते हैं। हमारे देश में व्यक्ति की पहचान जाति से होती है इसीलिए किसी भी अपरिचित आदमी से पूछा जाता है कि आप किस बिरादारी से हैं। दलितों को अपनी जाति के कारण कई जगह पर बदनाम होना पड़ता है। दलित समाज जाति व्यवस्था, छुआछूत और बहिष्कार जैसी क्रूर, अमानवीय और असंवैधानिक धारणाओं में अटका हुआ है। 'सलाम' कहानी में जातिवाद, छुआछूत और बहिष्करण के कई उदाहरण मिलते हैं। जैसे कि एक बुजुर्ग कमल को नया बाराती पाकर उसकी बिरादरी पूछता है। कमल को चायवाला बूढ़ा चूहड़े का बाराती होने से चाय देने से मना कर देता है। कमल की माँ का हरीश की जाति जानकर उसके प्रति किया गया बर्ताव तो दिल दहला देनेवाला है। कहानी में प्रसंग इस तरह रेखांकित हुआ है– कमल और हरीश बचपन से मित्र रहे हैं। एक दिन हरीश कमल के साथ उसके घर चला जाता है। कमल की माँ दोनों को खाना परोसती है। दोनों खाना–खाने बैठ जाते हैं। हरीश पहला निवाला अपने मुख में रखने वाला होता है तभी कमल की माँ उससे पूछती है कि तुम्हारे पिताजी क्या काम करते हैं। हरीश बिना हिचकिचाहट के बता देता है कि वह नगरपालिका में सफाई कर्मचारी हैं। यह सुनकर कमल की माँ आग बबूला होकर कमल को जोरदार थप्पड़ मारती है और कहती है, "पता नहीं कहाँ–कहाँ से इन कंजड़ों को पकड़कर घर ले आता है। खबरदार जो आगे से किसी हरामी को दुबारा यहाँ लाया।" इतना ही नहीं माँ ने हरीश को गालियाँ देकर भगा दिया और उसके जाने के बाद घर को दुबारा धोया एवं गंगाजल छिड़ककर जमीन को पवित्र किया। स्पष्ट है कि दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है और उन्हें लांछित किया जाता है।

4.5 कथ्य के अन्य आयाम

प्रस्तुत कहानी दलितों के आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक परिवेश के साथ–साथ समाज परिवर्तन के स्रोतों से भी साक्षात्कार कराती है। दलित जीवन के इन पहलुओं का विवेचन इस कहानी के परिप्रेक्ष्य में हम इस प्रकार कर रहे हैं।

4.5.1 दलितों की आर्थिक स्थिति

सामाजिक जीवन की प्रतिष्ठा बहुधा व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है। समाज में छोटे–बड़े तथा उच्च–निम्न का निर्णय आर्थिक पैमाने पर सुनिश्चित किया जाता है। पूँजी अब समाज की नब्ज–सी बन गई है इसीलिए दलितों की आर्थिक स्थिति पर चिंतन करना अनिवार्य बन जाता है।

सदियों से दलितों का जीवन अभावग्रस्त रहा है। दलित अपनी आजीविका के लिए ज्यादातर शारीरिक श्रम के काम करते हैं। वे साफ-सफाई से लेकर हर वह काम करते हैं, जिसे करने में दूसरे आदमी परहेज करते हैं। रात–दिन मेहनत करने के बावजूद दलितों की आर्थिक स्थिति में बदलाव नहीं आया है। आजादी के बाद भी कुछ गिने–चुने लोगों को छोड़कर दलितों की वही स्थिति बनी हुई है। 'सलाम' कहानी दलितों की आर्थिक स्थिति को उजागर करते हुए उनके जीवन संघर्ष को प्रस्तुत करती है। कहानी में कई आर्थिक संदर्भ मिलते हैं, जो दलित जीवन की कठिनाइयों को रेखांकित करते हैं। कहानी में हरीश को अपने छोटेपन का अहसास तब होता है, जब वह कमल के घर जाता है। कमल की माँ उसके पिताजी के काम के संदर्भ में पूछती है और यह जानकर उसे घर से बाहर गालियाँ देते हुए निकाल देती है कि उसके पिता नगरपालिका में सफाई कर्मचारी हैं। कमल की माँ अपने बेटे से कहती है, "बेटे, इनके संस्कार गलत हैं, ये छोटे लोग हैं। इनके साथ बैठने से बुरे विचार मन में पैदा होते हैं।" जाहिर है कि इस भेदभाव का कारण जितनी जातिवादी मानसिकता है, उतनी ही आर्थिक विषमता भी है। यदि हरीश के पिता प्रथम श्रेणी के किसी ऊँचे पद पर विराजमान होते, तो शायद उसे इस तरह से बेईज्जत होने की नौबत नहीं आती। कहानी में दूसरा आर्थिक संदर्भ तब आता है, जब हरीश को शादी के बाद रस्म के रूप में गाँव के रांघडों के घर 'सलाम' करने के लिए जाने को कहा जाता है। चूँकि हरीश की सास गाँव में कई परिवारों में साफ–सफाई का काम करने के लिए जाती है। एक ओर हरीश और उसके पिताजी इस बात से इनकार करते हैं, तो दूसरी ओर हरीश का ससुर कहता है– "बाप–दादों की रीत है, एक दिन में तो न छोड़े जावे हैं। वे बड़े लोग हैं। 'सलाम' पे तो जाना ही पड़ेगा। और फिर जल में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना तो ठीक नहीं है। और इसी बहाने कपड़ा–लत्ता, बर्तन–भांडे भी नेग–दस्तूर में आ जाते हैं।" यह कथन दलितों की आर्थिक मजबूरी और सवर्णों की आर्थिक मजबूती को दर्शाता है। कहीं न कहीं समाज की जड़ें अर्थ तत्व से ही तो जुड़ी हुई हैं। अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि वही पेड़ तनकर खड़े होते हैं, जिनकी जड़ें मजबूत होती हैं।

4.5.2 आधुनिक शिक्षा और दलित

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कहानी 'सलाम' में दलितों की शैक्षिक स्थिति को भी संदर्भित किया है। इस कहानी का नायक हरीश एक सुशिक्षित दलित युवक है और उसकी होनेवाली पत्नी ने भी दसवीं तक पढ़ाई पूरी की है। हरीश के पिताजी नगरपालिका में कर्मचारी हैं,

जबकि उसके ससुर जुम्मन ऋषिकेश में सरकारी कर्मचारी हैं। "जुम्मन की बड़ी लड़की बाप के साथ ऋषिकेश में रहती थी, सरकारी मकान में। आस–पड़ोस की देखा–देखी जुम्मन ने उसे भी स्कूल में भेज दिया। देखते–देखते उसने हाईस्कूल की परीक्षा पास कर ली थी। साथ ही उसमें सुघड़ता भी आ गई थी। अच्छा परिवेश पाकर उसमें बदलाव आ गया था। गाँव भर की लड़कियों से अलग दिखाई पड़ती थी। वैसे इस गाँव की वह पहली लड़की थी जिसने हायस्कूल पास किया था।" स्पष्ट है कि धीरे–धीरे दलित शिक्षा के साथ जुड़ रहे हैं और अपनी स्थिति में सुधार करने हेतु शिक्षा को महत्त्वपूर्ण माध्यम मान रहे हैं। बावजूद इसके दलितों की शिक्षा के खिलाफ सवर्ण मानसिकता काम कर रही है और उनकी शिक्षा में रोड़ा बन रही है। सवर्णों की कुत्सित मानसिकता का भंडाफोड़ वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी में किया है। प्रस्तुत कहानी में जमींदार बल्लू रांघड हरीश के ससुर जुम्मन पर न केवल अपना हुकुम चलाता है, बल्कि उन्हें शिक्षा से दूर रहने की सख्त हिदायत देता है। जैसे– "तभी तो कहूँ–जातकों (बच्चों) कू स्कूल ना भेज्जा करो। स्कूल जाकर इन्हें कौन–सा बालिस्टर बनना है। ऊपर से इनके दिमाग चढ़ जांगे। यो न घर के रहेंगे न घाट के। गाँव की नाक तूने पहले ही कटवा दी जो लौंडिया कू दसवीं पास करवा दी क्या जरूरत थी लड़की को पढ़ाने की, गाँव की हवा बिगाड़ रहा है तू।" हमेशा से ही सवर्ण की मानसिकता दलित शिक्षा की विरोधी रही है। सवर्ण नहीं चाहते हैं कि दलित समाज पढ़–लिखकर आगे बढ़े और उनकी अधीनता से मुक्ति प्राप्त कर सके।

यह सभी संदर्भ दलित जीवन में शिक्षा के बढ़ते महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। निश्चय ही आधुनिक शिक्षा की प्राप्ति से दलितों के जीवनयापन का स्तर ऊँचा हो रहा है। आधुनिक शिक्षा के महत्त्व को दलित समाज भलीभांति समझ गये हैं। इसी शिक्षा के माध्यम से वे अपने जन्म आधारित कर्म से मुक्ति पाकर रोजगार के नये अवसर खोज रहे हैं। वे पढ़–लिखकर सरकारी नौकरी कर रहे हैं और गाँव के जमींदार की गुलामी से आजादी प्राप्त कर रहे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आधुनिक शिक्षा दलितों के लिए गुलामी से मुक्ति का राजमार्ग बन गई है।

4.5.3 सामजिक–सांस्कृतिक परिवेश और दलित

वर्णवादी सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना में दलितों को न केवल दोयम दर्जे का स्थान मिलता है, अपितु उन्हें सामाजीकरण की प्रक्रिया से भी दूर रखा जाता है। 'सलाम' कहानी दलितों के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश को बड़ी शिद्दत से उभारती है। प्रस्तुत कहानी में दलितों की सामाजिक–सांस्कृतिक स्थिति, यथार्थ और वास्तविकता को 'विवाह' प्रसंग के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है। कहानी का नायक हरीश दलित है। उसकी शादी गाँव में हो रही थी। उसकी शादी में उसका मित्र कमल भी शामिल हुआ है। चूहड़े की बारातियों के लिए जरूरी पानी, बिजली और जगह न मिलना गाँव में दलितों की सामाजिक दशा का परिचायक है। कमल को दलित बाराती कहकर चाय से वंचित रखना भी गाँव में दलितों की वास्तविक स्थिति को रेखांकित करता है। हरीश को छुआछूत के अनुभव से गुजरना पड़ता है। उसका यह अनुभव सामाजिक भेदभाव का मार्मिक उदाहरण है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी की केन्द्रीय संवेदना दलितों की सामाजिक–सांस्कृतिक स्थिति से जुड़ी हुई है। इस कहानी में दलित समाज द्वारा सदियों से निभाई जा रही 'सलाम' की रस्म का संवेदनशील चित्रण मिलता है। 'सलाम' की यह प्रथा ही कहानी के केंद्र में है, जिसे दलितों के पूर्वज बिना सहमति के चलाये जा रहे हैं। प्रस्तुत कहानी के ये संदर्भ दलितों के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश को साकार करते हैं– "जुम्मन की

घरवाली जिन परिवारों में काम करती थी, उनमें अधिकतर रांघड़ थे। गाँव–देहात के नियम–कायदे के हिसाब से हरीश को बिदाई से पहले रांघड़ों के दरवाजे पर जाना था। यह एक रस्म थी। जिसे न जाने कितनी सदियों से निभाया जा रहा था।" "दामाद हो या नई–नवेली दुल्हन 'सलाम' के लिए घर–घर जाने का रिवाज है, जो हमने नहीं पुरखों ने बनाया था। जिसे इस तरह छोड़ देना ठीक नहीं हैं। गाँव में रहना है। दस जरूरतें हैं।" यह सभी संदर्भ दलितों के सांस्कृतिक जीवन की वास्तविकता रेखांकित करते हैं। विडंबना है कि दलितों को अपने आत्मसम्मान को सवर्णों के पास गिरवी रखकर इस तरह की रस्म का निर्वहन करना पड़ता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कहानी में दलितों के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन अनुभवों की सटीक अभिव्यक्ति मिलती है।

4.5.4 परिवर्तन के प्रस्थान बिन्दु और व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह

दलित विमर्श में 'शिक्षा' का असाधारण महत्त्व रहा है। दलितों के प्रेरणा स्रोत डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर का मानना था कि शिक्षा से मनुष्य के जीवन में बेहतर परिवर्तन आ सकता है। सामाजिक रुढ़ियों को तोड़ने के लिए शिक्षा से बड़ा कोई दूसरा औजार नहीं है। बाबा साहब की इस बात को दलित समाज अच्छी तरह से समझ गया है और अपनी आनेवाली पीढ़ियों को शिक्षा की धारा से जोड़ रहा है। जाहिर है कि शिक्षा ही दलितों के जीवन में परिवर्तन का प्रस्थान बिन्दु बन गई है। यह कहानी इसका बेहतरीन उदाहरण है। प्रस्तुत कहानी का मुख्य चरित्र हरीश है। वह एक पढ़ा–लिखा दलित युवक है। उसमें उचित–अनुचित का विवेक है इसीलिए वह 'सलाम' जैसी रस्म का विरोध करता है और स्पष्ट शब्दों में कहता है, "मैं अपरिचितों के दरवाजे 'सलाम' पर नहीं जाऊँगा।" इतना ही नहीं वह इस कुप्रथा के खिलाफ विद्रोह करता हुआ साहसी स्वर में बोलता है, "आप चाहे जो समझें मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह 'सलाम' की रस्म बंद होनी चाहिए।" दरअसल, हरीश में यह हिम्मत शिक्षा की बदौलत है। शिक्षा ही मनुष्य के बुनियादी विचारों में परिवर्तन लाती है और उसे पारंपरिक रिवाजों की समालोचना करने की शक्ति प्रदान करती है। हरीश द्वारा व्यवस्था के प्रति किया गया यह विद्रोह इसका एक उदाहरण है, "दोपहर होते–होते बात पूरे गाँव में फैल गई। जुम्मन के जंवाई ने 'सलाम' पर आने से मना कर दिया है। गाँव के रांघड बल्लू रांघड की चौपाल पर जुटने लगे थे। ऐसा लग रहा था जैसे जोहड़ के पानी में किसी ने कंकड़ फेंक दिया हो। गोल–गोल लहरें घूमकर किनारे तक फैल गईं थीं। रांघड गुस्से में फनफनाय घूम रहे थे।" जाहिर है कि सदियों की प्रचलित प्रथा के खिलाफ जाना कोई मामूली बात नहीं है और किसी साधारण आदमी का काम नहीं है। अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि हरीश के लिए यह केवल डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के परिवर्तनकामी मूल्यों का अनुयायी होने से संभव हुआ है।

बोध प्रश्न 2

1) 'सलाम' कहानी में दलित जीवन का मार्मिक चित्रण हुआ है, दो–तीन वाक्यों में विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

2) 'सलाम' कहानी के संदर्भ में ग्रामीण संरचना में दलितों की सामाजिक स्थिति का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

3) 'सलाम' कहानी में जातिवाद, छुआछूत और बहिष्करण की समस्या का चित्रण हुआ है, स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

4) 'आधुनिक शिक्षा और दलित' पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

अभ्यास

1. 'सलाम' कहानी में दलित जीवन के परिवर्तन के प्रस्थान बिन्दुओं से साक्षात्कार होता है, विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

2. 'सलाम' कहानी के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश प्रकाशित कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

4.6 सलाम : संरचनागत विशिष्टता

किसी भी रचना को साकार करने में जितनी उसकी अंतर्वस्तु का योगदान होता है, उतना ही उसकी संरचना का भी। रचना की संरचना में भाषा, संवाद और शैली की स्वरूपगत विशेषताओं पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी की अंतर्वस्तु जितनी संवेदनशील है, उतनी उसकी संरचना भी आकर्षक, विशिष्ट और सुंदर है। यहाँ हम 'सलाम' कहानी की संरचनागत विशिष्टताओं का विवेचन कर रहे हैं।

4.6.1 संप्रेषणीय भाषा

भाषा की स्पष्टता, सरलता और प्रवाहमयता रचना को संप्रेषणीय बनाती है। ओमप्रकाश जी अपनी रचना की भाषा के प्रति हमेशा सजग रहते थे। उनकी 'सलाम' कहानी की भाषा में संवेदनशीलता, सजीवता, चित्रात्मकता और सार्थकता है। उनकी भाषा दलित जीवन के दाहक अनुभवों को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। एक उदाहरण देखिये– "कमल कोई बवेड़ा खड़ा करना नहीं चाहता था। सीने में उठ रहे ज्वार को उसने शांत रखा। उसे हरीश का खयाल आ गया। वक्त की नजाकत भाँपकर चुप रह जाना ही ठीक लगा। सड़क से उतरकर वह रेतीले रास्ते पर आ गया। उसकी रग–रग में अंगारे दहक रहे थे। लड़कों का झुंड उसके पीछे लग गया था। वे कमल को चिढ़ाने का प्रयास करने लगे।" स्पष्ट है कि वाल्मीकि की भाषा भावाभिव्यक्ति में सार्थक रही है। वे दलित जीवन के अनुभवों को सजीवता प्रदान करने के लिए ग्रामीण बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते हैं। चूँकि इस कहानी में ग्रामीण परिवेश का चित्रण है और ग्रामीण यथार्थ को उन्हीं की भाषा में प्रतिपादित किया जा सकता है। प्रस्तुत कहानी में गाँव के सभी चरित्रों की भाषा में बोलचाल के शब्दों का प्रयोग किया गया है। ग्रामीण चायवाले की भाषा का नमूना देखिये– "चाय मिलेगी...थोड़ा टेम लगेगा...बस अभी हो जागी...भट्टी सुलग री है। बैट्ठो आप।" इसी तरह गाँव के पहलवान रामपाल की भाषा देखिये– " चाच्चा, कोण है यो। कओ सहरी जनखे हम तेरे भाई हैं?।" इतना ही नहीं कहानीकार ने ग्रामीण चरित्रों के मुख से निकलने वाली गालियों को भी अपनी भाषा में स्थान दिया है। जैसे रामपाल गुस्से में गालियों का इस्तेमाल करता है – "साले जबान सिभाल के

बोल"... कमल की माँ भी हरीश के लिए गालियाँ देते हुए कहती है– "पता नहीं कहाँ–कहाँ से इन कंजड़ों को पकड़कर घर ले आता है। खबरदार आगे से किसी हरामी को दुबारा यहाँ लाया।" जाहिर है इन पात्रों की भाषा ही ग्रामीण परिवेश को सजीवता प्रदान करती है। कहानी को विशिष्टता प्रदान करने में ग्रामीण पात्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

कहानीकार वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी में चित्रात्मक भाषा का प्रयोग किया है। प्रस्तुत कहानी में कई ऐसे शब्द–चित्र देखने को मिलते हैं, जो कथानक की रोचकता को बढ़ाने में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाते हैं। चित्रात्मक भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है– "भट्टी के पास ही अल्युमिनियम की एक बड़ी–सी केतली रखी थी। जिसका रंग स्याह काला पड़ गया था। कुछ काँच के मटमैले गिलास, कप प्लेटें और शीशे के एक जार में कुछ बिस्कुट पड़े थे। भगोना बाहर से काला और भीतर से भूरा, मटमैला दिखाई पड़ रहा था। आसपास मक्खियों के झुंड के झुंड भिनभिना रहे थे।" अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि चित्रात्मक भाषा रचना को सजीव बना देती है और ताजगी से भर देती है।

भाषा को प्रभावशाली बनाने में प्रतीक और बिम्ब विधान का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। 'सलाम' कहानी में बोलचाल की भाषा का प्रयोग अधिक मिलता है, फिर भी आवश्यकता अनुरूप कहानीकार ने प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है। 'सलाम' कहानी में प्रयुक्त प्रतीकात्मक भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है– "कमल को लगा जैसे अपमान का घना बियाबान जंगल उग आया है। उसका रोम–रोम काँपने लगा। उसने आसपास खड़े लोगों पर नजर डाली। हिंसक शिकारी तेज नाखूनों से उस पर हमला करने की तैयारी कर रहे थे।" यहाँ भाषा की प्रतीकात्मकता मनुष्य की हिंसक प्रवृत्ति की सटीक अभिव्यक्ति करती है। भाषा को प्रभावी बनाने में बिम्ब अपनी विशेष भूमिका निभाते हैं। 'सलाम' कहानी में मनुष्य के संघर्षमय जीवन के अद्वितीय बिम्ब दिखाई देते हैं। यथा– "कमल दीवार के सहारे टिककर बैठ गया। चुपचाप। जैसे विचारों की सुनसान पगडंडियों पर अकेला विचरण कर रहा हो।" स्पष्ट है कि बिम्ब के प्रयोग से भाषा में रोचकता और सजीवता आती है। अतः रचना की भाषा में प्रतीकों और बिम्बों का असाधारण महत्त्व होता है।

4.6.2 चरित्र–योजना और संवाद–कौशल

इस 'सलाम' कहानी की चरित्र-योजना और संवाद-कौशल विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं। इस कहानी में दो चरित्र मुख्य हैं– हरीश और कमल। हरीश का चरित्र दलित जीवन का प्रतिनिधित्व करता है और कमल ब्राह्मण है। इन दोनों चरित्र के इर्दगिर्द समूची कथा बुनी गई है। दोनों चरित्र परिवर्तनवादी विचारधारा से जुड़े हुए हैं और दलित उत्थान के लिए जद्दोजहद करते हुए दिखाई देते हैं। वे उन तमाम प्रथाओं, रूढियों और मान्यताओं का विरोध करते हैं, जो दलित समाज की प्रगति में बाधक बनी हुई हैं। दोनों ही सामाजिक समता के समर्थक हैं। इसका एक उदाहरण यह है कि जब कमल को एक बुजुर्ग बाराती पूछता है– "कौन बिरादरी हो।" तब हरीश कहता है– ताऊ, क्या इतना काफी नहीं है कि यह मेरा दोस्त है, और मेरी बारात में शामिल है?।" कमल भी गाँव की कुत्सित मानसिकता का विरोध करते हुए स्त्री के सम्मान में आवाज उठाता है। वह कहता है, "क्या यही है गाँव का अतिथि सत्कार। आप लोग अपनी ही गाँव की लड़की के लिए ऐसी बातें कर रहे हो। क्या वह इस गाँव की लड़की नहीं है?" जाहिर है कि वाल्मीकि ने दोनों चरित्र का निर्माण बड़ी ही

सूझ–बूझ के साथ किया है। प्रस्तुत कहानी में इन दो पात्रों के अलावे भी कुछ महत्त्वपूर्ण चरित्र हैं, जिनमें चायवाला बुद्धू, पहलवान रामपाल, हरीश का ससुर जुम्मन, हरीश के पिता, कमल की माँ, बल्लू रांघड आदि हैं। कहानीकार ने सभी चरित्रों का निर्माण कथानक की माँग के अनुसार किया है। इन सभी चरित्रों के चयन में कहानीकार वाल्मीकि की प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

कथानक को पठनीय बनाने में संवाद कौशल का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। संवाद ही कथानक में जान डालने का काम करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी में छोटे, सरल और प्रभावी संवादों का प्रयोग किया है, जिससे कथानक में ताजगी आ गई है। कमल और चायवाले के बीच हुए वार्तालाप का एक दृष्टांत प्रस्तुत है– "नए दिख रहे हो बाबू जी...कहाँ से आये हो?" चायवाले ने बात शुरू की।

"देहरादून से।"– कमल ने सहजता से कहा।

देहरादून का नाम सुनकर चायवाला चौंका, "देहरादून से तो कल एक बारात भी आई है।" चायवाले ने प्रश्न की तरह पूछा।

"हाँ। मैं उसी बारात में आया हूँ।"

"वह बारात तो चुहड़ों के यहाँ आई है।" चायवाले की जिज्ञासा गोली में बदल चुकी थी।

"तो क्या हुआ।" कमल ने सवाल किया।

जाहिर है कि इन संवादों से कथानक में रोचकता और सरसता आ गई है। यह संवाद कथानक को जीवित बनाने में अपनी विशिष्ट भूमिका अदा करते हैं। इनके बिना कहानी नीरस और ऊबाऊ बन जायेगी। निस्संदेह कथानक को सजीवता प्रदान करने में संवाद-कौशल का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

4.6.3 शैली की विविधता

शैली की विविधता रचना को सुंदर, सरस और प्रभावी बनाती है। हर रचनाकार के पास अपनी एक विशिष्ट शैली होती है। उसकी यह विशिष्टता उसे उसके समकालीन रचनाकारों में एक अलग पहचान दिलाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाओं में भी उनकी अपनी विशिष्ट शैली दृष्टिगोचर होती है। यहाँ उनकी 'सलाम' कहानी में प्रयुक्त शैलीगत विशेषताओं का हम विवेचन कर रहे हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी में वर्णन, प्रश्न, व्यंग्य आदि शैली का प्रयोग किया है। वर्णन शैली किसी प्रसंग को प्रस्तुत करने में सहायक होती है। कहानीकार वाल्मीकि ने शादीवाले घर की हलचल का वर्णन इन शब्दों में किया है, "सूरज सिर के ऊपर चढ़ गया था। शादीवाले घर में काफी चहल–पहल थी। दोपहर के खाने में विशेष इंतजाम किया गया था। पास के कस्बे से 'नान' और 'मीट' बनाने के लिए कारीगर बुलाया गया था। एक ताजा मोटा बकरा काटा गया था। पके हुए मीट और गर्म मसाले की महक पूरे आँगन में फैल गई थी। कुछ लोग सुबह से दारू पीने बैठ गए थे। काफी हो–हल्ला होने लगा था। बच्चों की चिल्ल–पों अलग थी।" स्पष्ट है कि वर्णन शैली से कथानक में पठनीयता आ गई है।

वाल्मीकि जी ने प्रश्न शैली का भी बखूबी प्रयोग किया है। वे कहानी में समाज व्यवस्था की जड़ मानसिकता को उजागर करने के लिए प्रश्न शैली का इस्तेमाल करते हैं। प्रस्तुत कहानी

में कमल की माँ अपने मन में दलितों के बारे में गलत धारणाएँ पाल बैठी है। कमल अपनी माँ की इन निराधार मान्यताओं का खंडन करने के लिए उनसे सवाल पूछता है– "तुम कभी उनके घर गई हो? उनसे मिली हो? फिर कैसे जानती हो कि वे बुरे लोग हैं?" जाहिर है कि व्यवस्था को प्रश्नांकित करने के लिए प्रश्न शैली उपयुक्त रही है।

कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि व्यंग्य शैली से समाज की विसंगतियों का पर्दाफाश करते हैं। यह कितनी विडम्बना की बात है कि दलित समाज के लोग भी अपने ही लोगों में भेदभाव करते हुए ऊँचा–नीचा ढूँढ़ने में लग जाता है। 'सलाम' कहानी में चायवाला अपनी जाति को श्रेष्ठ समझता है और चूहड़े के बाराती कमल को निम्न जाति का कहता है। वाल्मीकि ने इस प्रसंग को व्यंग्य शैली में प्रस्तुत किया है। जैसे :

"यहाँ चूहड़े–चमारों को मेरी दुकान में चाय ना मिलती...कहीं और जाकर पियो।" बूढ़े चायवाले ने कहा।

"चूहड़े–चमारों को नहीं मिलती है तो किसे मिलती है।" कमल बोला।

"तुम्हारी जात क्या है?" कमल ने साहस करके पूछा।

"मेरी जात से तुझे क्या लेना–देना। अब चूहड़े–चमार भी जात पूछने लगे...कलजुग आ गया है कलजुग।" बूढ़ा चायवाला बोला।

इस प्रसंग में व्यंग्य शैली का प्रयोग किया गया है। यह हमारे समाज का दुर्भाग्य है कि छोटी जातिवाला आदमी भी दलित को अपने से छोटा या अछूत समझता है। इसका सटीक प्रतिपादन व्यंग्य शैली से संभव हुआ है।

अतः कहा जा सकता है कि शैली की विविधता रचना को आकर्षक, प्रभावी और सुंदर बनाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भी अपनी एक खास शैली से अपने लेखन को धारदार बनाया है।

बोध प्रश्न 3

1) 'सलाम' कहानी की भाषागत विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

2) ओमप्रकाश वाल्मीकि के संवाद कौशल को रेखांकित कीजिए।

....

....

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

3) 'सलाम' कहानी में शैलीगत विविधता है, विश्लेषण कीजिए।

....

....

....

....

....

4.7 सारांश

अस्मितामूलक लेखन की शुरुआत को समकालीन हिंदी साहित्य में एक नये युग का आरंभ माना गया। सदियों से जो समाज हाशिये पर था, वह धीरे-धीरे विमर्श के केंद्र में आने लगा। अभी तक जो साहित्य केवल मध्यवर्गीय संवेदना तक अटका था, अब वह स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, विकलांग, किन्नर आदि की वेदना को स्वर देने लगा। इस लेखन में अस्मितामूलक लेखन को प्राथमिकता मिली। 'दलित साहित्य' भी इसी अस्मितामूलक लेखन की एक प्रमुख धारा के रूप में विकसित हुआ है। दलित विमर्श की शुरुआत सबसे पहले मराठी में हुई, तत्पश्चात वह हिंदी में आया। हिंदी में दलित साहित्य लेखन की लम्बी परंपरा रही है। हीरा डोम से लेकर आज तक सैकड़ों रचनाकार दलित विमर्श को मजबूती प्रदान करने का कार्य कर रहे हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य लेखन के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य की विविध विधाओं में दलित चेतना की अभिव्यक्ति की है। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। उनके चार कविता संग्रह, एक आत्मकथा, चार कहानी संग्रह, दो नाटक और आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका समस्त लेखन दलित विमर्श को समर्पित है। उनके लेखन से दलित साहित्य ही नहीं, अपितु समकालीन हिंदी साहित्य भी समृद्ध हुआ है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि विरचित 'सलाम' एक बहुचर्चित कहानी है। इस कहानी से गुजरते हुए जहाँ एक ओर समकालीन दलित जीवन की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति का पता चलता है, वहीं दूसरी ओर विकासशील भारत की पारंपरिक-रूढ़िवादी तस्वीर उभरती है। गौरतलब है कि आजादी के इतने सालों बाद भी दलितों को छुआछूत, जातिवाद और गुलामी की समस्या का सामना करना पड़ता है। आज भी गाँव में दलितों को जीवनावश्यक चीजों से केवल इसीलिए वंचित रखा जाता है कि वे अछूत हैं और उनके छूने से सवर्ण अपवित्र हो जाता है। यह कैसी विडंबना है कि दलितों को मनुष्य न समझकर उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। 'सलाम' जैसी अनिष्ट प्रथा न केवल दलितों के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाती है, बल्कि वर्णवादी सवर्णों की कुत्सित मानसिकता को बल भी प्रदान करती है। प्रस्तुत कहानी में एक तरफ दलित जीवन के दुःख, दर्द और वेदना को अभिव्यक्ति मिली है, तो दूसरी तरफ सवर्णों के अमानवीय चेहरे और अनैतिक चरित्र का पर्दाफाश किया गया है। इतना ही नहीं कहानी में आधुनिक शिक्षा की ताकत और परिवर्तन के स्रोतों से भी परिचय होता है। अतः कहानी की अंतर्वस्तु यथार्थवादी होने से काफी सशक्त बन गई है।

'सलाम' कहानी का अभिव्यक्ति पक्ष भी उल्लेखनीय है। कहानीकार वाल्मीकि ने संप्रेषणीय भाषा में भावों की अभिव्यक्ति की है। सरलता, सुबोधता और स्पष्टता इनकी भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ है। ग्रामीण परिवेश को सजीव बनाने के लिए उन्होंने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता उनकी भाषा को और अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। 'सलाम' कहानी की चरित्र-योजना और संवाद-कौशल भी विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं। कहानीकार ने चरित्र के चयन में जहाँ अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, वहीं संवाद-कौशल में भी अपना हुनर दिखाया है। परिणाम स्वरूप यह कहानी बहुत आकर्षक, रोचक और पठनीय बन गई है। शैली की विविधता ने भी इस कहानी में प्राण भर दिए हैं। इस कहानी की संरचनागत विशेषताएँ पाठकों की उत्सुकता, जिज्ञासा और उत्साह बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

कुल मिलाकर ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी से गुजरने के बाद कहा जा सकता है कि यह एक अद्वितीय रचना है। यह कहानी संवैधानिक मूल्यों की स्थापना करने की जद्दोजहद करती है। एक स्वस्थ, सभ्य और समतावादी समाज के निर्माण में इस रचना का अमूल्य योगदान रहा है।

4.8 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. समकालीन हिंदी साहित्य में दलित लेखन का आविर्भाव 1990 ई. के आसपास हुआ है। साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्ति प्रथमतः आत्मकथा विधा में हुई है। आत्मकथा विधा के बाद दलित चेतना की सबसे ज्यादा अभिव्यक्ति कहानी विधा में हुई है। दलित साहित्यकारों ने अपने जीवन के दाहक प्रसंगों को कहानियों में भी अभिव्यक्त किया है।

2. मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' को हिंदी की पहली दलित आत्मकथा माना जाता है। इसका प्रकाशन 1995 ई. में हुआ था। इसके उपरांत हिंदी की बहुचर्चित आत्मकथा 'जूठन' का प्रकाशन 1997 ई. में हुआ, जिसके रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। यहाँ से आगे श्रृंखलाबद्ध दलित आत्मकथाएँ प्रकाशित होने लगीं, जिनमें सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी', श्यौराजसिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' आदि आत्मकथाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

3. दलित कहानी लेखन परंपरा में सर्वप्रथम नाम आता है– ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी का। इसके उपरांत सूरजपाल चौहान का कहानी संग्रह 'हैरी कब आएगा' प्रकाशित हुआ। इसी अनुक्रम में मोहनदास नैमिशराय के 'आवाजें', 'हमारा जवाब', जयप्रकाश कर्दम का 'तलाश', रमणिका गुप्ता का 'बहू जुठाई', प्रल्हाद चंद बोस के 'पुंटस के फूल', शरणकुमार लिम्बाले का 'दलित ब्राह्मण' आदि कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

4. ओमप्रकाश वाल्मीकि का पहला कविता संग्रह 'सदियों का संताप' 1989 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त 1997 ई. में 'बस्स! बहुत हो चुका', 2009 ई. में 'अब और नहीं' 'शब्द झूठ नहीं बोलते' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी सबसे लोकप्रिय रचना 'जूठन' है। 'सलाम' उनका प्रथम कहानी संग्रह है। 'घुसपैठिये' उनका दूसरा कहानी संग्रह है। इसके अलावा इनके 'अम्मा एंड अदर स्टोरीज' और 'छतरी' कहानी संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। वाल्मीकि जी की आलोचनात्मक कृतियों में 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', मुख्यधारा और दलित साहित्य', सफाई देवता, 'दलित साहित्य : अनुभव, संघर्ष और यथार्थ' आदि प्रकाशित हैं। इनके दो नाटक भी प्रकाशित हैं– 'दो चेहरे', 'उसे वीर चक्र मिला था'। अनुवाद के क्षेत्र में भी वाल्मीकि जी ने उल्लेखनीय कार्य किया हैं।

बोध प्रश्न 2

1. 'सलाम' कहानी दलित जीवन को केंद्र बनाकर लिखी गयी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रस्तुत कहानी में दशा और हालात, दलित समाज की स्थिति-परिस्थिति का संवेदनशील चित्रण किया है। आजादी के इतने सालों बाद भी गाँव में दलित समाज को छुआछूत की समस्या का सामना करना पड़ता है और उन्हें अछूत समझकर छोटी–छोटी चीजों से वंचित रखा जाता है।

2. इस कहानी में वह गाँव है जो पुरानी मान्यताओं, रुढ़ियों और प्रथाओं में फँसा हुआ है। वह आजादी के कई सालों बाद भी वर्णव्यवस्था की जड़वादी मानसिकता से उबर नहीं पाया है। इसके कई संदर्भ प्रस्तुत कहानी में मिलते हैं। गाँव की कुत्सित मानसिकता का पहला उदाहरण चायवाले बूढ़े आदमी के रूप में सामने आता है। पहले तो वह बूढ़ा कमल को चाय देने के लिए राजी हो जाता है, लेकिन जब उसे पता चलता है कि कमल जुम्मन चुहड़ों का बाराती है यानी दलित है तब वह चाय देने से साफ इनकार कर देता है।

3. 'सलाम' कहानी में जातिवाद, छुआछूत और बहिष्करण के कई उदाहरण मिलते हैं। जैसे कि एक बुजुर्ग कमल को नया बाराती पाकर उसकी बिरादरी पूछता है। कमल को चायवाला बूढ़ा चूहड़े का बाराती होने से चाय देने से मना कर देता है। कमल की माँ हरीश की जाति जानकर उसे गालियाँ देकर घर से निकाल देती है और उसके जाने के बाद गंगाजल छिटककर जमीन को पवित्र करती है।

4. आधुनिक शिक्षा की प्राप्ति से दलितों के जीवनयापन का स्तर ऊँचा हो रहा है। आधुनिक शिक्षा के महत्त्व को दलित समाज भलीभांति समझ गया है। इसी शिक्षा के माध्यम से वे अपने जन्म आधारित कर्म से मुक्ति पाकर रोजगार के नये अवसर खोज रहे हैं। वे पढ़–लिखकर सरकारी नौकरी कर रहे हैं और गाँव के जमींदार की गुलामी से आजादी प्राप्त कर रहे हैं। अतः इसमें कोई दो राय नहीं हैं कि आधुनिक शिक्षा दलितों के लिए गुलामी से मुक्ति का राजमार्ग बन गई है।

बोध प्रश्न 3

1. ओमप्रकाश जी अपनी रचना की भाषा के प्रति हमेशा सजग रहते हैं। उनकी 'सलाम' कहानी की भाषा में संवेदनशीलता, सजीवता, चित्रात्मकता और सार्थकता

है। कहानीकार वाल्मीकि ने करुण भावों की अभिव्यक्ति संवेदनशील भाषा में की है। उनकी भाषा दलित जीवन के दाहक अनुभवों को अभिव्यक्त करने में सक्षम है।

2. ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी में छोटे, सरल और प्रभावी संवादों का प्रयोग किया है, जिससे कथानक में ताजगी आ गई है। कमल और चायवाले के बीच हुई वार्तालाप का एक दृष्टांत प्रस्तुत है– "नए दिख रहे हो बाबू जी...कहाँ से आये हो?" चायवाले ने बात शुरू की। "देहरादून से।"– कमल ने सहजता से कहा। अतः इन संवादों से कथानक में रोचकता और सरसता आ गई है।

3. ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी में वर्णन, प्रश्न, व्यंग्य आदि शैली का प्रयोग किया है। वर्णन शैली किसी प्रसंग को प्रस्तुत करने में सहायक होती है। वाल्मीकि जी ने शादीवाले घर की हलचल का वर्णन किया है। वे प्रस्तुत समाज व्यवस्था की जड़ मानसिकता को उजागर करने के लिए प्रश्न शैली का इस्तेमाल करते हैं। कहानी में कमल की माँ अपने मन में दलितों के बारे में गलत धारणाएँ पाल बैठी है। कमल अपनी माँ की इन निराधार मान्यताओं का खंडन करने के लिए उनसे सवाल पूछता है। वाल्मीकि व्यंग्य शैली से समाज की विसंगतियों का पर्दाफाश करते हैं। यह हमारे समाज का दुर्भाग्य है कि छोटी जातिवाला आदमी भी दलित को अपने से छोटा या अछूत समझता है। इसका सटीक प्रतिपादन व्यंग्य शैली से संभव हुआ है। अतः शैली की विविधता रचना को आकर्षक, प्रभावी और सुंदर बनाती है।

अभ्यास

1. दलितों के प्रेरणा स्रोत डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर का मानना था कि शिक्षा से मनुष्य के जीवन में बेहतर परिवर्तन आ सकता है। सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने के लिए शिक्षा से बड़ा कोई दूसरा औजार नहीं है। बाबा साहेब की इस बात को दलित समाज अच्छी तरह से समझ गया है और अपनी आनेवाली पीढ़ियों को शिक्षा की धारा से जोड़ रहा है। जाहिर है कि शिक्षा ही दलितों के जीवन में परिवर्तन का प्रस्थान बिन्दु बन गई है। वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी इसका बेहतरीन उदाहरण है। प्रस्तुत कहानी का मुख्य चरित्र हरीश है। वह एक पढ़ा–लिखा दलित युवक है। उसमें उचित–अनुचित का विवेक है इसीलिए वह 'सलाम' जैसी रस्म का विरोध करता है और स्पष्ट शब्दों में कहता है, "मैं अपरिचितों के दरवाजे 'सलाम' पर नहीं जाऊँगा।" इतना ही नहीं वह इस कुप्रथा के खिलाफ विद्रोह करता हुआ साहसी स्वर में बोलता है, "आप चाहे जो समझें मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह 'सलाम' की रस्म बंद होनी चाहिए।" दरअसल, हरीश में यह हिम्मत शिक्षा की बदौलत है। शिक्षा ही मनुष्य के बुनियादी विचारों में परिवर्तन लाती है और उसे पारंपरिक रिवाजों की समालोचना करने की शक्ति प्रदान करती है।

2. इसका उत्तर कहानी पढ़कर अपनी भाषा में लिखने का प्रयास करें और उपर्युक्त बातों का अवश्य ध्यान रखें।

इकाई 5 धूणी तपे तीर : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 'धूणी तपे तीर' का कथानक

5.3 आदिवासियों की सांस्कृतिक समस्याएँ

  5.3.1 मुख्यधारा के साथ आदिवासियों का संबंध

  5.3.2 धार्मिक चेतना और आदिवासी

  5.3.3 आदिवासियों का सांस्कृतिक जीवन

5.4 आदिवासी अस्तित्व का संघर्ष

  5.4.1 साम्राज्यवाद व देसी शासन से उत्पन्न समस्याएँ

  5.4.2 महाजनी शोषण की समस्याएँ

  5.4.3 जमीन की समस्या

  5.4.4 नशाखोरी की समस्या

5.5 आदिवासी प्रतिरोध : स्वरूप व समस्याएँ

5.6 सारांश

5.7 उपयोगी पुस्तकें और पत्रिकाएँ

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' के कथानक से परिचित हो सकेंगे,
- 'धूणी तपे तीर' में अभिव्यक्त आदिवासियों की सांस्कृतिक समस्याओं से परिचित हो सकेंगे,
- उपन्यास में अभिव्यक्त आदिवासी अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं और उसके समक्ष उपस्थित चुनौतियों से परिचित हो सकेंगे,
- उपन्यास में अभिव्यक्त आदिवासी प्रतिरोध के स्वरूप व समस्याओं को जान सकेंगे और
- आदिवासी साहित्य के संदर्भ में उपन्यास के महत्त्व को समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

'धूणी तपे तीर' हिंदी आदिवासी उपन्यासों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचनाओं में शुमार है। इसकी रचना हरिराम मीणा ने 2008 में की। हरिराम मीणा एक कवि और कथाकार के रूप में हिंदी

साहित्य में स्थापित नाम है। हरिराम मीणा की प्रमुख साहित्यिक कृतियों में 'हाँ चाँद मेरा है' 1999, 'सुबह के इंतजार में' 2006, 'रोया नहीं था यक्ष' 2008, 'साइबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक' 2001, 'जंगल–जंगल जलियाँवाला' 2008, 'धूणी तपे तीर' 2008, 'डांग' 2020 शामिल है। उनके अंडमान–निकोबार व मानगढ़ संबंधी यात्रा–संस्मरण में खासे लोकप्रिय हैं। हिंदी में लिखने वाले आदिवासी रचनाकार उपन्यास के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत हैं, ऐसे में हरिराम मीणा का यह उपन्यास संवेदना और शिल्प के स्तर पर एक मुकम्मल और बेहतरीन उपन्यास माना जाता है। निश्चय ही इसका अध्ययन विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होगा।

5.2 'धूणी तपे तीर' का कथानक

'धूणी तपे तीर' 1913 में मानगढ़ की पहाड़ियों पर हुए आदिवासी 'जलियाँवाला कांड' की घटना को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इस उपन्यास में लेखक ने मानगढ़ की घटना के नायक गोविंद गुरु के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को फिर से जीवित कर साक्ष्यों और सूचनाओं का सहारा लेकर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में मेवाड़ और वागड़ अंचल में आदिवासी जीवन में घटी घटनाओं को मूर्त किया है। ''उपन्यास में गोविंद गुरु का समकालीन परिदृश्य, लगभग समूचा ही राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक वातावरण पर्याप्त विस्तार और ब्यौरों के साथ रोचकता–सहित दर्ज है। उस समय की अंग्रेज हुकूमत, अंग्रेज अफसरान, विभिन्न देसी रियासतों के राजा–महाराजा, रावल–महारावल, राणा–महाराणा, उनके दीवान, सलाहकार, दूत–राजदूत, सेठ–साहूकार, कारिंदे, देसी रियासतों की छोटी–छोटी बातों पर आपसी रंजिश और इस फूट का बेपनाह फायदा उठाते अंग्रेज, देसी रियासतों का अपनी ही प्रजा पर दमन और अत्याचार और इस मामले में अंग्रेजों को फायदा पहुँचाकर उन्हें खुश रखने की बेहयाई, भील आदिवासियों की दिनचर्या, उनकी सामाजिक आर्थिक स्थितियाँ, देसी रियासतों और अंग्रेज, दोनों का ही उनके प्रति दोयम दर्जे का व्यवहार, आदिवासियों की संप–सभा, संप सभाओं के आयोजन, संप–सभा का आंदोलन और उससे फैलती 'जागरती' की लौ, आदिवासियों की बढ़ती समझ और उनमें आता मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, आत्मसम्मान और स्वाभिमान की भावना, मेले, नृत्य, लोकगीत, युवा–जीवन, युवक–युवतियों के बीच का आकर्षण आदि–आदि ढेरों–ढेर कथा–दृश्य इस उपन्यास का कलेवर तय करते हैं।''

गोविन्द गुरु जन्म से बंजारा होने के बावजूद अपने निकटवर्ती आदिवासियों के प्रति शुरू से संवेदनशील रहा और उसने उनकी समस्याओं को रेखांकित किया। ये समस्याएँ दो तरह की थीं– आदिवासी समाज की आंतरिक समस्याएँ और राज द्वारा थोपी समस्याएँ। आंतरिक समस्याओं में नशाखोरी और राज की समस्याओं में बेगार, लगान–इजाफा, बेदखली आदि सबसे अहम समस्याएँ थीं। गोविंद गुरु अपने साथियों –कुरिया दनोत, पूंजा धीरा, थावरा आदि– की मदद से संप सभा का गठन कर इन समस्याओं से लड़ने का प्रण लेता है और गाँव–गाँव में इन समस्याओं के प्रति जागरुकता फैलाने के लिए धूणी धामों की स्थापना करता है। धीरे–धीरे ये धूणी धाम आदिवासियों के जागृति केन्द्र बन जाते हैं।

लेखक ने गोविन्द गुरु पर दो लोगों का प्रभाव बताया है– उनके गाँव बांसिया के पुजारी राजगिरी और मेवाड़ दरबार में मिले दयानंद सरस्वती। गोविंद गुरु का आंदोलन वास्तव में एक धार्मिक और समाज सुधार आंदोलन बनकर उभरता है। संप सभा के माध्यम से हुए उन बदलावों और अंग्रेजों द्वारा उसके दमन व सैंकड़ों आदिवासियों की कुर्बानी को उपन्यास में प्रमुख स्थान दिया गया है।

5.3 आदिवासियों की सांस्कृतिक समस्याएँ

आदिवासी जीवन की मुख्य पहचान का आधार और उसकी सबसे अहम विशेषता उसका सांस्कृतिक पक्ष है। मानवशास्त्रियों को भी यह संस्कृति आकर्षित करती रही है। मुख्यधारा के साथ आदिवासी समाज के अलगाव का भी केन्द्रीय बिंदु आदिवासियों का सांस्कृतिक जीवन है। यानी आदिवासी के आदिवासी होने की सबसे बड़ी पहचान उसका सांस्कृतिक जीवन है।

5.3.1 मुख्यधारा के साथ आदिवासियों का संबंध

'धूणी तपे तीर' में हरिराम मीणा ने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में दक्षिणी राजस्थान के आदिवासियों के संघर्ष की दास्तान कही है। यहाँ मुख्यधारा के समाज के रूप में शोषण की पूरी श्रृंखला है जिसमें अंग्रेज हाकिमों से लेकर महाराणा–महारावल, सेठ–साहूकार, पुलिस–प्रशासन, जमींदार–जागीरदार तक शामिल हैं। आदिवासियों के समवर्ती समाज के रूप में अन्य पिछड़े समुदायों पर भी दृष्टि डाली गई है। अंग्रेजों को अपना कोष भरना है, इसके लिए वे मेवाड़ के महाराणा पर दबाव बनाए रखते हैं और इलाके के आदिवासियों के साथ सख्ती से निपटने की नीति अपनाने की सलाह देते हैं। महाराणा और महारावल जमींदार और जागीरदारों पर आश्रित हैं जिसमें पुलिस मददगार की भूमिका निभाती है। सेठ–साहूकार बीच में अपना हित साधने की जुगत में रहते हैं। 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ऐसी व्यवस्था पूरे उत्तर भारत में लागू थी। प्रेमचंद ने अपने लेख 'महाजनी सभ्यता' में इसका बखूबी पर्दाफाश किया है। महाराणा और आदिवासियों के बीच समझौते में सेठ दलपतराय अहम भूमिका निभाता है, जो अंततः महाराणा के ही साथ कहा जाएगा।

'धूणी तपे तीर' में आदिवासियों के मसीहा बने गोविन्द गुरु की राय है कि आदिवासियों को घुमक्कड़ और जरायमपेशा जातियों के साथ नहीं रहना चाहिए, वरना इनमें भी वही दुर्गुण आ जायेंगे। गोविन्द गुरु कहता है, ''सांसी, कंजर, मोगिया घुमक्कड़ जात हैं। ये दारू पीकर झगड़ा करते हैं। दारू पीना बुरी बात है। इनके साथ कुछ आदिवासी भी उठक–बैठक करने लग जाते हैं जिससे माहौल खराब होता है। यह दारूबंदी की हमारी मुहिम के खिलाफ है। हम इन्हें दारू पीने से नहीं रोक सकते लेकिन इनके डेरों का हमारे इलाके में, वह भी खासकर बस्तियों के आस–पास रहना ठीक नहीं है''। गोविन्द गुरु की इस सोच का संप सभा के भगत समर्थन करते हैं।

5.3.2 धार्मिक चेतना और आदिवासी

आदिवासियों की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान को नष्ट करने की कोशिश विभिन्न धर्मों के प्रचारकों द्वारा हुई है। गोविन्द गुरु का संगठन संप सभा और उसके द्वारा स्थापित धूणियाँ वास्तव में किसी आदिवासी परंपरा का विकास नहीं, हिंदुत्व का प्रभाव ही कही जा सकती हैं। संप सभा के जो लक्ष्य निर्धारित किये गए, उनमें से निम्न पूरी तरह हिंदू चेतना से प्रभावित थे– धूणी धामों की स्थापना, धर्म प्रचार, भगत बनाना, मृतात्माओं का क्रिया–कर्म। धर्म–प्रचार के लक्ष्य के स्वरूप को देखकर गोविन्द गुरु के आंदोलन में समाहित हिंदू चेतना के स्तर का पता लगाया जा सकता है– ''धर्म–प्रचार, अर्थात भक्ति भाव भरे गीतों और भजनों को याद किए रहना, नया सृजन करना तथा भजनों और वक्तव्यों के माध्यम से संप सभा के धार्मिक विचारों का प्रचार करना जिसमें साफ–सफाई से रहना, स्नान करना, तुलसी की माला पहनना, कंठी–जाप करना, चंदन तिलक लगाना, धूणी में हवन के उद्देश्य से घी डालना, घी

का दीपक जलाना, मुख्य तिथियों पर और विशेषकर पूर्णिमा के अवसर पर नारियल चढ़ाना आदि इसमें शामिल था।'' साम्राज्यवादी और सामंतवादी गठजोड़ से किये गए आदिवासियों के दमन भी अंत में गोविन्द गुरु आदिवासियों से हवन करवा रहे थे, जो आदिवासियों के नरसंहार का कारण बना। गोविन्द गुरु की अधिकांश माँगें धूणी धामों से जुड़ी हुई धार्मिक माँगे थीं। हिंदू चेतना के प्रभाव के कारण ही गोविन्द गुरु भाग्यवादी भी है।

जहाँ तक आदिवासियों के धर्म का सवाल है तो 'धूणी तपे तीर' में आदिवासियों पर हिंदू धर्म के प्रभाव को देखा जा सकता है। गोविंद गुरु निर्गुण ईश्वर में यकीन करता है लेकिन क्षेत्र के आदिवासी महादेव–पार्वती को अपना देवता मानते हैं। संप सभा के धूणी धाम पर भैरव की मूर्ति भी स्थापित की जाती है, जिसकी आदिवासी पूजा करते हैं। गोविन्द गुरु पर हिंदू धर्म का प्रभाव इतना गहरा है कि वह अपने प्रवचनों और भजनों की शुरुआत तुलसीदास की चौपाइयों से करता है। वह धर्म में इतना डूबा हुआ है कि आदिवासियों की समस्याओं का कारण भगवान के कोप को बताता हुआ कहता है, ''धर्म के रास्ते पर नहीं चलने से अनावृष्टि, बाढ़ और महामारी फैलती है जो प्रकृति के माध्यम से भगवान का कोप है'।' शायद धर्म के इसी प्रभाव के कारण वह आदिवासियों की विद्रोही चेतना को सही दिशा में नहीं मोड़ पाता।

5.3.3 आदिवासियों का सांस्कृतिक जीवन

'धूणी तपे तीर' में भी आदिवासियों के सामूहिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक देखी जा सकती है। लेखक ने भूखिया गाँव में होली का थम्म स्थापित होने की घटना का काफी रोचक वर्णन किया है। थम्म रोपने वाली जगह पर रात में गाँव के लोग आ बैठते हैं जो सामूहिकता का ही एक रूप कहा जा सकता है। आदिवासियों की वेशभूषा भी उनकी एक प्रमुख सांस्कृतिक पहचान है। 'धूणी तपे तीर' का लेखक मानगढ़ मेले के अवसर पर आदिवासियों की वेशभूषा के बारे में लिखता है, ''पुरुषों ने अधोवस्त्र के नाम पर रेजे का पंजा पहन रखा था। युवा व अधेड़ माथे पर अँगोछे का मंडासा और वृद्ध लोगों ने पगड़ी बाँध रखी थी। उनका शेष बदन उघाड़ा था। जवान स्त्रियों ने घाघरे, चोली और औढ़नी से अपना शरीर ढँक रखा था। उनके पैरों और कलाइयों पर गिलट के बिछिया, छल्ले, कडे व चूडियाँ थी। फैनी और बोरलों से उनके माथे सजे हुए थे। किसी किसी ने वन–मोगरा या चम्पा के फूल बालों में ठूँस रखे थे। अधिकांश बुजुर्ग महिलाओं ने अद्दी के घाघरे और अंगिया पहन रखी थी और साधारण रंग की ओढ़नी उनके सिर को ढँके हुए थी।'' लेखक ने मेले में आए दक्षिणी राजस्थान के आदिवासियों का उनकी वेशभूषा के माध्यम से एक सजीव चित्र खींच दिया है।

'धूणी तपे तीर' उपन्यास में लेखक ने मानगढ़ मेले में होने वाले आदिवासियों के पारंपरिक नृत्यों को भी लेखक ने रेखांकित किया है जिनमें हाथजोडिया, पगपासणियाना, जालणियाना, उड़णियाना, फदुकचाला, मूरिया, गैर, गवरी आदि प्रमुख हैं। आदिवासियों के वाद्य भी खास होते हैं, जैसे झांझ, मजीरा, खरताल, थाली, मटका, माँदड़, ढोलकी, बांसुरी आदि। इस नाच–गाने में युवक–युवतियाँ एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं और अपने परिजनों को अपनी पसंद से अवगत करा देते हैं। परिजन बात आगे बढाते हुए उनका रिश्ता तय करते हैं। गढ़ी का कुलआ नट भी मेले में अपने करतब दिखाता है।

5.4 आदिवासी अस्तित्व का संघर्ष

आदिवासी अस्तित्व के लिए पैदा हुई समस्याओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं– बाहरी लोगों के अतिक्रमण से पैदा हुई समस्याएँ और आंतरिक समस्याएँ। बाहरी लोगों से पैदा हुई

समस्याओं को भी उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शासकों द्वारा शोषण, देसी शासकों (राजतंत्र और लोकतंत्र दोनों में) द्वारा शोषण, महाजनों और ऊँची जातियों द्वारा शोषण आदि उपभागों में बाँट सकते हैं। आंतरिक समस्याओं में वे सारी जीवन स्थितियाँ हैं जो आदिवासी समाज में बिना बाहरी हस्तक्षेप के पैदा हुई और जिनकी वजह से आदिवासियों के अस्तित्व के लिए खतरा उपस्थित हुआ, जैसे– शराब का अत्यधिक सेवन, बहुपतिप्रथा आदि।

5.4.1 साम्राज्यवाद व देसी शासन से उत्पन्न समस्याएँ

हरिराम मीणा ने बड़ी सूझ–बूझ के साथ अपने उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में कथा का विन्यास किया है। उपन्यास शुरू होते ही वे बालक गोविन्द की बाल समझ के माध्यम से आदिवासियों की समस्याओं का बखान कर देते हैं, ''राज के आदमी हम पर अनेक प्रकार के अत्याचार करते हैं और जागीरदार हमसे बिना मेहनताना बेगार कराते हैं। इन बातों पर सोचने की बजाय हमारे आदमी दारू पीकर शरीर व माथा खराब करते हैं। अपनी औरतों को आये दिन तंग करते हैं। यह बुरी आदत है। इनका विरोध हमें करना चाहिए ना? अगर ऐसी बातें न हो तो क्या हमारा जीवन सुधर नहीं जाएगा?'' बाहरी और भीतरी समस्याओं से मुक्ति और जीवन में इसी सुधार के लिए गोविन्द गुरु के नेतृत्व में हुआ संघर्ष ही उपन्यास का प्रतिपाद्य है।

आगे के दृश्यों में इन्हीं बातों को लेखक ने विस्तार देते हुए कथा को आगे बढाया है। मेवाड़ राज्य में अपना हस्तक्षेप बढ़ाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 'कौंसिल ऑफ रिजेंसी' का गठन कर दिया था। उस दौर में पूरे देश में ही स्थानीय शासकों को तुष्ट कर नए कायदे–कानूनों के तहत ब्रिटिश राज ने अपना दखल देना शुरू कर दिया था। उस दौर में आदिवासियों से संबंधित भी बहुत से कानून बनाए गए और उनके विधिवत शोषण की प्रक्रिया शुरू हुई। जिन जंगलों पर आदिवासियों का हजारों वर्षों से अधिकार रहा, जो उनकी मातृभूमि रहे, उन्हीं से पैदा होने वाले संसाधनों यानी वनोपज पर पाबंदी लगा दी गई। नई आबकारी नीति लागू की गई। वागड़ अंचल से गुजरने वाले व्यापारियों से आदिवासियों द्वारा लिये जाने वाले 'बोलाई' पर रोक लगा दी गई। अंग्रेज सरकार ने देसी रियासत के शासकों के सहयोग से ऐसे कई बदलाव किये जो वस्तुतः स्थानीय आदिवासी जनता के खिलाफ थे। 'धूणी तपे तीर' में उपन्यास का नायक गोविन्द गुरु अपने पहले सार्वजनिक वक्तव्य में शोषक तंत्र से पैदा हुई आदिवासी समस्याओं को उठाते हुए कहता है, ''रियासत का कोई हाकिम या जागीदार बिना मेहनताना भूखे पेट किसी से बेगार करवाता है तो यह कहां का न्याय है... 'रखवाली' और 'बोलाई' की वसूली तो आदिवासी मुखिया सैंकडों सालों से करते आए थे और उस आमदनी का अधिकांश हिस्सा गाँव की भलाई में काम आता था। राज ने इस उगाई पर पाबंदी क्यों लगा दी? खेती पर लगान बढाया जाएगा, इसलिए खेतों की नापजोग की जा रही है... जंगलों की उपज पर तो हमारा पुश्तैनी हक था। यह हमारे उपयोग की चीज रही है फिर भी राज ने इनका ठेका देना क्यों शुरू कर दिया? ... साहूकार से हमें अनेक कारज के लिये करजा लेना पड़ जाता है। कौन सा हिसाब–किताब है कि कई बार चुकाने के बाद भी करजा माथे चढ़ा रहता है।''

औपनिवेशिक और आजाद भारत में आदिवासी आंदोलनों का प्रमुख कारण सत्ता का आदिवासी विरोधी चरित्र रहा। भारतीय रजवाड़े भी ब्रिटिश सत्ता के दबाव में अपनी जनता के प्रति अधिक क्रूर हो गए। इससे पहले भी रजवाड़ों का राज था लेकिन आदिवासी जीवन में उनका हस्तक्षेप काफी कम था। ब्रिटिश राज की मुनाफे की संस्कृति ने सत्ता का विस्तार

(नकारात्मक संदर्भों में) अंतिम व्यक्ति तक किया। मेवाड़ भी एक प्रमुख भारतीय राज्य था जिसके अधीन आसपास की डूंगरपुर, प्रतापगढ़, बांसवाडा आदि रियासतें थीं। अंग्रेजी और देसी शासन के गठजोड़ से निर्मित नए शोषण तंत्र के खिलाफ क्षेत्रीय आदिवासियों ने समय–समय पर विद्रोह भी किये। जब ब्रिटिश या रजवाड़ी फौज द्वारा इन विद्रोहों का दमन कठिन हो गया तो स्थानीय भील आदिवासियों की 'मेवाड़ भील कोर' नामक सैन्य टुकड़ी का गठन किया गया। यानी आज सलवा जुडूम के रूप में आदिवासियों को आपस में लड़ाकर मारने का सत्ता का हथकंडा कोई नया नहीं है, इसके बीज ब्रिटिश राज में मौजूद थे।

जब गोविन्द गुरु के नेतृत्व में आदिवासियों में बाहरी और आंतरिक समस्याओं के खिलाफ जागृति का अभियान शुरू होता है तो मेवाड़ भील कोर द्वारा उसके दमन की तैयारियाँ भी साथ ही में चलने लगती हैं। ब्रिटिश क्राउन के प्रति मेवाड़ के महाराणा हमेशा वफादारी निभाते हैं। इसी वफादारी के एवज में उन्हें ब्रिटिश राज द्वारा सम्मानित किया जाता है। महारानी विक्टोरिया की हीरक जयंति (1897) के अवसर पर उदयपुर में आयोजित समारोह में ए.जी.जी. ट्रेवर घोषणा करता है, ''ब्रिटिश क्राउन और ब्रिटिश सरकार के प्रति महाराणा फतहसिंह साहब बहादुर ने निष्ठा का परिचय दिया है। ब्रिटिश सरकार महाराणा को बधाई देती है। ब्रिटिश क्राउन ने निर्णय लिया है कि मेवाड़ के महाराणा को उनकी इस निष्ठा के एवज में 'ऑर्डर ऑफ दा क्राउन ऑफ इंडिया' की उपाधि से सम्मानित किया जाय।''

अधिकांश भारतीय शासक ब्रिटिश राज के प्रति शुरू से ही वफादार रहे। 1857 के विद्रोह के दमन में भी भारतीय शासकों ने कंपनी सरकार की बढ़–चढ़कर मदद की। हरिराम मीणा ने अपने उपन्यास में तथ्यों सहित इस बात को दर्ज किया है कि 1857 के विद्रोह में बड़ी संख्या में आदिवासियों ने हिस्सा लिया था। ''देवली के सारे आदिवासी फौजियों ने बगावत कर दी और जंगलों में भाग गए तथा नीमच के बागी फौजियों से मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध जगह–जगह मोर्चाबंद होने लग गये।'' लेकिन ''मेवाड़ की फौज अंग्रेजों की वफादार रही। उसने अंग्रेज फौजियों के साथ मिलकर कर्नल शॉवर्स के नेतृत्व में नीमच इलाके में फैले विद्रोह को दबाने में कामयाबी हासिल की।''

अंग्रेजी सरकार के प्रति देसी शासकों की वफादारी का आलम यह था कि जब भी कोई उनके इस गठजोड़ के बारे में बात भी करता तो उनकी नजर में वह देशद्रोही माना जाता। गोविन्द गुरु द्वारा धूणी धामों की स्थापना द्वारा शुरू किये गए जागृति आंदोलन की खबर डूंगरपुर दरबार में पहुँच गई और गोविन्द गुरु को दरबार में बुलाया गया। गोविन्द गुरु ने जब शोषण के उस पूरे तंत्र में फंसे आदिवासियों की व्यथा कही तो पहले तो महारावल ने उसे लालच देने की कोशिश की और जब वह नहीं माना तो सीधे फरमान सुना दिया, ''तू जो बोल रहा है, वह राजद्रोह है।'' और राजद्रोह के जुर्म में गोविन्द गुरु को गिरफ्तार कर लिया जाता है। बाद में गोविन्द गुरु की रिहाई के लिए हजारों आदिवासियों द्वारा डूंगरपुर की ओर कूच करने से घबराकर गोविन्द गुरु को रिहा कर दिया जाता है।

जो भी सत्ता के खिलाफ आवाज उठाता है, वह शासन की नजरों में किरकिराने लगता है। गोविन्द गुरु के साथ भी यही होता है। अंग्रेजी सरकार अपनी आय बढ़ाने के लिए आदिवासियों के खिलाफ तरह–तरह के नए कायदे–कानून लागू करने की कोशिश करती है। इस प्रक्रिया में गोविन्द गुरु के नेतृत्व में बन रहा जागृति का माहौल सबसे बड़ा रोड़ा बनता है। ए.जी.जी. ट्रेवर द्वारा आदिवासियों से जुड़े मसलों पर पत्र लिखे जाने पर कौंसिल में इस पर मंत्रणा के दौरान डूंगरपुर रियासत का महारावल विजय सिंह कहता है, ''वनोपज

पर नियंत्रण और आबकारी नीति को पूरी तरह लागू करना तब तक संभव नहीं होगा जब तक गोविंद गुरु की गतिविधियों पर अंकुश नहीं लगाया जाय।'' यह वक्तव्य एक तरह अंग्रेजों और देशी शासन के मेल को फिर से पुष्ट करता है, दूसरी तरफ जागृति आंदोलन से शोषकों के अंदर के भय को भी उजागर करता है। बैठ बेगार के प्रति गोविंद गुरु द्वारा आदिवासियों को जागरूक बनाने के प्रति दरबार चिंतित है। इन तमाम चिंताओं के बावजूद आदिवासी विद्रोहों की संभावना के मद्देनजर दरबार गोविंद गुरु को गिरफ्तार करने की योजना तो बनाता है लेकिन गिरफ्तारी की हिम्मत नहीं जुटा पाता।

लॉर्ड मिण्टो के उदयपुर आगमन (1909) पर भी महाराणा दरबार गोविंद गुरु की जागृति से उपजे भय को मिण्टो के समक्ष रखता है। डूंगरपुर और बाँसवाड़ा दरबार की सबसे प्रमुख समस्या गोविंद गुरु का आंदोलन है। सारी बातों पर विचार कर मिण्टो फैसले के रूप में अपना पक्ष रखता है, ''राज–कोष को समृद्ध करने के लिए आपको चाहिए कि भूमि–बंदोबस्त की नयी योजना को तुरंत लागू किया जाय। कृषि भूमि के रकबा के आधार पर लगान तय कर दिया जाये ताकि तयशुदा लगान राजकोष में जमा हो सके। इसी तरह मदिरा–उत्पाद पर आपका पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए। आय का यह एक अच्छा स्रोत है। ऐसी ही नीति वनोपज के क्षेत्र में अनिवार्य है।'' अंग्रेजों का मूल लक्ष्य था अपना खजाना भरना। वे इसमें किसी तरह की कोताही बर्दाश्त नहीं करते।

जब गोविन्द गुरु को पालपट्टा के आदिवासियों की समस्याएँ पता चलती हैं तो वह वहाँ के लिए निकल पड़ता है। पालपट्टा के इलाके में 'ब्रिटिश सरकार के दखल से आदिवासियों द्वारा क्षेत्र से गुजरने वाले व्यापारियों से वसूल किये जाने वाले 'बोलाई' और गैर आदिवासियों की सुरक्षा के एवज में लिए जाने वाले 'रखवाली' करों पर पाबंदी काफी अर्सा पहले लगा दी थी, आबकारी और जंगलात संबंधी नयी नीतियों ने आदिवासियों के परंपरागत अधिकारों पर कुठाराघात किया था, बैठ–बेगार का संप सभा द्वारा काफी विरोध के बावजूद यह प्रथा चालू थी।' इसके अलावा पालपट्टा के आदिवासियों की कुछ विशिष्ट समस्याएँ भी थीं, जैसे– ''कृषि उपज पर दिये जाने वाले लगान और लेवी की गाँव के बिचौलिया मुखियाओं द्वारा की जाने वाली वसूली के वक्त की जा रही बेईमानी, राजस्व मामलों में ठाकुर पृथ्वीसिंह के खास बने हुए रघुवीर सिंह और नवल सिंह सिसोदिया–बंधुओं द्वारा किया जाने वाला गैर जरूरी हस्तक्षेप, खेतों और घर परिसरों में उगे हुए महुआ व आम के फलों व लकड़ी के उपभोग की भी पूर्वानुमति अनिवार्य होना'' आदि।

इन समस्याओं पर गोविन्द गुरु के नेतृत्व में रोजड़ा गाँव में संप सभा का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में आसपास के सभी आदिवासी गाँवों के लोगों ने भाग लिया और समस्या पर विचार किया। बैठक के बाद सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि आदिवासियों की समस्याओं के मुद्दे पर ठाकुर पृथ्वीसिंह का मन लेने के लिए एक–दो प्रतिनिधि गढ़ में भेजे जाएँ। जब ठाकुर पृथ्वीसिंह के पास इस आयोजन की सूचना पहुँचती है और उसे पता चलता है कि इसमें लक्ष्मणपुरा के आदिवासियों ने भी भाग लिया तो उसे बहाना मिल गया उनसे उनकी जमीन छीनने का। दरअसल पाल चित्तरिया और लक्ष्मणपुरा के बीच लंबा–चौड़ा पठार है और उसके चारों ओर जंगल हैं। उस इलाके के आदिवासियों के पास अपनी जमीन न के बराबर थी। लक्ष्मणपुरा के दड़वाह में करीब दो सौ एकड़ जमीन में समतल जंगल था जिसे वहाँ के जागीरदारों ने चाल चलकर आदिवासियों से साफ कराकर कृषि योग्य बनवाने की योजना बनाई। इसके पीछे सामंतों का लक्ष्य था– ''इसके दो लाभ होंगे। एक तो आदिवासी

जंगल को साफ कर देंगे। इससे जागीर क्षेत्र में कृषि योग्य भूमि का विस्तार होगा, जिस पर लेवी की वसूली हो सकेगी। इससे जागीर एवं रियासत की आय में वृद्धि होगी। दूसरे, आदिवासी जंगल से लकड़ी, कत्था, गोंद, कंद–मूल–फल की, जो चोरी करते हैं, वह रुक जाएगी।'' ठाकुर पृथ्वीसिंह ने इस षडयंत्र में सहयोग दिया क्योंकि अंततः इससे रियासत को भी फायदा होना था। आदिवासियों ने भविष्य के इस सपने को मन रखकर जंगल को साफ करने के लिए जी–तोड़ मेहनत की। उन्हें आशा थी कि अब उन्हें खेती के लिए स्थाई जमीन मिलेगी। उपन्यासकार ने उनकी मेहनत का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है, ''जेठ मास के आखिरी दिन बचे थे। अधिकांश जंगल साफ कर दिया गया। पूरे जेठ की असहनीय घाम में और लू के थपेड़ों के चलते आदिवासियों ने यह काम किया। पुरुषों की नंगी पीठ और कंधों की खाल जलने से ऊपरी हिस्सा महीन पपड़ी बनकर उतरता गया था। सभी काम करने वालों की हथेलियों में छाले पड़ गए थे। उनका सांवला रंग काला पड़ गया था। जितनी मेहनत की थी, उसके लिए ऊर्जा का जिस मात्रा में पुनर्भरण शरीर में होना चाहिए था, उतना भोजन उन्हें नहीं मिला था। शरीर की कमजोरी आदिवासियों के चेहरे पर झलक रही थी। इस सबके बावजूद उनके मन में उत्साह था, बेहतर भविष्य के सपने थे।'' उनके सारे सपनों को चकनाचूर कर दिया गया। खड़ी फसल पर उन्हें उनकी जमीन से बेदखल कर दिया गया। इसी प्रक्रिया में संप सभा के कार्यकर्ता धर्माभाई भगत का कत्ल भी कर दिया गया। हालांकि बाद में गोविंद गुरु के नेतृत्व में आदिवासियों के प्रतिरोध को देखते हुए ठाकुर को समझौते के लिए मजबूर होना पडा।

औपनिवेशिक व देसी शासन के गठजोड़ से निर्मित व्यवस्था द्वारा इस तरह के शोषण का सिलसिला जारी रहा। शोषण और दमन का चरम दौर सरकार द्वारा जरायमपेशा कानून (1871) लाने और इसके बाद मानगढ़ की पहाड़ी पर आदिवासियों के सामूहिक नरसंहार के रूप में आया। जब सरकार को लगा कि संप सभा के धूणी धाम जागृति का केन्द्र बनते जा रहे हैं और आदिवासियों के मध्य फैल रही जागृति का मतलब सिर्फ उनकी आंतरिक समस्याओं के प्रति जागरुकता तक सीमित न होकर राज के शोषण के खिलाफ चेतना फैलाने तक है तो उसने दमन की नीति अपना ली। जागृति के केन्द्र धूणी धामों को नष्ट करना शुरू कर दिया गया। थावरा गोविंद गुरु को अपराधी जनजाति अधिनियम (1871) या जरायमपेशा कानून के माध्यम से किये जा रहे दमन के बारे में बताते हुए कहता है, ''जरायम पेशा कानून के तहत संप सभा के कार्यकर्ताओं को जागीरदारों व पुलिस द्वारा तंग किये जाने जैसी सूचनाएँ इधर–उधर मिली हैं। निर्दोष लोगों को बिना वजह इस कानून के तहत थाना व चौकियों में बुलाया जाता है। उन पर चोरी व लूट के झूठे मुकदमे लगाकर गिरफ्तार किया जाकर जुल्म ढाये जा रहे हैं। संप सभा के कार्यकर्ताओं के मनोबल को गिराने के लिए उन्हें थाना–चौकियों में बुलाकर उल्टे–सीधे सवाल पूछे जाते हैं और देर–देर तक वहाँ बिठा लिया जाता है।''

जरायम पेशा कानून द्वारा भारतीय आदिवासियों के विद्रोही तत्वों को दबाकर और उनके साथ ज्यादतियाँ कर वास्तव में उन्हें अपराधी बनने को मजबूर किया गया। इसके बावजूद संप सभा के भगत और कार्यकर्ता अहिंसा का मार्ग नहीं छोड़ते। अंत में ब्रिटिश हुकूमत द्वारा मानगढ़ की पहाड़ी पर पूर्णिमा के उत्सव में आए आदिवासी जनसमूह के नरसंहार की योजना बनती है और उसे मूर्त रूप भी दे दिया जाता है। 'धूणी तपे तीर' के लेखक का अनुमान है कि इस नरसंहार में 1500 से अधिक आदिवासी शहीद हुए। यह साम्राज्यवादी और देसी शासन के गठजोड़ से निर्मित हुए शोषण तंत्र की चरम परिणति थी।

5.4.2 महाजनी शोषण की समस्याएँ

चाहे औपनिवेशिक शोषण तंत्र हो या आजादी के बाद की व्यवस्था, हर कहीं आदिवासियों के शोषण में महाजनों का अहम रोल रहा है। अंग्रेजी राज या भारतीय शासन का सीधा अंग न होकर भी वे उस शोषणकारी व्यवस्था का अहम हिस्सा रहे और उन्हें सत्ता का मूक समर्थन रहा। अनपढ़ और सीधे–साधे आदिवासी उनके चंगुल में एक बार फँस गए तो समझिए कि पीढ़ियों तक उससे मुक्ति की राह दिखाई नहीं देती। शुरू में आदिवासी बाहरी संपर्क से बहुत डरते थे। उनका डर जायज था। दिकुओं (बाहरी लोगों) ने उनके निजी जीवन को तहस–नहस कर दिया और उनके श्रम का शोषण किया।

'धूणी तपे तीर' में जब गोविंद गुरु गढ़ी में अपना पहला सार्वजनिक व्याख्यान देता है तो वह आदिवासियों की अन्य समस्याओं के साथ महाजनी शोषण की समस्या को भी उठाता है, ''साहूकारी से हमें अनेक कारज के लिये करजा लेना पड़ जाता है। कौन सा हिसाब–किताब है कि कई बार चुकाने के बाद भी करजा माथे चढ़ा रहता है।'' इसी तरह सेंगाजी के भाषण में भी एक जगह महाजनी शोषण का जिक्र है, ''सूदखोर महाजनान कर्जा के झूठे–सच्चे कागद हिंदू और मुसलमान के नाम से बना के रख छोड़ते हैं और झगड़ा करके उस सच्चे झूंठे कर्जे में गरीबों के घर का माल असबाब व गाय, बैल, भैंस, बकरी वगैरह और जो भी सामान होता है उसे कर्जे में वसूल कर लेते हैं। एक कागद जाली और उस पर अपने व अपने कामदार के दो–चार गवाहों के दस्तखत करा के रख छोड़ते हैं और जब कि अदालत में किसी तौर से नालिस का काम पड़ता है तो ये ठग बनियें उस जाली कागद का सबूत पेश कर देते हैं। अदालत उस जाली कागद को सच्चा मानती है।'' महाजनी शोषण और उसमें अदालतों की भूमिका को बखूबी उजागर करता है सेंगा जी का यह व्याख्यान।

5.4.3 जमीन की समस्या

'धूणी तपे तीर' में भी आदिवासियों के जमीन से गहरे रिश्ते को चित्रित किया गया है। कथानायक गोविंद गुरु जब गढ़ी गाँव में अपना पहला सार्वजनिक वक्तव्य देता है तो वह आदिवासियों के जमीन से रिश्ते और उनकी जमीन संबंधी समस्या को रेखांकित करते हुए कहता है, ''खेत हमारे पुश्तैनी हैं या हम झाड़–झंखाड़ साफ करे खेती लायक जमीन तैयार करते हैं। अव्वल बात तो यह है कि खेत हमारे हैं, उन पर किस बात का लगान? दूसरे, यह कि चलो राज लगान लेता आया है और कभी संकट में हमारी खोज खबर लेगा, पर लगान में बढोतरी करने से क्या मतलब?'' गोविंद गुरु अपने आंदोलन में हर चरण पर जमीन से आदिवासियों के संबंध को उन्हें याद दिलाता रहता है।

धूणी तपे तीर' उपन्यास में पालपट्टा के आदिवासियों की मूल समस्या भी जमीन की समस्या है। पाल चित्तरिया और लक्ष्मणपुरा के बीच लंबा–चौड़ा पठार था और उसके चारों ओर जंगल था। उस इलाके के आदिवासियों के पास अपनी जमीन न के बराबर थी। लक्ष्मणपुरा के दड़वाह में करीब दो सौ एकड़ जमीन में समतल जंगल था जिसे वहाँ के जागीरदारों ने चाल चलकर आदिवासियों से साफ कराकर कृषि योग्य बनवाने की योजना बनाई। इसके पीछे सामंतों का लक्ष्य था– ''इसके दो लाभ होंगे। एक तो आदिवासी जंगल को साफ कर देंगे। इससे जागीर क्षेत्र में कृषि योग्य भूमि का विस्तार होगा, जिस पर लेवी की वसूली हो सकेगी। इससे जागीर एवं रियासत की आय में वृद्धि होगी। दूसरे, आदिवासी जंगल से लकड़ी, कत्था, गोंद, कंद–मूल–फल की, जो चोरी करते हैं, वह रुक जाएगी।'' ठाकुर

पृथ्वीसिंह ने इस षड़यंत्र में सहयोग दिया क्योंकि अंततः इससे रियासत को भी फायदा होना था। आदिवासियों ने भविष्य के इस सपने को मन रखकर जंगल को साफ करने के लिए जी तोड़ मेहनत की कि अब उन्हें खेती के लिए स्थाई जमीन मिलेगी। उपन्यासकार ने उनकी मेहनत का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है, ''जेठ मास के आखिरी दिन बचे थे। अधिकांश जंगल साफ कर दिया गया। पूरे जेठ की असहनीय घाम में और लू के थपेड़ों के चलते आदिवासियों ने यह काम किया। पुरुषों की नंगी पीठ और कंधों की खाल जलने से ऊपरी हिस्सा महीन पपड़ी बनकर उतरता गया था। सभी काम करने वालों की हथेलियों में छाले पड़ गए थे। उनका सांवला रंग काला पड़ गया था। जितनी मेहनत की थी, उसके लिए ऊर्जा का जिस मात्रा में पुनर्भरण शरीर में होना चाहिए था, उतना भोजन उन्हें नहीं मिला था। शरीर की कमजोरी आदिवासियों के चेहरे पर झलक रही थी। इस सबके बावजूद उनके मन में उत्साह था, बेहतर भविष्य के सपने थे।'' उनके सारे सपनों को चकनाचूर कर दिया गया। खड़ी फसल पर उन्हें उनकी जमीन से बेदखल कर दिया गया। इसी प्रक्रिया में संप सभा के कार्यकर्ता धर्माभाई भगत का कत्ल भी कर दिया गया। हालांकि बाद में गोविंद गुरु के नेतृत्व में आदिवासियों के प्रतिरोध को देखते हुए ठाकुर को समझौते के लिए मजबूर होना पड़ा।

उपर्युक्त सभी घटनाएँ आदिवासियों के जमीन से गहरे रिश्ते को प्रकट करती हैं। जंगलों पर तो आदिवासियों का पुश्तैनी हक रहा ही है, उसके किसी हिस्से में कृषि के लिए तैयार की गई जमीन पर भी उनका अधिकार था जिसे ब्रिटिश युग में उनसे छीन लिया गया। आरंभ में ऊबड़–खाबड़ पहाड़ी जमीन को कृषि योग्य बनाने के लिए जी–तोड़ मेहनत आदिवासियों ने ही की। अपनी मर्जी के कायदे कानून बनाकर विदेशी और देसी सत्ता ने उन्हें उसी जमीन से बेदखल कर दिया। अपनी जमीन को बचाने के लिए उसने आंदोलन भी किये और कुर्बानियाँ भी दीं। 19वीं और 20वीं सदी के आदिवासी आंदोलन आदिवासियों के जमीन से गहरे रिश्ते के ही सुबूत हैं।

5.4.4 नशाखोरी की समस्या

चाहे आजादी से पहले हो या बाद में, बाहरी लोगों और सत्ता द्वारा आदिवासियों के शोषण के अलावा आदिवासियों की कुछ अंदरूनी समस्याएँ भी रही हैं जिन्होंने आदिवासी समाज को पतन की ओर धकेला है। इन समस्याओं में नशाखोरी सबसे प्रमुख समस्या है। आज भी हिंदुस्तान के सबसे गरीब लोगों (जिनमें दलित–आदिवासियों की संख्या सर्वाधिक है) की नशाखोरी की लत के कारण उनका अपना और अपने परिवारों का जीवन नर्क हो रहा है।

'धूणी तपे तीर' में शुरू में ही लेखक ने संकेत कर दिया है कि उपन्यास में नशाखोरी को आदिवासियों की एक प्रमुख समस्या के रूप में पेश किया जाएगा। बालक गोविंद जब अपने दोस्त कुरिया के बाप सांवता की नशाखोरी की आदत को देखता है तो बड़ा चिंतित होता है और कुरिया से इस बारे में बात करता है। उसी दौरान गोविंद इस निष्कर्ष पर पहुँचता हैं कि नशाखोरी आदिवासियों की दुर्दशा का एक प्रमुख कारण है और इससे आदिवासी समाज को मुक्ति दिलाना बहुत जरूरी है। वह समझ लेता है कि भले ही नशे की आदत के पीछे भौतिक दुख, राज का कहर या अन्य जो भी कारण हो लेकिन यह अंततः मनुष्य जीवन के लिए हानिकारक है।

जब गोविंद अपने साथियों के साथ आदिवासियों को जागृत करने का संकल्प लेता है और

गाँव–गाँव घूमकर उसके लिए कार्य शुरू करता है तो वह गढ़ी में सोदाना डामोर को नशे में बड़बड़ाते पाता है। सोदाना डामोर गढ़ी का एक बहुत छोटा किसान था जिसके पास मात्र एक खेत था। वह पिछले पंद्रह दिन से गढ़ी के जागीरदार के यहाँ बेगार कर रहा था। पिछली रात हुई ओलावृष्टि में उसके खेत की सरसों तबाह हो गई इसलिए उसने जीवन में पहली बार नशा किया था। इसी तरह अधिकांश आदिवासी अपने दुखों को भुलाने के लिए देसी दारू पीते हैं। गोविंद गुरु ने गढ़ी से शुरू हुए अपने सार्वजनिक व्याख्यानों में नशाखोरी को मुख्य विषय बनाया और आदिवासियों को समझाया कि किस प्रकार यह आदत उनके जीवन को तबाह कर रही है, ''किसी भी तरह का नशा काया और चित्त को खराब करता है।'' जब एक स्थानीय निवासी कहता है कि नशे से थकान मिटाने और सांस की बीमारी में मदद मिलती है तो गोविंद उसके इस भ्रम का भी निराकरण करता है।

हरिराम जी 'धूणी तपे तीर' में अपने कथा नायक गोविंद गुरु के माध्यम से नशाखोरी को आदिवासियों की एक प्रमुख समस्या के रूप में चित्रित करते हैं और उससे मुक्ति को संपा सभा का एक प्रमुख लक्ष्य बनाते हैं। गोविंद गुरु समझता है कि नशाखोरी की आदत पड़ने पर धीरे–धीरे आदिवासी दारू के ठेकों से शराब खरीदकर पीने लगते हैं जिससे ब्रिटिश राज का खजाना भरता है और आदिवासी विपन्न होते हैं। शराब पीकर वे अपने घरों में झगड़ा करते हैं इसलिए संप सभा के लोगों ने नशामुक्ति के लिए कार्य–योजना बनाई और जागृति का अभियान शुरू कर दिया। लोगों को समझाया जाने लगा, जिसका परिणाम भी शीघ्र सामने आने लगा और बड़ी संख्या में लोगों ने दारू पीना छोड़ दिया।

5.5 आदिवासी प्रतिरोध : स्वरूप व समस्याएँ

'धूणी तपे तीर' उपन्यास में आदिवासी विद्रोह की पहली घटना बारापाल और पडौना में घटती है। भील आदिवासी महाराणा मेवाड़ के दरबार में जनगणना, वनोपज पर उनके अधिकार, नई आबकारी नीति आदि को लेकर अपना पक्ष रखते हैं लेकिन महाराणा की ओर से उन माँगों पर कोई कार्यवाही नहीं की जाती। इसी बीच बारापाल के थानेदार ने पडोना के गमेती (भील मुखिया) को मार दिया। एक झूठे केस में गवाही देने के लिए रात भर उसे इतना पीटा कि उसकी मौत हो गई। इस घटना ने आदिवासियों के असंतोष को बढ़ाने में आग में घी का काम किया। ढेरों आदिवासियों ने बारापाल थाने पर हमला बोल दिया जिसमें थानेदार सहित कई लोग मारे गए। इसके बाद आदिवासी विद्रोहों और उनके दमन का सिलसिला शुरू हो गया। बड़ी संख्या में आदिवासी हताहत हुए। इन विद्रोहों की सफलता यह थी कि इनके दबाव में सरकार द्वारा ऋषभदेव समझौता किया गया जिसमें आदिवासियों की अधिकांश माँगें मान ली गईं।

ऋषभदेव समझौते के प्रभाव समीपवर्ती इलाकों में आदिवासियों द्वारा अपनी माँगों को मनवाने के लिए विद्रोह हुए। महाराणा को फिर समझौते के लिए बाध्य होना पडा। हालांकि इन समझौतों में भील मुखियाओं के ऊपर भी काफी जिम्मेदारी डाली गई। उल्लेखनीय है कि आदिवासी विद्रोहों की शुरुआत बहुत पहले हो चुकी थी और 1857 के सशस्त्र विद्रोह में भी आदिवासी सैनिकों ने बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया। हरिराम मीणा ने 1857 के विद्रोह में आदिवासियों की भूमिका की प्रामाणिक प्रस्तुति के लिए कर्नल शॉवर्स की पुस्तक का सहारा लिया है।

संप सभा में रक्षा दलों का गठन भी किया जाता है लेकिन नायक गोविंद गुरु की शुरू से इसमें कम दिलचस्पी रहती है। कुरिया, पूंजा और थावरा रक्षा दलों में गहरी दिलचस्पी लेते हैं और उनके मस्तिष्क में 'धूमाल' की योजना बन रही होती है लेकिन गोविंद गुरु हमेशा उन्हें हतोत्साह करता है। संप सभा के कार्य–विभाजन के वक्त रक्षा दलों का गठन किया जाता है और उन्हें कार्य सौंपा जाता है– मेले के दौरान लोगों की मदद करने के अलावा ''आदिवासियों पर आये दिन होने वाले अत्याचारों का स्थानीय विरोध. राज के कर्मचारियों और जागीरदारों के आदमियों द्वारा बैठ बेगार के उद्देश्य से आदिवासियों को जबरन ले जाने का विरोध किया जाएगा।'' इसके अलावा ''वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा सूखी लकड़ी, घास और जंगली कंद–मूल–फल एकत्रित करने पर लगाई पाबंदी के विरोध की अगुवाई रक्षा दल के सदस्यों द्वारा की जाएगी ताकि स्थानीय स्तर पर एकजुट होकर इस कार्यवाही को सफल बनाया जा सके। खेती की फसल पर कितनी 'लेवी' देना उचित होगा, यह निर्णय संप सभा करेगी और समय पर रक्षादलों को सूचित कर दिया जाएगा ताकि राज के द्वारा किए जाने वाले शोषण पर अंकुश लगाने का काम आरंभ हो सके... विरोध के बावजूद ठेकेदारों द्वारा शराब बेची गयी या इलाके में दुकानें खोली तो इसका सशक्त विरोध रक्षा दलों द्वारा किया जाएगा और स्थानीय रक्षादल सुनिश्चित करेंगे कि आदिवासी अंचल में शराब की दुकानें नहीं खोली जाएँ। राज–कर्मियों या जागीरदार के कारिंदों द्वारा हमारी बहू–बेटियों पर बुरी नजर डालने की सूचना पर या स्थिति में ऐसी हरकत करने वालों को रक्षा दल के सदस्य सबक सिखायेंगे।'' यहाँ तक ही सीमित नहीं है रक्षा दलों की भूमिका। इससे भी आगे बढ़कर तय किया जाता है कि ''अगर संकट आया और स्थिति ऐसी पैदा हो गयी कि राज से सीधी टक्कर लेनी पड़ी तो आपातकाल में बजाये जाने वाले 'हलकारा ढोल' की आवाज सुनते ही रक्षा दल के सदस्य नियत स्थान पर तुरंत एकत्रित होकर मोर्चा लेने के लिए तैयार होंगे।'' इतने महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को लेकर गठित रक्षा दल गोविंद गुरु की अधूरी और अस्पष्ट समझ के कारण कोई काम नहीं आते। गोविंद गुरु का लक्ष्य रक्षा दलों की मदद से धूणी धामों को बचाना भर रह जाता है। अंतिम संघर्ष के लिए 'हलकारा ढोल' बजता है, रक्षा दल मानगढ़ की पहाड़ियों पर पहुँचते हैं, हजारों आदिवासी भी पहुँचते हैं, लेकिन अंत में गोविंद गुरु एक तैयार आंदोलन को हवनों की रक्षा में लगा देता है।

दरअसल संप सभा में एक दल ऐसे लोगों का है जो क्रांतिकारी आंदोलन के माध्यम से बदलाव में यकीन करता है। इस दल में कुरिया दनोत और थावरा सबसे प्रमुख हैं। कुरिया हमेशा 'धूमाल' की बात करता है, धूमाल यानी क्रांतिकारी आंदोलन। लेकिन गोविंद गुरु द्वारा उसके विचार को हमेशा दबा दिया जाता है। एक समय गोविंद गुरु इतना लोकप्रिय हो चुका था कि उसके एक इशारे पर मेवाड़ के आदिवासी जान देने को तैयार थे, इसके बावजूद गोविंद गुरु आदिवासियों की उस ताकत को अपने धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति में लगा देता है।

गोविन्द गुरु का आंदोलन मुख्यतः एक सुधार आंदोलन था और इसकी शुरुआत वह बचपन में अपने दोस्त कुरिया के पिता सांवता के शराब की वजह से क्षयरोग से ग्रसित होने के प्रति कुरिया को जागरुक करने से कर देता है। इसके बाद वह गढ़ी में पंचायत बुलाकर अपना पहला सार्वजनिक व्याख्यान देता है जिसमें नशेखोरी के अलावा बेगार, वनोपज आदि मुद्दों पर बोलता है और लोगों के सवालों के जवाब देता है। गाँववालों की मिश्रित प्रतिक्रिया होती है। इसके बाद संप सभा के गठन और धूणी धामों की स्थापना के माध्यम से गोविंद गुरु का

आंदोलन शुरू हो जाता है लेकिन अस्पष्ट रणनीति के कारण अंत में बुरी तरह विफल साबित होता है।

बोध प्रश्न

1. 'धूणी तपे तीर' उपन्यास का नायक कौन है?

   क) गोविंद गुरु

   ख) होरी

   ग) टंट्या भील

   घ) बिरसा मुंडा

2. निम्न में से कौनसी रचना हरिराम मीणा द्वारा रचित नहीं है?

   क) धूणी तपे तीर

   ख) जो इतिहास में नहीं है

   ग) हाँ, चाँद मेरा है

   घ) रोया नहीं था यक्ष

3. 'धूणी तपे तीर' उपन्यास का कथानक किस जगह का है?

   क) रामगढ़

   ख) मानगढ़

   ग) धानगढ़

   घ) भानगढ़

4. 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में अभिव्यगक्त आदिवासी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालें।

   ....

   ....

   ....

5. 'धूणी तपे तीर' उपन्यास के आधार पर आजादी की लड़ाई में आदिवासियों के योगदान की चर्चा कीजिए।

   ....

   ....

   ....

6. हरिराम मीणा की कथा भाषा पर टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

5.6 सारांश

'धूणी तपे तीर' में मानगढ़ की पहाड़ियों पर हुए आदिवासी 'जलियाँवाला कांड' की घटना को केन्द्र में रख गोविंद गुरु के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को फिर से जीवित कर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में मेवाड़ और वागड़ अंचल में आदिवासी जीवन में घटी घटनाओं को मूर्त किया है। उपन्यास में अभिव्यक्त आदिवासियों की समस्याएँ दो तरह की हैं– समाज की आंतरिक समस्याएँ और राज द्वारा थोपी समस्याएँ। आंतरिक समस्याओं में नशाखोरी और राज की समस्याओं में बेगार, लगान–इजाफा, बेदखली आदि सबसे अहम समस्याएँ थीं। गोविंद गुरु अपने साथियों –कुरिया दनोत, पूंजा धीरा, थावरा आदि– की मदद से संप सभा का गठन कर इन समस्याओं से लड़ने का प्रण लेता है और गाँव–गाँव में इन समस्याओं के प्रति जागरुकता फैलाने के लिए धूणी धामों की स्थापना करता है। धीरे–धीरे ये धूणी धाम आदिवासियों की जागृति केन्द्र बन जाते हैं। गोविंद गुरु का आंदोलन वास्तव में एक धार्मिक और समाज सुधार आंदोलन बनकर उभरता है। संप सभा के माध्यम से हुए उन बदलावों और अंग्रेजों द्वारा उसके दमन व सैकड़ों आदिवासियों की कुर्बानी को उपन्यास में प्रमुख स्थान दिया गया है। उपन्यास का महत्त्व एक 100 साल से अधिक पुरानी घटना को पुनर्जीवित करना है, जिसमें 1500 से अधिक आदिवासी शहीद हुए।

5.7 उपयोगी पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ

पुस्तकें

- आदिवासी दर्शन और साहित्य, वंदना टेटे, विकल्प प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
- आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, वंदना टेटे, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, 2013
- आदिवासी चिंतन की भूमिका, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- आदिवासी दर्शन और समाज, हरिराम मीणा, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2020
- आदिवासी साहित्य यात्रा, रमणिका गुप्ताा, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008

पत्रिकाएँ

- झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची
- आदिवासी साहित्य, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- अरावली उद्घोष, जयपुर

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (ख)
4. स्वयं लिखने का प्रयास करें।
5. स्वयं लिखने का प्रयास करें।
6. स्वयं लिखने का प्रयास करें।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 6 व्यक्तित्व की भूख (सुमित्रा कुमारी सिन्हा) : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 हिंदी कहानी लेखन परंपरा और सुमित्रा कुमारी सिन्हा

6.3 सुमित्रा कुमारी सिन्हा का संक्षिप्त परिचय

6.3.1 व्यक्तित्व

6.3.2 कृतित्व

6.4 'व्यक्तित्व की भूख' : वाचन

6.5 'व्यक्तित्व की भूख' की अंतर्वस्तु

6.6 'व्यक्तित्व की भूख' का पाठालोचन

6.6.1 सामाजिक एवं पारिवारिक सन्दर्भ

6.6.2 स्त्री विमर्श

6.7 सुमित्रा कुमारी सिन्हा की वैचारिकी और जीवन-दृष्टि

6.8 'व्यक्तित्व की भूख' की प्रासंगिकता

6.9 सारांश

6.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

'अस्मितामूलक विमर्श और हिंदी साहित्य' पाठ्यक्रम की यह छठी इकाई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- हिंदी कहानी लेखन परंपरा में सुमित्रा कुमारी सिन्हा का स्थान एवं महत्त्व समझ सकेंगे;
- सुमित्रा कुमारी सिन्हा के व्यक्तित्व, कृतित्व और सम्मान से परिचित हो सकेंगे;
- 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी की अंतर्वस्तु जान सकेंगे;
- 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी के विभिन्न पहलुओं को समझ सकेंगे;
- सुमित्रा कुमारी सिन्हा की वैचारिकी और जीवन दृष्टि को जान सकेंगे; और
- 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी की प्रासंगिकता समझ सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप सुपरिचित रचनाकार सुमित्रा कुमारी सिन्हा की चर्चित कहानी 'व्यक्तित्व

की भूख' का वाचन करेंगे। कहानी वाचन के उपरान्त हम कहानी के विविध पहलुओं का मूल्यांकन करेंगे और कहानी की अंतर्वस्तु से आपका परिचय कराएँगे।

आधुनिक काल में गद्य की विविध विधाओं का आविर्भाव हुआ, जिनमें 'कहानी' भी एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में विकसित हुई। 'कहानी' कथा साहित्य की काफी लोकप्रिय विधा है। लोकप्रियता का आधार एक ओर इसका रोचक कथानक रहा है, दूसरी ओर इसकी भाषागत सरलता रही है। कहानी में मनुष्य जीवन के किसी एक घटना या प्रसंग का रोचक चित्रण संप्रेषणीय भाषा में किया जाता है। फलस्वरूप पाठक इस विधा की ओर अनायास ही आकर्षित होता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि साहित्य के प्रति पाठकों का आकर्षण बढ़ाने में कहानी विधा सबसे ज्यादा सफल हुई है

6.2 हिंदी कहानी लेखन परंपरा और सुमित्रा कुमारी सिन्हा

हमारे देश में कथा वाचन, श्रवण और लेखन की काफी लम्बी परम्परा रही है, किन्तु इसका स्वरूप 'आख्यायिका' का रहा है। इसे आज की कहानी की संरचना से नहीं जोड़ा जा सकता। 'कहानी' का वर्तमान स्वरूप आधुनिक काल की देन है। आधुनिक काल में भारतीय साहित्य पश्चिमी साहित्य के संपर्क में आया और गद्य की नयी विधाओं का जन्म हुआ। 'कहानी' विधा का आविर्भाव भी अंग्रेजी की 'शॉर्ट स्टोरी' से हुआ है। हिंदी की पहली कहानी कौन–सी है? इस संदर्भ में साहित्येतिहासकारों में एकमत नहीं है। कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (1803 ई.) को मानते हैं, तो कुछ विद्वान किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' (1900 ई.) को। कई विद्वानों का मानना है कि माधवराव सप्रे की 'टोकरी भर मिट्टी' (1901 ई.) हिंदी की पहली कहानी है, जबकि किसी को बंग महिला की 'दुलाई वाली' (1900 ई.) पहली कहानी लगती है। इनके अलावा रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' और जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' आदि भी हिंदी की प्रारंभिक कहानियाँ हैं। हिंदी कहानी लेखन परंपरा में प्रेमचंद का आगमन विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचंद का साहित्यिक महत्त्व आँकते हुए ही हिंदी कहानी की विकास परंपरा को प्रेमचंद पूर्व युग, प्रेमचंद युग और प्रेमचंदोत्तर युग में विभाजित करके समझा जाता है। इसके अलावा कहानी लेखन परंपरा में नई कहानी, समकालीन कहानी और समानांतर कहानी आंदोलन भी उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद पूर्व युग में हिंदी कहानी अपनी जड़ें मजबूत करने में लगी थी। इस समय विविध विषयों पर कहानियाँ लिखी जा रही थीं, जिसमें हिंदी की आरंभिक कहानियों के अलावा माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता', लाला भगवानदीन की 'प्लेग की चुड़ैल', वृंदावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षाबंधन' आदि कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद का युग हिंदी कहानी के विकास में प्रौढ़ता लेकर आया। प्रेमचंद की कहानी 'पंच परमेश्वर' 1916 ईं. में प्रकाशित हुई और यहाँ से हिंदी कहानी के नये युग का आरंभ हुआ। प्रेमचंद की कहानियाँ कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टि से कहानी विधा को रचनात्मक स्वरूप प्रदान करती हैं। आरंभ में विषयवस्तु की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियाँ आदर्शवादी थीं, लेकिन बाद में उन्होंने यथार्थवादी कहानियाँ लिखीं। प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआँ', 'पूस की रात', 'सद्गति', 'कफन' जैसी कहानियाँ लिखकर अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय

दिया। प्रेमचंद युगीन कहानीकारों में सुदर्शन का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। सुदर्शन ने अपनी कहानियों में हमेशा सामाजिक सुधार को प्राथमिकता दी और आदर्शवादी कहानियाँ लिखीं। इनकी 'हार की जीत', 'कवि की स्त्री', 'पत्थरों का सौदागर', 'कमल की बेटी' आदि कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुईं। जयशंकर प्रसाद ने भी पुरस्कार, 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', 'आंधी' जैसी श्रेष्ठ कहानियाँ लिखीं। प्रतिभाशाली कहानीकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री का लेखन भी इस युग में सामने आया 'अंबपालिका', 'रूठी रानी', 'दे खुदा की राह पर' आदि इनकी चर्चित कहानियाँ हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क ने प्रेमचंद युगीन कहानीकारों में अपनी एक अलग पहचान बनाई। अश्क के दो कहानी संग्रह 'निशानियाँ' और 'दो धारा' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', राधिकारमण प्रसाद सिंह, राहुल सांकृत्यायन, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी आदि भी विशिष्ट कहानीकार रहे हैं।

प्रेमचंदोत्तर कहानीकारों में यशपाल सबसे बड़े रचनाकार के रूप में साहित्य पटल पर उभरे। उनकी पहचान एक सामाजिक कहानीकार की रही है। यशपाल के अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'वो दुनिया;, 'पिंजड़े की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'चक्कर क्लब' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी दौरान मनोवैज्ञानिक कहानियों का दौर आया और कहानी के क्षेत्र में अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, जैनेद्र जैसे प्रतिभाशाली कहानीकारों का आगमन हुआ। अज्ञेय की चर्चित कहानियाँ हैं–'गैंग्रीन', 'खितीन बाबू', 'कोठरी की बात' आदि। जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक कहानीकार के रूप में काफी लोकप्रिय हुए थे। 'जाह्न्वी' उनकी सबसे प्रसिद्ध कहानी है। इसमें उन्होंने नायिका के विरह का मनोविज्ञान प्रस्तुत किया है। इनके अलावा उनकी 'मास्टर साहब', 'पत्नी', 'परख', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'पानवाला' आदि लोकप्रिय कहानियाँ हैं। मनोवैज्ञानिक कहानीकारों में इलाचंद्र जोशी का नाम कैसे भूला जा सकता है। उनकी 'प्रेतात्मा', 'रोगी', 'परित्यक्ता', 'चौथे विवाह की पत्नी' आदि चर्चित कहानियाँ हैं।

1950 ई. के बाद कहानी के क्षेत्र में कई आन्दोलन चले, जिनमें नई कहानी, सचेतन कहानी, समकालीन कहानी, अकहानी, समानांतर कहानी आदि प्रमुख रहे हैं। नई कहानी आंदोलन में कथ्य और शिल्प की नवीनता है। इन कहानी आंदोलनों में एक ओर ग्रामीण भावबोध है, तो दूसरी ओर नगरबोध। ग्रामीण भावबोध के कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मार्कंडेय, फनीश्वरनाथ रेणु आदि प्रमुख हैं, नगरबोध को लेकर मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमरकांत, निर्मल वर्मा जैसे सशक्त कहानीकार उभरे। कहानी लेखन परंपरा को समृद्ध करने में महिला कहानीकारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसमें उषा प्रियंवदा, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, राजी सेठ, चंद्रकांता, मेहरुन्निसा परवेज, सूर्यबाला, मालती जोशी, सुधा अरोड़ा, ममता कालिया, नमिता सिंह, चित्रा मुद्‌गल, नासिरा शर्मा आदि नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिंदी कहानी की विकास परंपरा में सुमित्रा कुमारी सिन्हा का विशेष योगदान रहा है। उनके दोनों कहानी संकलन 'अचल सुहाग' (1939 ई.) और 'वर्ष गाँठ' (1942 ई.) महत्त्वपूर्ण हैं। 'अचल सुहाग' में ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं। इस संग्रह की सभी कहानियाँ नारी चेतना से ओतप्रोत हैं इसीलिए सुमित्रा कुमारी सिन्हा को स्त्री विमर्श की बुनियाद खड़ी करनेवाली कहानीकार माना जा सकता है। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'व्यक्तित्व की भूख' इसी संग्रह में संकलित है।

6.3 सुमित्रा कुमारी सिन्हा का संक्षिप्त परिचय

सुमित्रा कुमारी सिन्हा हिंदी की जानी–मानी लेखिका हैं। इनका रचना समय बीसवीं सदी का तीसरा–चौथा दशक रहा है। इन्होंने कविताओं के साथ–साथ कहानियों का भी सफल लेखन किया है। इतना ही नहीं, इनको प्रथम 'नारीवादी' कहानीकार माना जा सकता है। इनकी कहानियों में स्त्री के आतंरिक और बाह्य जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। अतः इनकी कहानियाँ स्त्री विमर्श की बेहतरीन मिसाल बन गई हैं।

6.3.1 व्यक्तित्व

सुमित्रा कुमारी सिन्हा का जन्म 1913 ई. में उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में एक मध्यवर्गीय कायस्थ परिवार हुआ था। हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी की प्रारंभिक शिक्षा इन्हें अपने घर पर ही प्राप्त हुई थी।

इनके पिता का नाम डॉ. महेश चरण सिन्हा था, जो एक वैज्ञानिक, लेखक और समाज सुधारक थे। सुमित्रा जी को सृजनात्मकता अपनी विरासत में मिली थी। 1930 ई. में इनका विवाह चौधरी राजेंद्रशंकर से हुआ था, जो उन्नाव जिले के जमींदार थे। शादी के बाद ये नईमपुर गाँव की निवासी हुईं और यहाँ आकर भी इन्होंने पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी साहित्यिक अभिरुचि को बनाए रखा। ये स्वतंत्रता संग्राम से भी जुड़ी रहीं और इन्होंने कवि सम्मलेनों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इन्होंने बाल साहित्य के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया। ये आकाशवाणी लखनऊ से जुड़ी रहीं। इनके बेटे अजित चौधरी एक प्रतिभा संपन्न लेखक हैं। इनकी बेटी कीर्ति चौधरी लोकप्रिय कवयित्री हैं, जिन्होंने तारसप्तक में अपनी जगह बनाई थी। सुमित्रा कुमारी सिन्हा का देहावसान 30 सितम्बर 1994 ई. को लखनऊ में हुआ।

6.3.2 कृतित्व

सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने अपनी प्रतिभा से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। उन्होंने कविता और कहानी विधा में समान रूप से कलम चलाई है। उनके तीन कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं– 'विहाग' (1940 ई.), 'आशापर्व' (1942 ई.) और 'बोलों के देवता' (1954 ई.)। 'विहाग' इनका पहला कविता संग्रह है। इसमें कुल तैंतालीस कविताएँ संकलित हैं। इस संग्रह की कविताओं के बारे में प्रसिद्ध आलोचक डॉ रामकुमार वर्मा कहते हैं, "जीवन की समस्त निराशाएँ आशावाद के दृढ़ तन्तुओं से बाँधकर सुमित्रा कुमारी सिन्हा अपने वीतराग में जीवन को आत्मसंतुष्टि का केंद्र बनाना चाहती हैं। यही उनकी कविता का आधारभूत तत्व है। भाषा का अभिव्याख्यानात्मक रूप भी कविता में बड़ी स्वाभाविकता से आया है"। स्पष्ट है कि इनकी कविता जीवन मूल्यों की स्थापना करती है। इनके कविता संग्रह 'आशापर्व' में पैंतीस कविताएँ संकलित हैं। इस संग्रह की कविताओं के संदर्भ में प्रसिद्ध कवि माखनलाल चतुर्वेदी लिखते हैं, "श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा की कविताओं में, मुझे युग की आवश्यकताओं का क्रंदन सुनाई पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे अटूट अतृप्ति का कोष लिए वे निगूढ़ अंधकार में कुछ ढूँढती–सी जा रही हैं। एक उन्मुक्त आशा के साथ उनकी वाणी का पथ संचालन होता है। मीरा ने विश्व की सीमाओं को लाँघकर जो कुछ कहा है, सुमित्राजी मानो जीवन की अतृप्ति की उस वाणी को जगत की छाती पर दुहराकर देखना चाहती हैं"। निश्चित ही यह टिप्पणी सुमित्राजी की कविताओं के मर्म को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। 'बोलों के देवता'

भी सुमित्रा जी का लोकप्रिय कविता संग्रह है। इसमें इक्यावन कविताएँ संकलित हैं। इस पुस्तक की भूमिका प्रसिद्ध आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने लिखी है। वे लिखते हैं– "आज हिंदी काव्य को अतियथार्थवादी दुर्दिन से बचानेवाली जिन शक्तियों पर हम विश्वास रख सकते हैं उनमें प्रसिद्ध कवयित्री सुमित्रा कुमारी सिन्हा एक प्रमुख शक्ति हैं।...सुमित्रा कुमारी सिन्हा के प्रस्तुत गीत संग्रह 'बोलों के देवता' का विषय व्यक्ति की जीवन के प्रति निश्छल आस्था, जीवन साधना की रचनात्मक भावभूमि और भौतिक क्षेत्र में कर्म की सुनिश्चित प्रेरणा है"। जाहिर है कि सुमित्रा जी ने अपनी कविताओं से आलोचकों का ध्यान खींचा है और कविता के क्षेत्र में अपनी एक अलग पहचान बनाई है।

सुमित्रा कुमारी सिन्हा प्रसिद्ध कवयित्री के साथ–साथ चर्चित कहानीकार भी हैं। इनके 'अचल सुहाग' कहानी संग्रह की भूमिका रामविलास शर्मा ने लिखी है। वे अपनी भूमिका में लिखते हैं कि, "इस पुस्तक का संबंध आज के वीभत्स यथार्थ से अधिक है, कल के सुनहरे स्वप्नों से कम। और यथार्थ ज्ञान ही मनुष्य को परिवर्तन के लिए प्रेरित कर सकता है। फिलहाल नारी के एक ओर नियम– बंधनों, कठोर नीरस कर्तव्य और धर्मों की थोथी आदर्शवादिता के पहाड़ हैं: दूसरी ओर पुरुष के छद्म रूप की गहरी खाई हैं। प्रधानतः यही ध्वनि पुस्तक को पढ़ने के बाद कानों में गूँजती है। स्त्रियों द्वारा रचे गए साहित्य में यह आगे का कदम है, इसलिए यहाँ अशांति को शांति न कहकर उसे उसी नाम से पुकारा गया है। निराशावादिता की यह निष्क्रिय अशांति नहीं। उसकी अशांति शांत, निश्चेष्ट होती है। यहाँ गति है, क्रिया है, अपनी अशांति का अनुभव है और इसीलिए वह भविष्य के परावर्तित समाज के लिए उचित भूमिका है"। अलग से कहना न होगा कि सुमित्रा जी की कहानियाँ अपने समय का यथार्थ उजागर करती हैं। इनका दूसरा कहानी संग्रह 'वर्ष गाँठ' भी विशेष महत्त्वपूर्ण है।

इनकी अन्य रचनाओं में पंथिनी (1947 ई.), प्रसारिका (1949 ई.), कथा कुंज (1955 ई.), आँगन के फूल (1956 ई.), दादी का मटका (1960 ई.) आदि उल्लेखनीय हैं।

अतः कहा जा सकता है कि सुमित्रा कुमारी सिन्हा एक प्रतिभाशाली रचनाकार हैं। उन्होंने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से हिंदी साहित्य जगत को काफी प्रभावित किया है। उनका समस्त लेखन स्त्री सबलीकरण के लिए समर्पित है। वे अपनी कलम से दुनिया की आधी आबादी को सचेत, जागरुक और प्रेरित करती हैं और उन्हें संघर्ष के पथ पर चलने के लिए अग्रेसित भी करती हैं। उनके लेखन में एक ओर जहाँ अनुभूति की सच्चाई और प्रामाणिकता है, तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति की स्वाभाविक सहजता और स्पष्टता है। उन्होंने अपने साहित्य में एक तरह से स्त्री जीवन का अलिखित इतिहास लिखने की जद्दोजहद की है और सदियों से मूक स्त्रियों को वाणी प्रदान की है।

बोध प्रश्न 1

1) 'कहानी' आधुनिक काल की सबसे लोकप्रिय विधा क्यों बन गई है, दो–तीन वाक्यों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

2) हिंदी की पहली कहानी पर चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

....

3) हिंदी कहानी की विकास परंपरा में सुमित्रा कुमारी सिन्हा के योगदान पर प्रकाश डालिए ।

....

....

....

....

....

....

4) सुमित्रा कुमारी सिन्हा के कृतित्व का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

....

....

....

....

....

....

6.4 'व्यक्तित्व की भूख' (सुमित्रा कुमारी सिन्हा) : वाचन

बाथरूम से नहाकर इला निकली ही थी कि प्रसन्नता से नहा गई। मनोहर बाबू ने अखबार पर से दृष्टि हटाकर मुस्कुराते हुए कहा, ''तू फर्स्ट डिवीजन में पास हुई है इला, खिला मिठाई।''

और अखबार स्वयं उठा अच्छी तरह देखते हुए इला कमरे से बाहर हो गई। तितली की तरह उड़ी--उड़ी फिरकर उसने अपने मैट्रिक में प्रथम श्रेणी में पास होने की ख़बर सबको सुनाई–चिड़िया की तरह वह चहक उठी, मयूरी की तरह उसके हृदय का आनंद नाच उठा। घर भर में आनंद की लहर उठाती--सी इला अपनी खुशी को अपने में समाकर न रख सकी।

मालती ने कहा, ''चलो अच्छा हुआ। इस साल इला का विवाह भी कर देना है।''

मनोहर बाबू ने हाँ में हाँ मिलाई। किंतु इला के मुख-मंडल पर कुछ चिंता--मिश्रित अस्पष्ट रेखाएँ आकर बद्ध हो गईं। उसकी प्रसन्नता की सरिता को जैसे किसी ने कंकड़ी मारकर अस्थिर कर दिया। वह अपने एकांत कमरे में जाकर बैठ गई। मेज पर कुहनी टेक कर हथेली पर गालों को देकर कुछ सोचने लगी। उसकी आँखें दूर उस क्षितिज में स्थित नीले आकाश पर जा पड़ीं। विचारों के थपेड़े उसे रुलाने लगे। यह विवाह नाम की डरावनी बात ही क्यों उसके सामने बार--बार खड़ी की जाती है? आखिर इसे क्यों इतना महत्त्व दिया है? विवाह की जटिल समस्या वह कैसे हल करेगी... वह सिहर उठी...कौन जाने किस दिशा में जीवन बहेगा?

दिन भर वह इस विवाह की समस्या के चिंतन से मथित रही। धूमिल संख्या की नीरवता के क्षण में वह ऊब उठी। एक दीर्घ सांस फेंक, हाथ में एक कविता की पुस्तक ले छत के एक कोने में, जहाँ फूलों के गमले सजे हुए थे जाकर बैठ गई। अपने को चारों तरफ से बटोर कर, अध्ययन में लीन होने का प्रयत्न करने लगी।

सहसा सामने के मकान की सटी हुई छत से दबे पाँव रखता संगीत आ खड़ा हुआ, किंतु तल्लीन इला ने उसे न देखा। यह देख संगीत को एक शरारत सूझी। उसने गमले में लगे गुलाब के पौधे से एक फूल तोड़कर उसके ऊपर फेंक दिया। किताब पर फूल गिरने से एकाएक चौंककर इला ने देखा, तो खिलखिलाकर हँस रहा था संगीत। इला भी शरमाकर मुस्कुरा दी। संगीत ने उसी मधुर हास्य से कहा, ''बधाई देने आया हूँ इला।''

''धन्यवाद!'' कहकर इला हँस पड़ी।

''अब क्या कवि बनने का अयोजन हो रहा है?''

''तो आपको क्या?'' बनावटी क्रोध से भृकुटी चढ़ाकर इला बोली, किंतु इस वाक्य में उसका राशि--राशि भोलापन फूट पड़ा।

''अच्छा भाई, नाराज न हो, लो मैं जाता हूँ।'' कहकर स्निग्ध मुस्कुराहट से उसे निहारते संगीत चला गया।

पड़ोसी होने के नाते वर्षों से उसका परिचय था। लेकिन पहले वह कम आता, इधर अधिक आने लगा था। आयु यही कोई अठारह--उन्नीस वर्ष की थी। देखने--सुनने में सुंदर, मैट्रिक पास कर उसने कॉलेज ज्वाइन किया था।

पुस्तक के पन्नों में इला अपने आप को निहार रही थी। मन कल्पनाओं की प्रवाह में बहता जा रहा था दूर तक। यह युवक! कैसा हँस मुख, कैसा सरल! इससे खेलने को जी होता है। किंतु यह चाह क्यों? उसके जी में कौतूहल का प्रवेश हुआ—एक विस्मय सा अंतर में मचल उठा—क्या इसी को प्रेम कहते हैं? आकर्षण इसी का नाम है? स्कूल में सहपाठियों के वाद--विवाद इसी पर होते थे। किंतु वह तो इससे अभी तक अनवगत रही है। फिर इस संगीत को देखने के लिए आँखें क्यों उठ जाना चाहती हैं? उससे बोलने को होंठ क्यों स्फुरित रहते हैं? इला को भी रोमाँच हो आया। झकोरे से इठलाती हुई हवा ने अपने एक थपेड़े से उसके अंग--प्रत्यंग को सिहरा कर पूछा—''यह सृष्टि के कण--कण की मदिर सुषमा, किस बात का आभास देती है? यह फूलों के हँसने में किसका संदेश है?'' तुम नहीं देखती, इन चाँदनी धोये खेतों में कितना आकर्षण है! उसके यौवन के पौ फटने की वह बेला थी।

इला के विवाह की बातें जोरों से चलीं और एक दिन आखिर विवाह की तिथि निश्चय कर मनोहर बाबू ने संतोष की साँस ली। मालती ने पूछा, ''तुम्हें यह विवाह पसंद है इला कोई बात हो तो बता दो।''

इला काँप उठी, अधरों से कुछ शब्द प्रस्फुटित हुए, ''माँ, क्या विवाह करना जरूरी ही है।''

माँ का स्वर विकृत हो गया। वह कठोर होकर बोली, ''विवाह न करेगी तो करेगी क्या?''

इला ने माँ का भाव लक्ष्य किया। उसके हृदय पर आघात- सा लगा और मेघ- मंडल की तरह मुँह गंभीर करके उसने धीमे से उत्तर दिया, ''मुझे स्वीकार है माँ!''

उसके विरोध का मूल्य होता ही क्या? अभिभावकों की इच्छा और समाज के शासन पर ही तो उसका भविष्य निर्भर था।

विवाहोत्सव धूम से रचा जाने लगा। इला अधीर होकर सोचती, जीवन में एक महान परिवर्तन होने जा रहा है। फिर भी भावी जीवन के कुछ सुनहले स्वप्न थे, कुछ स्वर्गीय विचार थे, जो उसे भरमा लेते। वह दूसरे ही क्षण सोचती—दासत्व का सुख, बेबसी की शांति और बंदी का संतोष अपनाकर भी तो एक स्वर्ग होगा, जिसमें दो होंगे। पैर में बेड़ी भी पड़ेगी तो सोने की, दासत्व में भी एक अपनापन, एक अधिकार की भावना होगी—और वह गुदगुदाती हुई भावनाओं से भविष्य की कल्पना के चित्र बनाने लगती! मनुष्य के हृदय में चाह होती ही है।

विदा के समय उस निर्जीव पुतली के समीप संगीत शायद उसे दिलासा देने के प्रयत्न में स्वयं हारा--सा, थका--सा, निष्फल यत्न--सा बैठा रह गया। दूर चली गई इला।

किंतु यह क्या? मानव—काया में हृदय नाम की जो वस्तु है, पग--पग पर उसे ठेस क्यों लगती है? भावुक-हृदय के स्वप्नों के महल ढहते से क्यों प्रतीत होते हैं? विवाह की मुग्ध कल्पना वास्तविकता की भीषणता से टकराकर छिन्न--भिन्न बिखरती--सी क्यों लगी? सद्यः विवाहिता सप्तदश वर्षीया सुंदरी इला के मन में विचारों के अंधड़ उठने लगे।

सुशील उसका पति सहज, सरल निश्छल तथा त्यागी था, यथा नाम तथा गुण। जहाँ तक प्यार, स्वतंत्रता तथा आवश्यकताओं की पूर्ति वह दे सका, इला को उसने दिया। जरा--सा अस्वस्थ होने पर निरंतर उसकी चिंता करने वाले, उसे बिना साथ लिए घूमने भी न जाने वाले, किसी प्रकार के आराम में त्रुटि न होने देने वाले उत्तरदायी पति को इला अच्छी तरह जान गई, समझ गई थी। इन बातों के संबंध में उसके गुणों पर मुग्ध हुए बिना भी तो न रह सकी थी। किंतु यह क्या? शिक्षिता इला को सांत्वना क्यों नहीं? संतोष क्यों नहीं? एक अभाव की टीस क्यों? अपने सामने वह केवल अनाकर्षक जीवन ही क्यों देखती? आशा--निराशा में अंतर के भाव क्यों झनकार उठते? वह क्यों अनुभव करती कि दुनिया इतने सुख की जगह नहीं है जितना मनुष्य सोचता है?

पति के कॉलेज चले जाने के बाद अपने एकांत के सूनेपन को बटोर, उपन्यासों के पृष्ठों में हीरो--हीरोइन के जीवन के साथ अपने जीवन का कोई सूत्र ढूँढ़ निकालने की चेष्टा क्यों करती? उनके रोमाँस के भीतर वह अपने लिए एक संकेत खोजने की चेष्ठा में निरत रहती? और विफल प्रयास होकर विकल, पिपासित, हृदय के उन्मादक वेग को संभालने में असमर्थ वह सिसकने लगती। अज्ञात वेदना हृदय में धधक उठती! पति के सद्व्यवहारों में डूबकर भी उसके हृदय के अंतर में प्रेम की लहर की सृष्टि क्यों न होती? पति के विरुद्ध कोई शिकायत

न होते हुए, मानव शरीर में उनको देवता मानते हुए भी उसकी समस्त मनोवृत्तियाँ क्यों नहीं उनकी ओर एकाग्र होतीं? जैसे बीच में एक अगाध जलनिधि है! उनका सहयोग उसे पूर्णत्व क्यों नहीं दे सका? समस्त वैभव, अधिकार और अनुशासन से उसे जीवन के किसी क्षण में यह क्यों नहीं अनुभव कराया कि पति के हृदय के अणु-अणु में वह अपने हृदय को मिला रही है? एकाकी पथ पर चलने की उसकी धारणा क्यों? क्या उसके पास ही केवल वह अभाव है? अनुभूतियाँ हैं? और अनुभूतियों में वेदना की अतृप्त प्यास है? यह कैसा पागलपन है?

वह अपने अतीत युग के चित्र देखती। बिजली की तरह एक-एक तस्वीरें आँखों में से चित्रपट जैसी निकल जातीं, संगीत! ओह! वह नवयुवक...... देखने मात्र से गुदगुदी... काश, वह जीवन फिर लौट आता!

मई का महीना था, कॉलेज में छुट्टी होते ही सुशील ने अलमोड़ा जाने की तैयारी की। अलमोड़े में उसके एक दूर के संबंधी रहते थे; उन्हीं के घर ठहरने का निश्चय हुआ।

वहाँ उन दूर के संबंधी के घर पहले ही दिन इला को लगा जैसे मृदुल (संबंधी के नवयुवक बेटे) से उसका वर्षों का परिचय हो। कलाकार था न वह! कला जैसा ही सुंदर सर्वगुण संपन्न! सुंदर पर्वतीय दृश्यों को सुशील के साथ देखते हुए वह उस चित्रकार मृदुल की ओर भी चुपके से एक बार निहार लेती। प्रातः कालीन सूर्य की किरणों का सोना जब राशि-राशि लुटता, इंद्र-धनुषी फूलों की हँसी बिखरी रहती तो वह मृदुल कहता, ''कैसी शोभा है, देखते जी नहीं भरता!'' वह चित्रकार होने के साथ गायक भी था। उसके मधुर गीतों और प्रेम-भावना पूर्ण शब्दों से इला प्रभावित हो उठी। उसके कला के सौंदर्य की गहरी रेखा भावुक इला के हृदय में खिंचने लगी। किंतु उसके ज्ञान और भावना में, मस्तिष्क और हृदय में द्वंद्व चलने लगा। ज्ञान ने कहा—यह प्रेम अनुचित है, समाज इसे क्या कहेगा? विवाहिता नारी का प्रेम पति पर ही केंद्रित होता है। उसे कोई अधिकार नहीं कि वह कोई और स्नेही, मित्र, सखा बनाकर प्यार लुटाती चले। लेकिन मन को वह अच्छा लगता है! जाने दो यह सब, ऊंह! प्रेम ही तो जीवन है। इसकी अवहेलना क्यों? इसके बिना तो जीवन निर्जीव, निस्पंद, निरानंद हो जाता है। आखिर फिर क्यों समाज इसे पापाचार बतलाता है? मन में प्रश्नों के समूह उठते—क्यों एक ही रास्ते पर चलने को नारी प्रेरित है? क्या एक ही चीज देखते-देखते मनुष्य का थका मन अटक नहीं जाना चाहता? क्या इधर-उधर देखने को चंचल होकर उलझ जाना नहीं चाहता? तो इस मानव-सुलभ-स्वभाव की हत्या क्यों?

अब इस अवस्था पर इला पहुँच गई थी कि प्रति दिन की कोई अतृप्ति, प्रति मुहूर्त का कोई अभाव, पिंजरे के पक्षी की तरह प्राणों में छटपटा उठता था, उसका मन सुशील से दूर—बहुत दूर उड़ जाना चाहने लगा। सुशील को देखकर मुस्कुराने की, प्रफुल्ल मुख बनाने की चेष्टा में भी विफल, उसकी कृत्रिम मुस्कराहट में अंतर की अशांति झांक ही उठती।

मोहक, शीतल और नवीन वातावरण में मृदुल के साथ छुट्टी बिता कर इला को उससे मिली आत्मीयता, निकटता और अपने हृदय की सारी सद्कामनाएँ, सारा स्नेह लेकर वह उस पर निछावर करने चली। उसे जान पड़ा, इस युवक के हृदय में भी कोई अभाव आकाश की अनंत नीलिमा की तरह पसरा हुआ है। और तभी उसके प्राणों ने एक नई पीड़ा पाल ली!

घर लौट आने पर इला को कैसे कुछ खोया सा लगा। कोसों दूर स्थित मृदुल के लिए पत्र--प्रेषण मात्र ही आधार था। पत्र की आशा में इला पलकें बिछाए रहती। मृदुल के पत्र आते,

जिनमें सुंदर हृदय--उद्गारों की माला गुंथी रहती। भावुक हृदय की राशि--राशि कोमलता बिखरी रहती। इला उन्हें घंटों पढ़ती और रोती। प्रत्येक कार्य में मृदुल का ध्यान उसे हो आता। सुशील के नियमित जीवन, कॉलेज और बंगले में जैसे उसकी कोई दिलचस्पी नहीं। जैसे उसके संसर्ग में उसका मनोरंजन भी एक जटिल समस्या बनकर रह गया हो। बाह्य रूप में पति के जीवन के साथ संबद्ध, अभिन्न दीख पड़ने वाली नारी के अंदर की वस्तु स्थिति का ज्ञान किसे था?

समय भागता गया। दो वर्ष बीते।

एक महीने की कठिन बीमारी से इला स्वस्थ होकर उठी। जीवन के सभी साधारण दिनों की अपेक्षा ये दिन उसे कुछ नवीन से लगे। कुछ विशेषता--सी जान पड़ी। बीमारी के कारण उसके कृश बदन में पीलेपन का आभास हो गया था। चेहरा क्षीण होने से आँखें कुछ बड़ी--बड़ी सी निकल आई दिखायी देने लगी थीं।

प्रातः काल की हलकी, उजली धूप में बंगले के बरामदे में इज़ी चेयन पर इला लेटी हुई एक मासिक पत्रिका के चित्र देख रही थी। सहसा मनोज ने प्रवेश किया। वह एम.बी.बी.एस. होकर डॉक्टरी कर रहा था। सामने कुर्सी पर बैठते हुए उसने मुस्कराकर प्रेम भरे स्वर में पूछा, ''कहिए भाभी, आज तो टेम्परेचर नहीं रहा?''

प्रत्युत्तर में इला भी मुस्कराकर बोली, ''ऊंह, आप भी क्या हर घड़ी टेम्परेचर की बात पूछा करते हैं? अरे, अब तो मैं चंगी हो गई!''

''मेरी मेहनत सफल हुई भाभी!''

''लेकिन व्यर्थ ही तो? आपने मुझे क्यों बचा लिया?''

''क्यों भाभी, ऐसा क्यों कहती हो?''

''अरे एक दिन तो मरना ही है, फिर क्या करना ज्यादा जी कर?''

''ऐसा विचार स्वास्थ्य के लिए घातक है। आपको किस बात की कमी है? ऐसे विचारों को पालकर दुनिया में आदमी पागल हुए बिना नहीं रह सकता।''

इला ने उसकी बातें सुनीं। मन में किसी ने दुहराया—किस बात की कमी है तुम्हें! साथ ही किसी कोने से उठकर उत्तर मिला, तुम क्या समझोगे डॉक्टर!

मनोज बड़ी आँख, पतली नाक, सुगठित शरीर का एक सहृदय युवक सुशील के गहरे मित्रों में से था और उससे आयु में दो-एक वर्ष छोटा होने के नाते इला को भाभी ही कहता था। समय ने घनिष्ठता उत्पन्न कर दी थी। परिजन-सा वह हो गया था जब से इला बीमार पड़ी थी, प्रति दिन उसकी देख-रेख, दवा-पानी की व्यवस्था तथा मन-बहलाव के लिए आना उसकी ड्यूटी हो गई थी। इला का मनोरंजन भी काफी होता। उसे उसके व्यवहार में प्रेम का आभास मिला और वह समझने लगी कि मनोज उसे चाहता है। उसके हृदय में संघर्ष होने लगा। उसने एक बार अपने जीवन की डायरी के पन्ने उलटे ओफ्! क्यों इन युवकों के प्रति आकर्षण? जीवन में एक नहीं चार-चार पुरुष आए! एक संगीत था—यौवन की सीढ़ी पर पाँव रखते जिसे देखा था। दूसरा सुशील मिला, जीवन-संगी के रूप में। तीसरा उसकी कलात्मक प्रकृति की भावना को प्रेरणा देने वाला कलाकार मृदुल आया और चौथा आज यह

मनोज–सौंदर्य की प्रतिमूर्ति बनकर जीवन की सारी श्रृंखला छिन्न-भिन्न करने आया है। इला की शिराओं में रक्त वेग से संचरित होने लगा। उसने अनुभव किया कि वह स्वयं झुक रही है। इस युवक की आँखों में क्या विशेषता है, जो उसे खींचती है? क्या इसी दृष्टि पर नारी अपने को पुरुष के सम्मुख समर्पण कर देती है? लेकिन नहीं, उसे यह ख्याल भी मन में लाना पाप है, वह विवाहिता है।

भ्रांत, उन्मत्त इला एक साथ ही अनेक बातें सोचकर पागल हो उठी। उसके हृदय की अवस्था डांवाडोल हो रही थी।

बीच में कुछ कार्यवश मृदुल इला के यहाँ आया। पंद्रह दिन रहने पर उसका मनोज से काफी परिचय हो गया और उसकी नज़रों से मनोज की इला के प्रति मनोवृत्तियाँ भी छिपी न रह सकीं। उसके कोमल हृदय को कुछ ठेस-सी लगी। घर पहुँच कर उसने लिखा, ''इला, मैंने देखा, वह जो मनोज, तुम्हारे पास अधिक आता है, और जिस प्रकार उसने तुम्हारे हृदय पर विजय प्राप्त कर ली है, मेरे विचार से तुम्हारे जीवन को सिवा दुख के किसी सुख के पथ पर वह नहीं ले जा सकता है। सोचो-समझो, तुम किधर जा रही हो?''

पढ़कर इला स्तब्ध रह गई। सचमुच यह तो जान-बूझकर उस घर में आग लगाना है जो जरा-सी गर्मी पाकर स्वयं जल उठने को व्याकुल हो। जब तक कोई घटना न हीं घटती, जब तक कोई भेद, रहस्य, कोई जटिल समस्या बीच में नहीं आ पड़ती, मनुष्य का भावुक मन कल्पना के समुद्र में गोते लगाया करता है। यही दशा इला की थी। अभी तो उसकी आँखों में एक ही मोहक भाव, एक ही मुग्धता भरी थी, केवल मात्र प्यार करने की अंध इच्छा। पात्र प्यार करने योग्य भी है या नहीं, इसकी उसे अपेक्षा न थी। आज उसकी आलोचनात्मक वृत्तियाँ जाग उठीं। आज वह उसके संबंध की एक-एक घटना, एक-एक बात, उनके शारीरिक, मानसिक सौंदर्य की पर्यालोचना करने लगी। किंतु सहृदय इला ने अपना भावुक मन दोनों से ही घनिष्ठ प्रेमपूर्ण परिचय पाकर दे दिया था। दोनों ने अपने मानसिक तथा शारीरिक सौंदर्य द्वारा उसके हृदय में जाकर सामंजस्य स्थापित कर लिया था। इला के हृदय में न जाने कितने द्वंद्व, उलझन का संसार लिए उठ पड़े। कैसा था उसका जीवन, नैराश्य की मरुभूमि को छूता हुआ! कैसी थी उसमें प्रेम की करुण विडंबना, दारुण कृत्रिमता के पीछे सहानुभूति की कुचली हुई आकांक्षा!

दिन के दो बज गए थे। इला लेटी हुई थी। गंभीर विचारों का उसके हृदय में युद्ध चल रहा था। मृदुल के पत्र के सत्य को वह देख कर भी नहीं देखना चाहती थी। इस प्रेम और कर्तव्य को लेकर उसका हृदय भारी हो आया, आँखें छलछला आईं, और वह चुपचाप सिसकने लगी।

संध्या में देर थी। नित की भांति मनोज आया। इला अपनी लाइब्रेरी में बैठी थी। निःशब्द चरणों से वहाँ जाकर मनोज ने उसे चौंका देने की सोची। दबे पैरों जैसे ही घुसा, इला की दृष्टि सहसा पड़ ही गई। मृदु मुस्कुरा कर मनोज बोला, ''किस परीक्षा की तैयारी हो रही है?''

किंतु और दिनों की अपेक्षा इला आज क्षुब्ध थी, उसके हृदय में एक काँटा-सा खटक रहा था। खिन्नता भरे स्वर में बोली, ''क्यों, क्या कीजिएगा पूछ कर?'' आज अपने ऊपर ही उसे एक खीझ उत्पन्न हो गई थी।

मनोज मन ही मन आश्चर्यान्वित हुआ।

''क्या बात है?'' उसने पूछा, ''आज सुस्त क्यों हो?''

''यूँ ही, कुछ दर्द है सिर में'', कहकर इला अपने ड्राइंग रूम में उठ कर चली गई।

मनोज क्षण भर रुका फिर उसे दरवाज़े के पास से ही पुकार कर बोला, ''ज्यादा दर्द है क्या भाभी, कोई बाम मल दूँ?''

इला ने कहा, ''कोई जरूरत नहीं'' और वह पलंग पर जाकर पड़ रही। मनोज का जी अकेले लगता नहीं था। यदि ऐसा न होता तो वह सुशील की अनुपस्थिति में ही ज्यादातर क्यों आता? उसने थोड़ी देर तक बैठकर, उसे एक बार सतृष्ण नेत्रों से देखा और फिल चला गया। दूसरे दिन शाम को मनोज फिर आया हाथ में एक पुस्तक लिए हुए। वह समझता था, सुशील घर पर न होगा। लेकिन सुशील उस दिन एक पार्टी में जाने के लिए जल्द ही आ गया था और इला के पास ही बैठा हुआ 'शेव' कर रहा था। सामने ही चेयर पर बैठते हुए मनोज ने पुस्तक इला को देनी चाही, लेकिन बीच में ही बोल उठा सुशील, ''कौन-सी पुस्तक है जी?''

मनोज ने उत्तर में कहा, ''भाभी जी ने मँगाई थी, कविता पुस्तक है। तुम क्या समझोगे इसे सांइस के प्रोफेसर?''

ऊपर से कोई अधिकार न रखते हुए भी मन के संबंध को दृढ़ समझने की भावना से इस प्रकार के व्यवहार को वह उचित जानता था। किंतु बीच से ही पुस्तक देखने की उत्सुकता से सुशील ने लपककर पुस्तक खींच ली। छीना-झपटी में उसमें रक्खा हुआ एक स्लिप फर्श पर गिर पड़ा। सुशील उसे उठाकर सरसरी नज़र से देखते हुए फिर उसी प्रकार उसे पुस्तक के बीच में रखते हुए, पन्ने उलटने-पलटने लगा। वह स्लिप इला के नाम मनोज ने लिख कर रक्खी थी। इला ने उसे पढ़ कर अन्यत्र छिपा दिया। किंतु सुशील को वह बात न भूली। रात को शय्या पर लेटे हुए उसने इला से पूछा, ''उस स्लिप में मनोज क्या लिख कर लाया था।''

इला का हृदय धक्धक् करने लगा। मनुष्य चोरी करते नहीं, वरन् उसके पकड़े जाते डरता है। तो क्या यह चोरी थी? आज तक तो कृत्रिम प्रेम वह सुशील को दे रही उस पर यह अविश्वास तो कर ही न सकता था, पर अंगार कब तक राख से छिपाया जाता! इला काँप उठी। कंपित स्वर से कहा, ''कुछ भी नहीं।'' लेकिन जब सुशील पीछे पड़ गया, ''कुछ तो था इला, मुझ से छिपाती हो?'' तब इला ने वह स्लिप दिखा दिया। उसमें लिखा था, ''प्राण! कल की तुम्हारी वह उपेक्षा, मेरे कलेजे पर छुरियाँ चला रही हैं। मुझ से क्यों नाराज हो? क्या एक तृषित हृदय को यों ही चिर पिपासा की जलन में तड़पने को छोड़ दोगी? मेरी रानी! क्या तुम्हारे प्रेम-पीयूष का एक कण भी न पा सकूँगा?''

इला का मुँह पीला पड़ गया था। इस प्रमाण के बाद भी क्या सुशील उसे सच्चरित्र समझेगा।

सुशील का मुँह विवर्ण हो उठा। उसके सिर पर जैसे एक साथ ही सौ वज्र गिरे। तीक्ष्ण व्यंग्य के कठोर स्वर में उसने कहा, ''छिपे-छिपे यह प्रेम लीला? फिर मेरे साथ प्रेम का स्वांग क्यों इला? इस विश्वासघात की जरूरत ही क्या है?''

क्रोध से उन्मत्त सुशील की श्वास जोरों से चल रही थी। आँखें रक्त वर्ण और शिराओं में उत्तेजना की उन्मत्त गति। इला की साँस मानों रुकी जा रही थी। वह निःस्पंद प्रस्तर मूर्तिवत मोढ़े पर बैठी रह गई। संस्कारों की शिकार दुर्बल नारी! बाहर से तो घर-गृहस्थी काम सब वैसे ही चलने लगा किंतु पति-पत्नी में जो मेल था, उसमें गाँठ पड़ गई। उनके हृदय में जो

लकीर पड़ गई उसे मिटाना कठिन था। इस पारिवारिक अशांति से कोई निस्पृह न रह सका। सुशील पर यह भीषणता स्पष्ट हो गई थी किंतु वह विस्मय से सोचता–और पतियों की भाँति कभी उसने अपनी पत्नी के चरित्र तथा गतिविधि पर कोई संदिग्ध दृष्टि नहीं रक्खी। वह सदैव स्वाधीन रही पर उसने उसकी अवहेलना की। अब वह अत्यंत उत्तेजित अवस्था में झुंझलाया हुआ रहता। तिलमिला कर सोचता–आवश्यकता से अधिक सरल और पत्नी के संबंध में शुष्क, समयानुकूल बातचीत तक ही सीमित वह न रहता तो आज यह अवसर न उपस्थित होता। एक घर में ही वह तटस्थ रहने लगा। इला से उसका संबंध टूटने-सा लगा, पाँच-पाँच, छः-छः दिन हो जाते–इला से भेंट न होती। बंगले में आता-खाता, सोता पर न तो इला की किसी बात को देखने सुनने की उसे कुछ आवश्यकता ही थी, न उत्सुकता। दैनिक जीवन यों ही चल रहा था।

मनोज, दो एक बार आने पर भी इला से भेंट न हो सकने से, कुछ चोट-सी खाकर अब बिल्कुल न आता।

इधर इला भी मानसिक अशांति से जर्जर होती जा रही थी। जैसे कोई भयानक वेदना उसे दबाए रहती हो। एक दिन सहसा सुशील उस तरफ से होकर निकला। इला को देख उसे कुछ प्रेरणा हुई। वह बैठ गया–जैसे आज हर बात के लिए वह तैयार हो आया हो। एक विचित्र सनक उसे सवार हो गई। गंभीर स्वर में बोला, ''इला, आत्मा को छल कर कुछ न होगा, व्यर्थ है यह। अच्छा होगा कि तुम एक सच्चा रास्ता पकड़ लो।''

हतबुद्धि-सी इला बोली, ''क्या?''

सुशील मृदुल के प्रति इला के प्रेम-व्यवहार को भी जान गया था। उसने कहा, ''तुम मृदुल और मनोज दोनों को चाहती हो, बेहतर है दोनों में से जिसके पास चाहो-चली जाओ।''

इला को जैसे काठ मार गया। कहाँ थी उसमें इतनी बुद्धि, बल और साहस? सदियों से पति के चरणों से लिपटी रहने वाली नारी में कहाँ थी उसे परित्याग करने की शक्ति और सामर्थ्य?

वह कातर स्वर में बोली, ''क्या तुम मुझे क्षमा नहीं कर सकते?''

कटु व्यंग्य से हँस कर सुशील बोला, इसमें क्षमा की क्या बात है इला, यह बिल्कुल साफ बात है। तुम में क्यों नहीं इतना साहस होता? समाज से डरती हो? वह कुछ न करेगा। वह सिर्फ डरने वालों को डराता है। हमारे तुम्हारे जीवन में अभिन्नता न स्थापित हो सकी तो बेहतर होगा कि अपने जीवन को नष्ट हाने से तो बचा लो।''

इला की असहाय भावना उसके अंतर में चीत्कार कर उठी, ''इन बातों से कोई लाभ नहीं है। मैं ऐसा नहीं कर सकती।''

''ऐसा नहीं कर सकती?'' क्रोध से सुशील गरज उठा, ''छिपे-छिपे पत्राचार कर सकती हो? क्यों? तो ऐसी दुष्चरित्र स्त्री के लिए मेरे घर में जगह नहीं। बोलो, तुम कहाँ जाना चाहती हो? मुझसे जो होगा आर्थिक सहायता कर दूँगा। किंतु मेरा साथ छोड़ो, मैं अधिक नहीं सह सकता।''

इला कल्पना भी न कर सकी थी कि सुशील इतना भयंकर रूप धारण कर सकेगा और पुरुष के आर्थिक आधिपत्य की व्यंजना उसे तीर-सी लगी।

दूसरे दिन वह अपने नैहर जा रही थी, ''दीदी, रोती क्यों हो?'' इला के बालों को उसने माथे पर से हटाते हुए करुण-प्यार भरे स्वर में हेमा ने कहा ''उसके मुख पर व्यथा की झलक थी।''

''भारतीय नारी जन्म से केवल रोना ही जानती है हेमा, मुझे रोने दे, रो-रोकर ही इन प्राणों को खो जाने दे, क्या करूँगी जी कर?''

''नहीं दीदी, ऐसा न कहो, तुम्हारे अभी माता हैं, पिता हैं, भाई हैं और तुम्हारी प्यारी हेमा है। इसी के लिए जियो।''

'पति-परित्यक्ता स्त्री का कोई नहीं, हेमा!'' इला की आँखों के सजल बादल झुक आए।

''दीदी, तुम पढ़ी-लिखी समझदार होकर ऐसा कहती हो?'' हेमा स्नेह कंपित स्वर में बोली– ''हेमा!'' इला की बाँध लगी हुई आँखें फिर उमड़ पड़ीं, ''जीवन के अनुभव बड़े कड़वे होते हैं कम से कम मुझे उसका कड़वा पहलू ही देखने को मिला है। उस दिन की बात तुझे नहीं मालूम? माँ ने कहा, ''पाँचवाँ महीना होने आता है ऐसे कब तक मायके में पड़ी रहोगी?''

पापा ने कहा, ''घर-वर अच्छा देखा, पढ़ा-लिखा कर ब्याह दिया। अब पति से बने न बने, हम उसके जिम्मेदार नहीं।'' तो बताओ न हेमा, मैं क्या करूँ? उनकी शरण में जाने के सिवा अब और क्या उपाय है? जीविका हम स्त्रियों के लिए इतनी सुलभ तो नहीं है?''

''मेरी राय में तो तुम्हें अपने पैरों पर खड़े होना चाहिए।'' हेमा आगे कह ही रही थी कि नीचे से किसी ने किसी कार्यवश हेमा को पुकारा। इला को वहीं छोड़ कर नीचे चली गई। रात के दस बजे सब लोग खा-पीकर सो गए। इला बैठ कर पत्र लिखने लगी। उसे कोई पता न था कि अब मृदुल और मनोज कहाँ पर होंगे, फिर भी उसने पुराने पतों से ही एक-एक पत्र दिनों के नाम लिखकर रख लिए। सबेरे उठते ही उन्हें डाक से भेज दिया। हफ्तों तक वह उत्तर की प्रत्याशा में बैठी रही। मनोज का तो कोई उत्तर ही नहीं आया। किंतु दूसरे सप्ताह मृदुल का उत्तर उसे मिला, उसने लिखा था, ''समाज का यह अत्याचार है इला, पति के सिवा अन्य किसी को प्रेम न करने के कठिन प्रतिबंध को तोड़ने के अपराध में इतना भीषण दण्ड तुम्हें भोगना पड़ता है, निःस्संदेह तुम्हारे जीवन को नष्ट करने में किन्हीं, अंशों में मैं भी भागी रहा, परंतु साहस और धैर्य से काम लो इला, परिस्थितियाँ स्वयं अनुकूल हो जाएँगी। मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक हो सकेगा, तुम्हारी आर्थिक सहायता करने से इनकार नहीं कर सकता।''

इस उत्तर को पढ़कर विद्रोही इला के हृदय में भीषण रोष-ज्वाला धाँय-धाँय कर उठी। उसकी मुद्रा कठोर हो गई। होंठों को क्रोध से दो बार चबाकर उसने कहा, ''कायर, स्त्री को पालतू पशु से भी गिरा हुआ समझने वाले पुरुष, तुम अपने को समझते क्या हो?......

''यह अपमान स्त्री नहीं सह सकती, तुम्हारे टुकड़ों पर ठोकर है। वह दर-दर की ठोकर खाएगी। किंतु तुम से सहायता नहीं ले सकती।'' और उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। अपने जीवन, समाज, संसार सबके प्रति उसके मन में विद्रोह जागा। जिस प्रेम के लिए उसका घर-द्वार, लोक-लाज, यश-अपयश सब छूटा और जिस प्रेम के लिए आज उसने अपने को समाज के निषेध की दीवारों की कैद से भी मुक्त पाया। वही आज नारी को आर्थिक असहायता का विकृत रूप इस तरह दिखा रहा था।

जीवन के अनुभूत सत्यों ने, आर्थिक समस्याओं ने, उसके चिर-अभ्यस्त भावुक हृदय को कुंठित कर दिया। उसमें कुचली हुई आकांक्षाएँ तड़प उठीं, उसमें जीवन की पराजय के प्रति एक

खीझ उठी उसके पुराने संकल्प तुच्छ हो उठे। जिन सहृदय और कोमल वृत्तियों ने उसे प्रेम के माधुर्य के लिए चंचल कर दिया था, आज वह भावुकता कठोरता में परिणत हो गई अमृत के बदले अब विष पीने को वह कटिबद्ध है। अपनी प्रबलतम प्रवृत्तियों को दबा कर अंगार में झुलसना है, लेकिन जब समाज के बताए रास्ते से हटकर झाड़-झंखाड़ में उलझ ही गई तो अपना और सारी नारी जाति का रास्ता उसे बनाना है। उसकी नसों में उत्तेजना से रक्त दौड़ा। उसे रास्ता बनाना है। अब वह किसी की सहायता के लिए हाथ न पसारेगी। और तभी अपने बचे-खुचे रुपयों के बल पर पिता के घर से भी अलग हो इला एक प्रगतिशील मासिक पत्र की संपादिका और संचालिका हो गई। उसके अंतर के अणु-अणु में जो विद्रोह की ज्वाला जल रही थी, जिसने उसके हरे-भरे जीवन को नष्ट कर दिया था, उसके कुछ कण बिखेरे बिना उसे चैन नहीं। सामाजिक सुधार-संघ-संस्थाओं को उसने अपना जीवन दे दिया। उसके भाषण में आग की लपटें निकलतीं, कालम के कालम उसकी जलती हुई लेखनी की चिंगारियों से भरे रहते। आज वह जान गई, समझ गई है कि समाज के विधानों को जंजीरों से जकड़ी हुई नारी जब तक अपने बंधन आप नहीं काटती–कोई शक्ति उसे उसका सर्वनाश होने से नहीं बचा सकती।

6.5 'व्यक्तित्व की भूख' की अंतर्वस्तु

'व्यक्तित्व की भूख' एक चर्चित कहानी है। इस कहानी का रचना समय बीसवीं सदी का चौथा दशक रहा है। उस समय 'स्त्री' शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पैठ जमा रही थी, किन्तु पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता उसके विकास में रोड़ा बन रही थी। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जड़, विकास विरोधी और भेदभावपूर्ण मानसिकता का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत कहानी है। इस कहानी की अंतर्वस्तु तत्कालीन समाज की एक स्त्री के आंतरिक और बाह्य जीवन के इर्दगिर्द बुनी गई है। उस स्त्री का नाम इला है, जो पढ़ी–लिखी भी है। कहानी की शुरुआत ही उसकी काबिलियत से होती है। उसकी काबिलियत का प्रमाणपत्र यह है कि वह मैट्रिक की परीक्षा फर्स्ट डिवीजन में पास हुई है। बावजूद इसके वह अपनी सफलता का जश्न भी अच्छी तरह से मना नहीं पाती है, क्योंकि उसके माता–पिता (मालती–मनोहर बाबू) अपनी बेटी की खुशी में शामिल होने की बजाय उसकी शादी की बात करने लगते हैं। उसके माता–पिता पितृसत्तात्मक मानसिकता के शिकार हैं इसीलिए उन्हें अपनी लड़की की शादी महत्त्वपूर्ण लगती है, न कि उसकी पढ़ाई–लिखाई। यहीं से इला के जीवन की आंतरिक पीड़ा शुरू होती है। उसे लगता है यदि उसके अपने घर के लोग उसकी भावनाओं की कद्र नहीं कर सकते, तो समाज से उम्मीद करना बेकार है। वह अपने विवाह की चर्चा से चिंता में डूब जाती है। कहानीकार सुमित्रा जी के शब्दों में, "यह विवाह नाम की डरावनी बात ही उसके सामने बार–बार खड़ी की जाती है? आखिर इसे क्यों इतना महत्त्व दिया है? विवाह की जटिल समस्या वह कैसे हल करेगी? वह सिहर उठी कौन जाने किस दिशा में जीवन बहेगा?" निश्चित ही ये सारे सवाल पुरुष वर्चस्ववादी सामाजिक संरचना को प्रश्नांकित करते हैं और स्त्री जीवन की कठिनाइयों को रेखांकित करते हैं। सामजिक जीवन में विवाह संस्था का असाधारण महत्त्व रहा है, किन्तु जब इस संस्था का दुरुपयोग समाज द्वारा स्त्रियों को दबाने और उनका शोषण करने के लिए किया जाता है, तब यह अनुपयोगी, गैरजरूरी एवं निरर्थक लगती है।

प्रस्तुत कहानी का विकास इला के दिल में उठनेवाली निर्विकार और निश्छल प्रेम की भावना से होता है। उसके हृदय में 'संगीत' के लिए प्रेम की भावनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। 'संगीत'

इला के पड़ोस में रहनेवाले लड़के का नाम है। उसकी उम्र अठारह–उन्नीस वर्ष है और वह देखने में भी सुंदर है। फिलहाल उसने मैट्रिक की परीक्षा पास करके कॉलेज में प्रवेश लिया है। इन दिनों उसका इला के घर आना–जाना काफी बढ़ गया है। आज वह इला को मैट्रिक की परीक्षा पास होने पर बधाई देने आया है और उसने इला के साथ शरारत करते हुए उस पर गमले से एक गुलाब का फूल तोड़कर फेंक दिया। पहले तो इला चौंक गई, किन्तु बाद में हँसने लगी। वह संगीत के साथ खुलकर बातें करती और खूब सारा हँसी–मजाक भी करती। संगीत के जाने के बाद उसके मन में जो भाव जागते हैं, उसे कहानीकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "यह युवक! कैसा हँसमुख, कैसा सरल! इससे खेलने को जी होता है। किन्तु यह चाह क्यों? उसके जी में कौतूहल का प्रवेश हुआ–एक विस्मय सा अंतर में मचल उठा–क्या इसी को प्रेम कहते हैं? आकर्षण इसी का नाम है? स्कूल में सहपाठियों के वाद–विवाद इसी पर होते थे। किन्तु वह तो इससे अभी तक अनवगत रही है। फिर इस संगीत को देखने के लिए आँखें क्यों उठ जाना चाहती हैं? उससे बोलने को होंठ क्यों स्फुरित रहते हैं? इला को भी रोमाँच आया"। स्पष्ट है कि यह इला के मन की पहली प्रेम भावना है। दरअसल, किसी भी व्यक्ति के हृदय में अंकुरित होनेवाली यह भावना बहुत कोमल, ताजगी से भरी हुई और सात्विक होती है। इसका सम्मान करना चाहिए। लेकिन विडम्बना यह है कि स्त्री मन की इस भावना की कद्र किये बिना ही उस पर किसी अजनबी पुरुष के साथ जिंदगी बिताने और शादी करने का दबाव बनाया जाता है। इला भी इस रूढ़िवादिता की शिकार हुई और उसकी मर्जी के खिलाफ विवाह की स्थिति निश्चित हुई। वह चाहकर भी विरोध न कर सकती थी, "उसके विरोध का मूल्य होता ही क्या? अभिभावकों की इच्छा और समाज के शासन पर ही तो उसका भविष्य निर्भर था"। यह हमारे समाज की वास्तविकता है। गौरतलब है कि इला की माँ मालती एक स्त्री होकर भी अपनी बेटी का साथ देने की जगह पुरुष प्रधान व्यवस्था के साथ खड़ी होती है। परिणाम स्वरूप इला को अपने प्रथम प्रेम की आहुति देनी पड़ती है और अपनी मर्जी के खिलाफ जाकर सुशील से शादी करनी पड़ती है।

इला के जीवन का दूसरा पड़ाव शादीशुदा जिन्दगी से शुरू होता है। उसके पति का नाम सुशील है, जो सहज, सरल, निश्छल और त्यागी स्वभाव का युवक है। उसके नाम के समान ही उसमें गुण भी मौजूद हैं। उसमें एक पति की सभी विशेषताएँ अंतर्निहित हैं। जैसे–"जहाँ तक प्यार, स्वतंत्रता तथा आवश्यकताओं की पूर्ति वह दे सका, इला को उसने दिया। जरा–सा अस्वस्थ होने पर निरंतर उसकी चिंता करनेवाले, उसे बिना साथ लिए घूमने भी न जाने वाले, किसी प्रकार के आराम में त्रुटि न होने देने वाले उत्तरदायी पति को इला अच्छी तरह से जान गई थी, समझ गई थी। इन बातों के संबंध में उसके गुणों पर मुग्ध हुए बिना भी तो वह न रह सकी थी"। स्पष्ट है कि सुशील एक अच्छा पति ही नहीं, बल्कि एक समझदार व्यक्ति भी है। बावजूद इसके इला के जीवन में संतोष नहीं है वह हमेशा उदास, हताश और निराश रहती है। पति के कॉलेज चले जाने के बाद वह अपना अकेलापन दूर करने के लिए उपन्यास पढ़ने लगती और उसमें अपने जीवन के सूत्र खोजने लगती। पति के गुणों से प्रभावित होकर भी उसके हृदय में प्रेम की वैसी अनुभूति उत्पन्न नहीं हुई, जैसी कभी संगीत के प्रति अनायास ही हुई थी। उसकी आँखों में अतीत के सुमधुर चित्र उभरते हैं, जिसमें 'संगीत' की यादें गुदगुदी करती हैं। इला सोचती है कि काश वह दिन लौट आते, तो कितना अच्छा होता। निश्चित ही यह इला के आंतरिक जीवन की व्यथा है, जिसे वह किसी के सामने व्यक्त नहीं कर सकती।

इला के जीवन में तीसरा मोड़ तब आता है, जब वह अपने पति सुशील के साथ अल्मोड़ा घूमने के लिए जाती है। वहाँ उसकी मुलाकात मृदुल से होती है। मृदुल सुशील का दूर का रिश्तेदार है। ये लोग उसी के घर अल्मोड़ा में रुकते हैं। मृदुल को देखकर इला को लगा कि वह उसे कई सालों से जानती है। वह उसकी ओर अनायास ही आकर्षित हो गई। मृदुल चित्रकार होने के साथ गायक भी था। उसके मधुर गीतों से इला बहुत प्रभावित हुई और अपने दिल पर मृदुल की रेखा खींचने लगी। उसका मन द्वन्द्व में फंस गया। एक मन कहता कि यह अनुचित है। उसे शादीशुदा होते हुए कोई अधिकार नहीं है कि अपना प्रेम किसी और पर लुटा दे। समाज क्या कहेगा? दूसरी ओर उसके मन को यह सब अच्छा लगता है। वह सोचती है कि प्रेम ही तो जीवन है। प्रेम के बिना जीवन निर्जीव हो जाता है। इन दोनों स्थितियों में उसका मन उलझ जाता है। इला को मृदुल से आत्मीयता मिली। परिणाम स्वरूप उसने अपने मन की सारी सद्भावनाएँ उस पर न्योछावर कर दीं। लेकिन छुट्टियाँ खत्म होने के बाद उसे घर लौटना पड़ा। मृदुल से बिछड़ते ही उसे फिर से तन्हाई ने घेर लिया। उन दोनों के बीच संपर्क का एक मात्र साधन पत्राचार था। वह मृदुल के पत्रों का बेसब्री से इंतजार करती और जब पत्र मिल जाता, तब वह बहुत उत्साहित होती। उसके पत्रों को वह घंटों पढ़ती और रोती रहती। पत्राचार का यह सिलसिला दो साल तक चलता रहा।

इला के जीवन का चौथा पड़ाव मनोज से जुड़ा हुआ है। मनोज एम.बी.बी.एस. डॉक्टर था और इला का इलाज करने आया था। एक महीने की लम्बी बीमारी के बाद मनोज की देखरेख में इला स्वस्थ हो गई। मनोज उसे भाभी कहकर पुकारता था और उससे प्रेमपूर्वक बातें भी करता था। इला के मन में उसकी बातें सुनकर जीने की एक नई उम्मीद जागने लगी थी। वह मनोज को चाहने लगी, किन्तु उसका मन द्वन्द्वात्मक स्थितियों से गुजरने लगा। वह अपने जीवन में आये सभी पुरुषों के बारे में सोचने लगी, "ओफ! क्यों इन युवकों के प्रति आकर्षण? जीवन में एक नहीं चार–चार पुरुष आए! एक संगीत था– यौवन की सीढ़ी पर पाँव रखते जिसे देखा था। दूसरा सुशील मिला, जीवन संगी के रूप में। तीसरा उसकी कलात्मक प्रकृति की भावना को प्रेरणा देने वाला कलाकार मृदुल आया और चौथा आज यह मनोज– सौंदर्य की प्रतिमूर्ति बनकर जीवन की सारी शृंखला छिन्न–भिन्न करने आया है"। इस तरह इला अपने अतीत से वर्तमान का सफर करती है। इसी दौरान किसी कार्यवश मृदुल इला के घर आता है और उसे मनोज की मनोवृत्ति का पता चल जाता है। वह इला को इस बात से आगाह करता है कि मनोज तुम्हारी खुशियों में सेंध लगा देगा। इला इस बारे में गंभीरता से विचार करती है और मनोज से दूरियाँ बनाये रखती है। लेकिन कुछ ही दिनों बाद इला के जीवन में तूफान आ जाता है। एक दिन मनोज एक पुस्तक हाथ में लेकर इला के घर आ जाता है। उसे लगता है कि सुशील घर में नहीं होगा, किन्तु उस दिन सुशील कॉलेज से घर जल्दी लौट आता है। जब मनोज इला को पुस्तक देने लगता है, तब बीच में ही वह पुस्तक सुशील अपने हाथ में ले लेता है। उस पुस्तक में रखी हुई एक चिठ्ठी फर्श पर गिर जाती है। सुशील उस स्लिप को पढ़ता है और इला का रहस्य खुल जाता है। परिणाम स्वरूप पति–पत्नी के रिश्ते में दरार पड़ जाती है। सुशील न केवल इला से दूरियाँ बनाता है, बल्कि उसके साथ कठोर व्यवहार भी करता है। एक दिन सुशील ने इला से स्पष्ट कह दिया कि, "इला, आत्मा को छल कर कुछ न होगा, व्यर्थ है यह। अच्छा होगा कि तुम एक सच्चा रास्ता पकड़ लो। तुम मृदुल और मनोज दोनों को चाहती हो, बेहतर है दोनों में से जिसके पास चाहो, चली जाओ"। यहाँ से इला के जीवन का संघर्ष शुरू होता है। इला एक परित्यक्ता स्त्री बन जाती है और ऐसी स्त्री का समाज में कोई स्थान नहीं होता। माँ–बाप ने कहा कि शादी

करके हमने अपनी जिम्मेदारी निभाई, अब पति से न बने तो हम क्या कर सकते हैं। उसने अपने दोनों प्रेमियों को पत्र लिखा, लेकिन दोनों ने उसका साथ देने से इनकार किया। परिणाम स्वरूप इला के मन में अपने समाज के प्रति विद्रोह जाग गया। जिस प्रेम के लिए उसने अपना सब कुछ दांव पर लगाया, उसी ने आज इस तरह कमजोर किया। उसने अपने पैरों पर खड़ा होने का निर्णय लिया और पिता का घर छोड़कर एक प्रगतिशील मासिक पत्र की संपादक बन गई एवं आजीवन सामाजिक विषमता के खिलाफ आवाज उठाती रही।

अतः कहा जा सकता है कि सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने प्रस्तुत कहानी स्त्री की भावुकता, संवेदनशीलता और संघर्ष के इर्दगिर्द बुनी है। कहानी के केंद्र में नायिका इला है, जो एक पढ़ी–लिखी होकर भी पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था के शिकंजे में फंसी हुई, प्रेम करने की सजा पाती है इसीलिए उसके मन में सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना जाग जाती है।

बोध प्रश्न 2

1) इला की शैक्षिक योग्यता पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

2) इला के शादीशुदा जीवन का चित्रण कीजिए।

....

....

....

....

3) इला और मृदुल के प्रेम संबंध को उजागर कीजिए।

....

....

....

....

4) 'परित्यक्त इला' पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

अभ्यास

1. 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी में स्त्री जीवन के कोमल पक्ष का मार्मिक चित्रण किया गया है, विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

2. इला और मनोज के प्रेम संबंध पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

6.6 'व्यक्तित्व की भूख' का पाठालोचन

सुमित्रा कुमारी सिन्हा की कहानी 'व्यक्तित्व की भूख' का पाठालोचन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण बन जाता है। इसमें समकालीन लोकजीवन के अनेक संदर्भ उभरते हैं, विशेषकर समाज में स्त्री की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति को उजागर करने की जद्दोजहद है इसीलिए प्रस्तुत कहानी के पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ की व्याख्या करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाता है।

6.6.1 सामाजिक एवं पारिवारिक सन्दर्भ

समाज की निर्मिति व्यक्ति–व्यक्ति के अंतर्संबंध से होती है। भले ही व्यक्ति समाज की सबसे लघु इकाई हो, अपितु समाज की नींव व्यक्ति पर ही खड़ी होती है। दरअसल, समाज में व्यक्ति के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। 'परिवार' समाज की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है। स्त्री–पुरुष दोनों के समान योगदान से परिवार बनता है। दोनों में से किसी एक के अभाव में परिवार की अवधारणा ही नहीं बनाई जा सकती, किन्तु विडम्बना यह है कि पुरुषप्रधान समाज में स्त्री के योगदान को नजरअंदाज किया जाता रहा है। ऐसी भेदभावपूर्ण नीति के कारण सुमित्रा कुमारी सिन्हा जैसी रचनाकार और 'व्यक्तित्व की भूख' जैसी कहानी का सृजन होता है। प्रस्तुत कहानी में अनेक पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भों से पुरुष वर्चस्ववादी सामाजिक संरचना की भेदभावपूर्ण नीति का भंडाफोड़ किया गया है।

इस कहानी का प्रारंभ पारिवारिक संदर्भ से होता है। कहानी की शुरुआत में एक परिवार सामने आता है, जिसमें मनोहर बाबू, मालती और उनकी बेटी इला है। यह परिवार भी सामाजिक बंधनों में जकड़ा हुआ है इसीलिए तो माता–पिता को बेटी को मैट्रिक की परीक्षा में मिली सफलता आनंदित नहीं करती, बल्कि उसके विवाह की चिंता सताती है। मनोहर बाबू

को तब सुकून मिलता है, जब वह किसी तरह से अपनी बेटी का ब्याह किसी के साथ सुनिश्चित कर लेते हैं। मालती भी अपनी बेटी को शादी करने के लिए मजबूर करती है। बेटी के शादी से इनकार पर वह दबाव बनाते हुए कहती है कि, "विवाह न करेगी तो करेगी क्या?" स्पष्ट है कि यह परिवार अपनी ही बेटी के विकास में अवरोध उत्पन्न करता है, क्योंकि वह स्त्री–पुरुष की भेदभावपूर्ण नीतियों का शिकार है। हमारे समाज की वास्तविकता है कि इसमें स्त्री के साथ दोहरा व्यवहार करते हुए उसकी प्रगति की संभावनाओं को समाप्त करने की नापाक कोशिशें की जाती हैं। अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी स्थितियों में कई बार स्त्री के विकास में विवाह सबसे बड़ी बाधा बन जाता है। 'विवाह संस्था' भी समाज व्यवस्था की उपज है। उसकी आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता, लेकिन पुरुषप्रधान समाज ने बड़ी चालाकी से इसका इस्तेमाल स्त्री के विरोध में किया है। इला की शादी उसकी मर्जी के खिलाफ सुशील से कर दी जाती है और वह दूसरे परिवार में आ जाती है। इस परिवार में आकर वह भले ही ऊपर से सुशील की सुखी, संपन्न और समृद्ध पत्नी बन गई, किन्तु भीतर से वह प्रेम के अभाव में दुखी, उदास और निराश थी। आत्मिक प्रेम का आभास पहले उसे मृदुल के मिलने पर हुआ और बाद में मनोज के मिलने पर। लेकिन यह आभासी दुनिया तब जलकर भस्म हुई, जब इस प्रेम का पता पति सुशील को चल गया। पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था में कोई भी पति अपनी पत्नी के प्रेम प्रकरण को कैसे स्वीकार कर सकता है? सुशील ने इला के प्रति अपना व्यवहार कठोर किया और इला से उसका रिश्ता टूटने लगा। एक घर में रहते हुए ही वह तटस्थ रहने लगा, पाँच–छह दिन दोनों की भेंट तक नहीं होती। घर में रहते हुए भी उसे इला की आवश्यकता नहीं रह गई थी। आखिरकार एक दिन उसने बड़ी निर्दयता से इला को अपना स्वतंत्र रास्ता बनाने और अपने प्रेमी के पास जाने के लिए कह दिया। इला उसके सामने रोने–गिड़गिड़ाने लगी और उससे माफी माँगने लगी, लेकिन उसे दया नहीं आई। उसने अपनी पत्नी से तीक्ष्ण शब्दों में कहा, "छिपे–छिपे पत्राचार कर सकती हो? क्यों? तो ऐसी दुश्चरित्र स्त्री के लिए मेरे घर में जगह नहीं। बोलो, तुम कहाँ जाना चाहती हो? मुझसे जो होगा आर्थिक सहायता कर दूँगा। किन्तु मेरा साथ छोडो, मैं अधिक नहीं सह सकता"। परिणाम स्वरूप इला को मजबूरन अपने पति का घर छोड़ना पड़ा और वह अपने पिता के घर आ गई, किन्तु उसे इस परिवार में भी जगह नहीं मिली। पिता ने उसकी जिम्मेदारी लेने से इनकार कर दिया। अतः उसे अपने पिता का भी घर छोड़ना पड़ा। ये सारे संदर्भ एक स्त्री के पारिवारिक जीवन की मजबूरी, कठिनाई और संघर्ष को दर्शाते हैं।

समाज व्यक्ति और परिवार से ही तो बनता है। प्रस्तुत कहानी में जटिल सामाजिक व्यवस्था और पुरुषप्रधान समाज की जड़ता के कई संदर्भ मिल जाते हैं। पहला संदर्भ यह है कि इस समाज में स्त्री शिक्षा को महत्त्व नहीं दिया जाता और उस पर शादी का बंधन लाद दिया जाता है। इसीलिए इला के माता–पिता उसकी शादी ऐसे समय कर देते हैं, जिस समय में वह पढाई–लिखाई में सफलतापूर्वक आगे बढ़ रही थी। वह इस शादी के खिलाफ है, किन्तु इस समाज में एक स्त्री के विरोध का कोई महत्त्व नहीं है। कहानी का यह वाक्यांश देखिये– "उसके विरोध का मूल्य होता ही क्या? अभिभावकों की इच्छा और समाज के शासन पर ही तो उसका भविष्य निर्भर था"। यह हमारे समाज की वास्तविकता है कि इसमें न केवल स्त्री के साथ दोहरा मानदंड अपनाया जाता है, बल्कि उसकी आशा, आकांक्षा और सपनों को बड़ी निर्ममता से कुचल दिया जाता है। समाज हमेशा से ही स्त्रियों पर नैतिकता के बंधन डालता रहा है। शादीशुदा स्त्रियों पर तो ये बंधन और अधिक सख्ती से लागू होते हैं। इसमें एक बंधन प्रेम का है। शादी के बाद स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी और से प्रेम की कल्पना

भी नहीं कर सकती। यदि कोई शादीशुदा स्त्री प्रेम करने लगे तो उसके मन में समाज का भय बना रहता है। कहानी में भी इला के मन में मृदुल के प्रति प्रेम पलने लगता है, लेकिन इस प्रेम को लेकर उसके मन में समाज का डर भी है। जैसे– "वह चित्रकार होने के साथ गायक भी था। उसके मधुर गीतों और प्रेम–भावना पूर्ण शब्दों से इला प्रभावित हो उठी। उसकी कला के सौंदर्य की गहरी रेखा भावुक इला के हृदय में खिंचने लगी। किन्तु उसके ज्ञान और भावना में, मस्तिष्क और हृदय में द्वन्द्व चलने लगा। ज्ञान ने कहा– यह प्रेम अनुचित है, समाज इसे क्या कहेगा? विवाहिता नारी का प्रेम पति पर केंद्रित होता है। उसे कोई अधिकार नहीं कि वह कोई और स्नेही, मित्र, सखा बनाकर प्यार लुटाती चले"। हमारा समाज स्त्री के व्यक्ति स्वातंत्र्य की बात नहीं करता और पुरुषों के लिए कोई भी सामाजिक बंधन नहीं होते हैं। उनके मन में समाज का भय नहीं होता है इसलिए सुशील अपनी पत्नी को व्यंग्यात्मक भाषा में कहता है, "इला, यह बिलकुल साफ बात है। तुम में क्यों नहीं इतना साहस होता? समाज से डरती हो? वह कुछ न करेगा। वह सिर्फ डरने वालों को डराता है। हमारे तुम्हारे जीवन में अभिन्नता न स्थापित हो सकी तो बेहतर होगा कि अपने जीवन को नष्ट होने से तो बचा लो"। सुशील का यह कथन समाज में स्त्री की दीन, दुर्बल और लाचार स्थिति का परिचायक है। सुशील अपनी पत्नी को त्याग देता है।

यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक परित्यक्ता स्त्री का समाज में कोई स्थान नहीं होता है। इसका प्रमाण यह है कि इला के पिता अपनी बेटी को घर में जगह नहीं देते इसीलिए पुरुष प्रधान समाज का यथार्थ उजागर करते हुए इला कहती है, "पति–परित्यक्ता स्त्री का कोई नहीं। पापा ने कहा घर–वर अच्छा देखा, पढ़ा–लिखा कर ब्याह दिया। अब पति से बने न बने, हम उसके जिम्मेदार नहीं। तो बताओ न हेमा, मैं क्या करूँ? उनकी शरण में जाने के सिवा और क्या उपाय है? जीविका हम स्त्रियों के लिए इतनी सुलभ तो नहीं है?"। समाज ने स्त्री को अबला, बेसहारा, दुर्बल और कमजोर बनाये रखा है। उसने कभी भी स्त्री को समानता का भागीदार नहीं समझा और उसके विकास में बाधक बनता रहा है। कहानी के ये सारे पारिवारिक एवं सामाजिक संदर्भ पुरुष प्रधान समाज की न केवल असलियत, अमानवीयता, असंवेदनशीलता और असंवैधानिकता को उजागर करते हैं, बल्कि उसकी अनावश्यकता और अप्रासंगिकता को भी रेखांकित करते हैं।

6.6.2 स्त्री विमर्श

कहानी लेखन के क्षेत्र में सर्वप्रथम स्त्री विमर्श के बीज बोने का नेक कार्य सुमित्रा जी ने किया है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। स्त्री विमर्श में एक ओर जहाँ स्त्री के दुःख, दर्द और पीड़ा की अभिव्यक्ति की जाती है, वहीं दूसरी ओर उसके संवैधानिक अधिकारों की माँग भी की जाती है। स्त्री विमर्श में स्त्री विद्रोह को विशेष स्थान मिलता है, क्योंकि इससे ही समाज में मौजूद गैरबराबरी, भेदभाव और असामनता के खिलाफ आवाज उठाई जाती है। स्त्री विमर्श के सारे तत्वों का निर्वाह यह कहानी करती है। प्रस्तुत कहानी में एक ऐसा समाज है, जो स्त्री को न केवल अपने अधिकारों से वंचित रखता है, बल्कि उसे कमजोर, दुर्बल और लाचार भी कर देता है। समाज की स्त्री–पुरुष में भेदभाव वाली नीति का पर्दाफाश इस कहानी में बड़ी शिद्दत से किया गया है।

प्रस्तुत कहानी स्त्री के बुनियादी अधिकारों की माँग करती है। शिक्षा देश के हर नागरिक का संवैधानिक अधिकार है। यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि शिक्षा ही उन्नति का मूल है इसीलिए स्त्री को भी शिक्षा का सुअवसर मिलना चाहिए। शिक्षा से वंचित स्त्री का

जीवन अविकसित और पराश्रित हो जाता है। परिणाम स्वरूप वह विकास की धारा से दूर हो जाती है और पुरुषों की गुलामी करने के लिए मजबूर होती है। विडंबना है कि हमारे देश में स्त्री से शिक्षा का बुनियादी अधिकार छीन लिया जाता है और उन्हें न चाहते हुए भी विवाह के बंधन में बाँध दिया जाता है। इस कहानी की नायिका इला है, जो दसवीं कक्षा में प्रथम दर्जे में पास होने के बावजूद आगे की पढ़ाई से वंचित रह जाती है क्योंकि वह एक स्त्री है और स्त्री को पढ़ाई से ज्यादा अपनी शादी की चिंता करनी चाहिए ऐसी हमारे समाज की मान्यता बन गई है। इला को अपने माता—पिता की आज्ञा का पालन करते हुए अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर मजबूरन शादी करनी पड़ती है। पढ़ाई छोड़ने के परिणाम स्वरूप वह पति पर आश्रित हो जाती है और उसे इसका अहसास तब होता है, जब पति उसे घर छोड़ने के लिए कहता है और आर्थिक मदद करने की बात कहकर उसकी आर्थिक दुर्बलता को दर्शाता है। पति — परित्यक्ता इला अपने पिता के घर में भी बोझ बन जाती है। कहा जा सकता है कि शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है, जो व्यक्ति को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाता है। इला अपने जीवन के अनुभवों से सीखकर आगे बढ़ती है और अपने आप को आत्मनिर्भर बनाकर स्त्री सशक्तीकरण का संदेश देती है, "उसकी नसों में उत्तेजना का रक्त दौड़ा। उसे रास्ता बनाना है। अब वह किसी की सहायता के लिए हाथ न पसारेगी। और तभी अपने बचे—कुचे रूपये के बल पर पिता के घर से अलग हो इला एक प्रगतिशील मासिक पत्रिका की संपादिका और संचालिका हो गई। आज वह जान गई, समझ गई है कि समाज के विधानों की जंजीर से जकड़ी हुई नारी जब तक अपने बंधन आप नहीं काटती कोई शक्ति उसका सर्वनाश होने से नहीं बचा सकती"। जाहिर है कि शिक्षा के अभाव से स्त्री जीवन नष्ट होता है। शिक्षा के महत्त्व का बोध करना स्त्री विमर्श का एक पहलू है।

इस कहानी में स्त्री जीवन के एक अत्यंत संवेदनशील पहलू को उठाया गया है और वह है— प्रेम का अधिकार। लेकिन विडंबना यह है कि पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की इन कोमल भावनाओं की कोई कद्र नहीं होती है। इतना ही नहीं उसे प्रेम करने की सजा भुगतनी पड़ती है। परिणाम स्वरूप उसके मन में समाज के प्रति विद्रोह की भावना जगती है और वह कठोर होकर अपने प्रेम की आलोचना करती है। प्रस्तुत कहानी में इला भी अपने प्रेम की समीक्षा करती है, "आज उसकी आलोचनात्मक वृत्तियाँ जाग उठीं। आज वह उनके संबंध की एक—एक घटना, एक—एक बात, उनके शारीरिक, मानसिक सौंदर्य की पर्यालोचना करने लगी। इला के हृदय में न जाने कितने द्वंद्व, उलझन का संसार लिए उठ पड़े। कैसा था उसका जीवन, नैराश्य की मरुभूमि को छूता हुआ! कैसी थी उसमें प्रेम की करुण विडंबना, दारुण कृत्रिमता के पीछे सहानुभूति की कुचली हुई आकांक्षा"। निःसंदेह कहा सकता है कि जहाँ एक ओर स्त्री के पास कोमलता, सहृदयता और संवेदनशीलता होती है, वहीं दूसरी ओर उसमें कठोरता, निडरता और साहस भी होता है। इस कहानी में स्त्री के इन दोनों पक्षों से साक्षात्कार होता है।

बोध प्रश्न 3

1) 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी में पारिवारिक संबंधों का सटीक चित्रण हुआ है, विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

2) 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी के सामाजिक सन्दर्भों को उजागर कीजिए।

....

....

....

....

3) 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी स्त्री विमर्श को बल प्रदान करती है, विश्लेषण कीजिए।

....

....

....

....

6.7 सुमित्रा कुमारी की वैचारिकी और जीवन दृष्टि

सुमित्रा कुमारी सिन्हा प्रगतिशील विचारधारा की एक प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। उन्होंने जहाँ एक ओर स्वाधीनता संग्राम से जुड़कर अपनी राष्ट्रीय चेतना का परिचय दिया, वहीं दूसरी ओर पुरुष प्रधान सामाजिक संरचना के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करके अपने सामाजिक सरोकार का प्रमाण दिया। वह जटिल सामाजिक संरचना को स्त्री की अधोगति का कारण मानती हैं। उनकी मान्यता है कि स्त्री को खुद ही सामाजिक बंधनों को तोड़कर अपने विकास का पथ खोजना होगा। उनके समस्त साहित्य के केंद्र में नारी चेतना रही है। कहानी विधा में तो वह स्त्री विमर्श की पुरोधा मानी जाती हैं। उनकी कहानियों में न केवल स्त्री जीवन के शोषित, पीड़ित और दमित पहलुओं का शब्दांकन होता है, बल्कि उसके निडर, साहसी और विद्रोही रूप का भी बिम्बांकन मिलता है। उनके स्त्री चरित्र घर, परिवार, समाज और संस्कृति की मान्यताओं एवं मर्यादाओं का पालन करते हैं और जब यही मान्यताएँ जड़ होकर स्त्रियों को कमजोर करने लगती हैं, तो ये स्त्री चरित्र विद्रोही रूप धारण कर लेते हैं। इन स्त्रियों का विद्रोह– अन्याय, अत्याचार और गुलामी के खिलाफ है। इनके पात्रों का विद्रोह सब कुछ तहस–नहस करने के लिए नहीं है, बल्कि उनमें संघर्ष की प्रधानता है और अपने बुनियादी अधिकारों की उचित माँग है। सुमित्रा जी स्त्री–पुरुष समानता की पक्षधर हैं। ये उन रचनाकारों में से नहीं हैं, जो पुरुष विरोध की अंधी दौड़ में शमिल थे। उनकी यह विशेषता ही उन्हें उनके समकालीन रचनाकारों से अलग, असाधारण और विशिष्ट बना देती है।

सुमित्रा कुमारी सिन्हा का जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रहा है इसीलिए उनकी कहानी के स्त्री पात्रों में जिजीविषा की कोई कमी नहीं है। वे विपरीत परिस्थितियों में भी जीने का हुनर रखती हैं। इसका बेहतरीन उदाहरण 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी की मुख्य चरित्र इला है। इला के जीवन में चार पुरुष आते हैं, लेकिन उनमें से कोई भी कठिन समय में इला का साथ नहीं देता। बावजूद इसके इला जीवन से हार नहीं मानती और अपने जीवन को बेहतर बनाने की जद्दोजहद करती है। उसका जीवन संघर्ष विकट स्थितियों से घिरे व्यक्ति के लिए बड़ी प्रेरणा है।

6.8 'व्यक्तित्व की भूख' की प्रासंगिकता

'व्यक्तित्व की भूख' कहानी आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि इसमें स्त्री की शिक्षा और प्रेम जैसे ज्वलंत मुद्दों को उठाया गया है। यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज भी इस देश की लड़कियों को अपनी शिक्षा बीच में छोड़कर माता-पिता के दबाव में शादी करनी पड़ती है, इला की तरह। आज भी हमारे समाज में न जाने कितनी ही इला जैसी लड़कियाँ हैं, जो सामाजिक बंधनों में बँधकर अपने जीवन को नष्ट कर रही हैं। उनसे शिक्षा का अधिकार छीना जा रहा है। शिक्षा से वह अपने आपको आत्मनिर्भर कर सकती हैं, लेकिन मर्यादाओं के पालन के नाम पर उन्हें पराश्रित रखा जा रहा है। यह सामाजिक मर्यादा ही उनके विकास में बाधा बन रही है और उन्हें कमजोर भी बना रही है। शिक्षा के महत्त्व को प्रतिपादित करने के कारण इस कहानी की प्रासंगिकता बढ़ जाती है।

प्रेम जीवन का सबसे कोमल पक्ष है। प्रेम से ही मनुष्य का जीवन सुंदर, सरस और आनंदपूर्ण होता है इसीलिए प्रेम मनुष्य की आवश्यकता ही नहीं है, अनिवार्यता भी है। लेकिन विडंबना है कि हमारे समाज में स्त्री के प्रेम को प्रतिबंधित किया जाता है। उसके प्रेम की भावना का सम्मान करने के बजाय उसे कुचलने का प्रयास किया जाता है। खासकर जब यह प्रेम शादीशुदा औरत का हो तो समाज में भूचाल आ जाता है। इसका बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत कहानी की नायिका इला है। वह शादी के बाद भी मृदुल और मनोज से प्रेम करती है। यह पति को सहन नहीं होता है और वह उसे त्याग देता है। आज भी हमारे समाज में पति-परित्यक्ता एक गंभीर समस्या बन कर खड़ी है। आज भी स्त्री के प्रेम का स्वीकार नहीं किया जाता है। प्रेम की इतनी वर्जना शायद ही विकसित देशों में हो! इस मामले में आज भी हम वहीं खड़े हैं, जिस समय में इला हुई थी। हम इस क्षेत्र में कुछ भी आगे नहीं बढ़ पाए हैं इसीलिए यह कहानी और ज्यादा प्रासंगिक लगती है।

बोध प्रश्न 4

1) सुमित्रा कुमारी सिन्हा की विचारधारा पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

2) 'व्यक्तित्व की भूख' कहानी की प्रासंगिकता लिखिए।

....

....

....

6.9 सारांश

सुमित्रा कुमारी सिन्हा हिंदी की सुप्रसिद्ध रचनाकार हैं। उन्होंने कविता और कहानी के क्षेत्र में अपनी कलम चलाई है। वह जितनी सफल कवयित्री हैं, उतनी ही लोकप्रिय कहानीकार

भी रही हैं। उनके तीन कविता संग्रह और दो कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। अपने समस्त साहित्य लेखन में उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। कहानी लेखन परम्परा में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्हें कहानी के क्षेत्र में नारी चेतना की प्रथम रचनाकार माना जाता है।

'व्यक्तित्व की भूख' कहानी का सामजिक और पारिवारिक दृष्टि का पाठ करने पर हम पाते हैं कि स्त्री की प्रगति में सबसे पहले परिवार और समाज बाधा बनकर खड़ा होता है। स्त्री अपने संस्कार, चारित्रिक शुद्धता और मर्यादाओं के नाम पर अपने जीवन को बर्बाद कर देती है। वह अपने अनुभवों से गुजरने के बाद पाती है कि उसकी कोमल भावनाओं को खत्म करने के लिए समाज जिम्मेदार है। वह समाज की आलोचना करने लगती है। सुमित्रा की विचारधारा स्त्री विमर्श को बल प्रदान करती है। स्त्री जीवन की बेबाक अभिव्यक्ति से उनके लेखन की प्रासंगिकता बढ़ जाती है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि सुमित्रा कुमारी सिन्हा एक प्रतिभाशाली साहित्यकार हैं। उन्होंने अपने लेखन से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है और स्त्री विमर्श की जड़ें मजबूत की हैं। उनका साहित्यिक अवदान अविस्मरणीय है और उनके बिना साहित्य का इतिहास अधूरा है।

6.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आधुनिक काल में गद्य की विविध विधाओं का आविर्भाव हुआ, उसमें 'कहानी' भी एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में विकसित हुई है। कथा साहित्य के अंतर्गत कहानी विधा काफी लोकप्रिय हुई। इसकी लोकप्रियता का आधार एक ओर इसका रोचक कथानक है, तो दूसरी ओर इसकी भाषागत सरलता।

2) हिंदी की पहली कहानी कौन–सी है? इस संदर्भ में साहित्येतिहासकारों में एकमत नहीं है। कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' को मानते हैं, तो कुछ विद्वान किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' को मानते हैं। कई विद्वानों का मानना है कि माधवराव सप्रे की 'टोकरी भर मिट्टी' हिंदी की पहली कहानी है, जबकि किसी को बंग महिला की 'दुलाई वाली' पहली कहानी लगती है।

3) हिंदी कहानी लेखन की विकास परंपरा में सुमित्रा कुमारी सिन्हा का विशेष योगदान रहा है। उनके दोनों कहानी संकलन 'अचल सुहाग' (1939 ई.) और 'वर्ष गाँठ' (1942 ई.) इसमें अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सुमित्रा जी के 'अचल सुहाग' में ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं। प्रस्तुत संग्रह की सभी कहानियाँ नारी चेतना से ओतप्रोत हैं इसीलिए सुमित्रा कुमारी सिन्हा को स्त्री विमर्श की बुनियाद खड़ी करनेवाली कहानीकार माना जा सकता है।

4) सुमित्रा कुमारी सिन्हा एक प्रतिभाशाली रचनाकार हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। उन्होंने कविता और कहानी विधा में समान रूप से कलम चलाई है। उनके तीन कविता संकलन प्रकाशित हुए हैं– 'विहाग', 'आशापर्व'

और 'बोलों के देवता'। दो कहानी संग्रह हैं— 'अचल सुहाग' और 'वर्ष गाँठ'। इनकी अन्य रचनाओं में 'पंथिनी', 'प्रसारिका', 'कथा कुंज', 'आँगन के फूल', 'दादी का मटका' आदि उल्लेखनीय हैं।

बोध प्रश्न 2

1) इला एक पढ़ी—लिखी लड़की है। कहानी की शुरुआत ही उसकी काबिलियत से होती है। उसकी काबिलियत का प्रमाणपत्र यह है कि वह मैट्रिक की परीक्षा फर्स्ट डिवीजन से पास हुई है।

2) इला के शादीशुदा जीवन में संतोष नहीं है। वह हमेशा उदास, हताश और निराश रहती है। पति के कॉलेज चले जाने के बाद वह अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए उपन्यास पढ़ने लगती और उसमें अपने जीवन के सूत्र खोजने लगती थी। पति के गुणों से प्रभावित होकर भी उसके हृदय में प्रेम की वैसी अनुभूति उत्पन्न नहीं होती, जैसी कभी संगीत के प्रति अनायास ही हुई थी। निश्चित यह इला के आंतरिक जीवन की व्यथा है, जिसे वह किसी के सामने व्यक्त नहीं करती।

3) इला की मुलाकात मृदुल से अल्मोड़ा में होती है। मृदुल सुशील के दूर का रिश्तेदार है। ये लोग उसी के घर अल्मोड़ा में रुकते हैं। मृदुल को देखकर इला को लगा कि वह उसे कई सालों से जानती है। वह उसकी ओर अनायास ही आकर्षित हो गई। मृदुल चित्रकार होने के साथ गायक भी था। उसके मधुर गीतों से इला बहुत प्रभावित हुई और अपने दिल पर मृदुल की रेखा खींचने लगी।

4) सुशील से शादी टूटने के बाद इला एक परित्यक्ता स्त्री बन जाती है और ऐसी स्त्री का समाज में कोई स्थान नहीं होता। माँ—बाप ने कहा कि शादी करके हमने अपनी जिम्मेदारी निभाई, अब पति से न बने तो हम क्या कर सकते हैं। उसने अपने दोनों प्रेमियों को पत्र लिखा, लेकिन दोनों ने ही उसका साथ देने से इनकार किया। परिणाम स्वरूप इला के मन में अपने समाज के प्रति विद्रोह जाग गया।

बोध प्रश्न 3

1) इस कहानी की शुरुआत में एक परिवार सामने आता है, जिसमें मनोहर बाबू, मालती और उनकी बेटी इला रहती है। यह परिवार भी सामाजिक बंधनों में जकड़ा हुआ है इसीलिए तो माता—पिता को बेटी की मैट्रिक की परीक्षा में मिली सफलता आनंदित नहीं करती, बल्कि उसके विवाह की चिंता सताती है। मनोहर बाबू को तब सुकून मिलता है, जब वह किसी तरह से अपनी बेटी का ब्याह किसी के साथ सुनिश्चित करते हैं। मालती भी अपनी बेटी को शादी करने के लिए मजबूर करती है। अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी स्थितियों में कई बार स्त्री के विकास में विवाह सबसे बड़ी बाधा बन जाता है। इला की शादी उसकी मर्जी के खिलाफ सुशील से कर दी जाती है और वह दूसरे परिवार में आ जाती है। इस परिवार में आकर वह भले ही ऊपर से सुशील की सुखी, संपन्न और समृद्ध पत्नी बन गई, किन्तु भीतर से प्रेम के अभाव में दुखी, उदास और निराश थी। ये सारे संदर्भ एक स्त्री के पारिवारिक जीवन की मजबूरी, कठिनाई और संघर्ष को दर्शाते हैं।

2) प्रस्तुत कहानी में जटिल सामाजिक व्यवस्था और पुरुषप्रधान समाज की जड़ता के कई संदर्भ मिल जाते हैं। इस समाज में स्त्री शिक्षा को महत्त्व नहीं दिया जाता और उस पर शादी का बंधन लाद दिया जाता है इसीलिए इला के माता—पिता उसकी शादी ऐसे समय कर देते हैं, जिस समय में वह पढ़ाई—लिखाई में सफलतापूर्वक आगे बढ़ रही थी। वह इस शादी के खिलाफ है, किन्तु इस समाज में एक स्त्री के विरोध का कोई महत्त्व नहीं है। समाज हमेशा से ही स्त्रियों पर नैतिकता के बंधन थोपता रहा है। शादीशुदा स्त्रियों पर तो ये बंधन और अधिक सख्ती से लागू होते हैं। इसमें एक बंधन प्रेम का है। शादी के बाद स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी और से प्रेम की कल्पना भी नहीं कर सकती। यदि कोई शादीशुदा स्त्री प्रेम करने लगे तो उसके मन में समाज का भय बना रहता है। प्रस्तुत कहानी में भी इला के मन में मृदुल के प्रति प्रेम भावना पलने लगती है, लेकिन उसके इस प्रेम संबंध पर समाज का डर मंडराता है।

3) प्रस्तुत कहानी स्त्री के बुनियादी अधिकारों की माँग करती है। शिक्षा देश के हर नागरिक का संवैधानिक अधिकार है इसीलिए स्त्री को भी शिक्षा का सुअवसर मिलना चाहिए। इस कहानी की नायिका इला है, जो दसवीं कक्षा में प्रथम दर्जे में पास होने के बावजूद आगे की पढ़ाई से वंचित रह जाती है, क्योंकि वह एक स्त्री है और स्त्री को पढ़ाई से ज्यादा अपनी शादी की चिंता करनी चाहिए ऐसी हमारे समाज की मान्यता बन गई है। इला को अपने माता—पिता की आज्ञा का पालन करते हुए अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर मजबूरन शादी करनी पड़ती है। पढ़ाई के छोड़ने के परिणाम स्वरूप वह पति पर आश्रित हो जाती है। उसे इसका अहसास तब होता है, जब पति उसे घर छोड़ने के लिए कहता है और आर्थिक मदद करने की बात कहकर उसकी आर्थिक दुर्बलता को दर्शाता है। जाहिर है कि शिक्षा के अभाव से स्त्री जीवन नष्ट होता है। शिक्षा के महत्त्व का बोध करना स्त्री विमर्श का एक पहलू है। जहाँ एक ओर स्त्री के पास कोमलता, सहृदयता और संवेदनशीलता होती है, वहीं दूसरी ओर उसमें कठोरता, निडरता और साहस भी होता है। सुमित्रा जी की कहानी 'व्यक्तित्व की भूख' में स्त्री के इन दोनों पक्षों से साक्षात्कार होता है।

बोध प्रश्न 4

1) सुमित्रा कुमारी सिन्हा प्रगतिशील विचारधारा की प्रसिद्ध रचनाकार हैं। उन्होंने जहाँ एक ओर स्वाधीनता संग्राम से जुड़कर अपनी राष्ट्रीय चेतना का परिचय दिया, वहीं दूसरी ओर पुरुष प्रधान सामजिक संरचना के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करके अपने सामाजिक सरोकार का प्रमाण दिया है। वह जटिल सामाजिक संरचना को स्त्री की अधोगति का कारण मानती हैं। उनकी मान्यता है कि स्त्री को खुद ही सामाजिक बंधनों को तोड़कर अपने विकास का पथ खोजना होगा। उनके समस्त साहित्य के केंद्र में नारी चेतना रही है। कहानी विधा में तो वह स्त्री विमर्श की पुरोधा मानी जाती हैं।

2) इसमें स्त्री की शिक्षा और प्रेम जैसे ज्वलंत मुद्दों को उठाया गया है। आज भी हमारे समाज में न जाने कितनी ही इला जैसी लडकियाँ हैं, जो सामाजिक बंधनों में बंधकर अपने जीवन को नष्ट कर रही हैं। उनसे शिक्षा का अधिकार छीना जा

रहा है। शिक्षा के महत्त्व को प्रतिपादित करने के कारण इस एकांकी की प्रासंगिकता बनी हुई है। प्रेम मनुष्य की आवश्यकता ही नहीं है, अनिवार्यता भी है। लेकिन विडंबना है कि हमारे समाज में स्त्री के प्रेम को प्रतिबंधित किया जाता है। इसका बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत कहानी की नायिका इला है। वह शादी के बाद भी मृदुल और मनोज से प्रेम करती है। यह पति को सहन नहीं होता है और वह उसे त्याग देता है। प्रेम की इतनी वर्जना शायद ही विकसित देश में हो! इस मामले में आज भी हम वहीं खड़े हैं, जिस समय में इला हुई थी। हम इस क्षेत्र में कुछ भी आगे नहीं बढ़ पाए हैं इसीलिए यह कहानी और ज्यादा प्रासंगिक लगती है।

अभ्यास

1. प्रस्तुत कहानी की अंतर्वस्तु का विकास इला के मन में उठनेवाली निर्विकार और निश्छल प्रेम की भावना से होता है। उसके हृदय में 'संगीत' के लिए प्रेम की भावनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। 'संगीत' इला के पड़ोस में रहनेवाले लड़के का नाम है। उसकी उम्र अठारह–उन्नीस वर्ष है और वह देखने में भी सुंदर है। फिलहाल उसने मैट्रिक की परीक्षा पास करके कॉलेज में प्रवेश लिया है। इन दिनों उसका इला के घर आना–जाना काफी बढ़ गया है। आज वह इला को मैट्रिक की परीक्षा पास होने पर बधाई देने आया है और उसने इला के साथ शरारत करते हुए उस पर गमले से एक गुलाब का फूल तोड़कर फेंक दिया। पहले तो इला चौंक गई, किन्तु बाद में हँसने लगी। वह संगीत के साथ खुलकर बातें करती और खूब सारा हँसी–मजाक भी करती। स्पष्ट है कि यह इला के मन की पहली प्रेम भावना है। दरअसल, किसी भी व्यक्ति के हृदय में अंकुरित होनेवाली यह भावना बहुत कोमल, ताजगी से भरी हुई और सात्विक होती है। इसका सम्मान करना चाहिए। लेकिन विडम्बना यह है कि स्त्री की इस भावना की कद्र किये बिना ही उस पर किसी अजनबी पुरुष के साथ जिंदगी बिताने और शादी करने का दबाव बनाया जाता है। इला भी इस रूढ़िवादिता की शिकार हुई और उसकी मर्जी के खिलाफ विवाह की स्थिति निश्चित हुई। परिणाम स्वरूप इला को अपने प्रथम प्रेम की आहुति देनी पड़ती है और अपनी मर्जी के खिलाफ जाकर सुशील से शादी करनी पड़ती है।

2. इसका उत्तर कहानी पढ़कर अपनी भाषा में लिखने का प्रयास करें।